भारत में न्यायिक सक्रियता : अवधारणा, क्रियान्वयन एवं जनहित के प्रश्नों का समाधान

The Judicial Activism in India : Concept, Implementation and Resolution of the Questions of the Public Interest

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

के समाज विज्ञान संकाय के अधीन

पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोध निर्देशिका

डॉ. हेमलता आंकोदिया

(व्याख्याता)

राजनीति विज्ञान विभाग

शोधार्थी

तरूणा मीणा

छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग

राजकीय महाविद्यालय,

राजनीति विज्ञान विभाग

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

2016

डॉ. हेमलता आंकोदिया
(व्याख्याता) राजनीति विज्ञान विभाग
एस.आर.के.पी. स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, किशनगढ़,
अजमेर, (राजस्थान)

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **तरूणा मीणा** द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **''भारत में न्यायिक सक्रियता : अवधारणा, क्रियान्वयन एवं जनहित के प्रश्नों का समाधान''** मेरे मार्गनिर्देशन एवं पर्यवेक्षण में लिखा गया है, शोध कार्य मौलिक एवं उच्चस्तरीय है। शोधार्थी ने मेरे निर्देशन में प्रतिवर्ष 120 कार्य दिवसों में शोध अध्ययन हेतु उपस्थित रहकर शोध कार्य किया।

मैं, इस शोध प्रबन्ध को समाज विज्ञान संकाय, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान) से पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करती हूँ।

स्थान :

दिनांक :

शोध निर्देशिका

डॉ. हेमलता आंकोदिया

(व्याख्याता)

राजनीति विज्ञान विभाग

आभार प्रसून

जीवन के विभिन्न सोपानो में व्यक्ति सदैव किसी से भी कुछ न कुछ अवश्य सीखता है। यह अनुभव बचपन से अभी तक मुझे प्राप्त हो रहा है। उच्च शिक्षा में अध्ययन एवं शोध की जिज्ञासा गुरुजनों के आशीर्वाद का फल है। इस शोध प्रबन्ध में जिनका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग रहा है, उन्हे स्मरण करना मेरी सहज स्वाभाविक वृति की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। सर्वप्रथम मैं ईश्वर के चरण कमलों में नमन करते हुए उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा ने मुझे शोध कार्य के योग्य बनाया। उनकी कृपादृष्टि से ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सम्भव हो सका है।

प्रस्तुत शोध में अनेक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हुआ है। उन सभी का नाम उल्लेख करना संभव नही है। फिर भी उनमें से कतिपय व्यक्ति ऐसे है जिनको कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना पावन कर्तव्य समझती हूँ। प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण करने में जिन विद्वतजन गुरुजनों का निर्देशन और स्नेह सान्निध्य व सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। उनका हार्दिक आभार प्रकट करना अपना पुनीत कार्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम इस शोध–प्रबन्ध की निर्देशिका लब्ध प्रतिष्ठित, यशस्वी, सिद्धहस्त, राजनीति विज्ञान की विदुषी उदात ह्रदय **डॉ. हेमलता आंकोदिया** व्याख्याता, राजकीय विज्ञान विभाग, एस.आर.के.पी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, किशनगढ़ अजमेर, राजस्थान) के प्रेरक नेतृत्व व आत्मीय निर्देशन में कार्य सम्पन्न किया है, उनके विद्वता पूर्ण सुझाव, रचनात्मक प्रवृति, संवेदनशील भाषा ज्ञान एवं प्रेम पूर्ण प्रोत्साहन के लिए मैं सह्रदय से आभार प्रकट करती हूँ। प्रस्तुत शोधकार्य आपके अर्न्तदृष्टि एवं आशीर्वाद का ही प्रतिफल है।

राजकीय महाविद्यालय, कोटा के राजनीति विज्ञान विभाग की विभागाध्यक्ष **डॉ. मंजू मालव** की ह्रदय से आभारी हूँ, जिनके कुशल मार्गदर्शन, उदारतापूर्ण

प्रोत्साहन एवं अनवरत कृपा दृष्टि से यह शोध कार्य अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त कर सका हैं।

तदोपरान्त बहुमुखी प्रतिभा के धनी शोध अध्ययन के आधार स्तम्भ एवं प्रेरक, मार्गदर्शक, **परमश्रद्धेय मेरे पूजनीय पिताजी डॉ. राधाकृष्ण मीणा (सेवानिवृत प्राचार्य, कॉलेज शिक्षा विभाग) एवं मेरी दिवगंत माता कमला देवी मीणा,** जिन्होंने निराशा के क्षणों में मुझे हर पल आशीर्वाद प्रदान किया, उनकी उदारता एवं प्रोत्साहन मेरे सतत् सहयोगी रहे हैं। इस शोध कार्य हेतु मेरे प्रेरणा स्त्रोत व सहायक बनकर सदैव मुझ पर अपने ममत्व व वात्सल्य से परिपूर्ण मेरा अविस्मरणीय सहयोग करते रहे हैं उन्हीं के वरद आशीर्वाद से यह शोध कार्य सम्पन्न हुआ है। साथ ही साथ मै अपने **अग्रज भ्राता नीरज मीणा (आयकर विभाग), अनुज अक्षय मीणा (आश्रुलिपिक, श्रम मंत्रालय) तथा अनुजा कुसुम मीणा (आश्रुलिपिक, लोकसभा) तथा अदिति** को भी बिल्कुल नहीं भूल सकती जिन्होने मुझे सदैव अध्ययन के लिए प्रेरित किया व सहयोग प्रदान किया।

शोध अध्ययन में जिनके प्रयासों ने मुझे नया जीवन दिया है, वे हैं मेरे **पति एस.एस. मीणा** जिनका उत्साहवर्धक, प्रेरक, अद्वितीय, समर्थ, त्यागमय सहयोग रहा है, जो जीवन पर्यन्त स्मरणीय रहेगा। शोध कार्य के दौरान मुझे हमेशा सकारात्मक ऊर्जावान बनाये रखने में **मेरी नन्ही परी ''प्लाक्षा'' को** स्नेह प्रकट करती हूँ, जिसने शोध कार्य करते वक्त अपनी नटखट बाल सुलभ चेष्टाओं तथा मुस्कान से हर वक्त मुझे प्रसन्न रखकर शोध में रूचि प्रदान की है।

मुझे अपने शोध कार्य में परम मित्र **रवि यादव, अविनाश मीणा, श्रवण कुमार** जिन्होंने इस मंजिल तक पहुंचाने में मेरा समय–समय पर साथ दिया, उनके प्रति श्रृद्धाभाव व्यक्त करना मैं अपना दायित्व समझती हूँ और कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

शोध कार्य में अपने मूल्यवान सुझावों से लाभान्वित करने वाले तथा अन्य किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सहयोग देने वाले सभी विद्वानों, महानुभावों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ।

मैंने शोध प्रबन्ध की सामग्री, सूचनाओं, अनेक मत एवं अभिव्यक्तियों को विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त किया है। जिनका मैं आभार व्यक्त करती हूँ। कोटा विश्वविद्यालय, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान, केन्द्रीय पुस्तकालय राजस्थान विश्वविधालय (जयपुर), राधाकृष्णन पुस्तकालय (जयपुर), जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय (दिल्ली), दिल्ली विश्वविद्यालय (दिल्ली), विधानसभा पुस्तकालय (जयपुर), राजस्थान सूचना आयोग के विभिन्न विभागो के अधिकारियों व कर्मचारियों की विशेष रुप से आभारी हूँ जिन्होने मुझे इस शोध कार्य हेतु आवश्यक सामग्री एवं आंकड़े उपलब्ध कराये।

इस शोध प्रबन्ध की सुन्दर प्रस्तुति, शब्दों के विन्यास, स्पष्टता एवं समय पर पूर्ण करने हेतु सुरेन्द्र चौधरी, आबिद खान का भी आभार प्रकट करती हूँ।

शोध कार्य अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक अनुष्ठान के समान है, जिसमें कई स्त्रोतों से सहयोग सुलभ होता है। मैं उन सभी के प्रति आभारी हूँ जिन्होने शोध प्रबन्ध को संग्रहित संकलित कर विवेचित किया।

शोधार्थी

तरूणा मीणा

आमुख

न्याय समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था है। न्याय की अवधारणा न केवल सामाजिक व्यवस्था को नियन्त्रित करने वाली आन्तरिक श्रृंखला है, वरन् व्यक्ति की बाहरी दबावों से रक्षा करना है। न्याय को मानव उद्‌भव के साथ समाज का आवश्यक अंग माना गया है। न्याय का सिद्धान्त अन्याय, हिंसा, शोषण, भेदभाव एवं दमन के विरूद्ध है और इसीलिए मानव सभ्यता एवं न्याय की अवधारणा का विकास सहगामी है। अतः न्याय की इस अवधारणा को सामाजिक व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता। समाज में न्याय का सम्बन्ध न केवल राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक न्याय से है, वरन् व्यक्ति की स्वतन्त्रता से भी है, जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था में व्यक्ति के नैसर्गिक विकास एवं मानव गरिमा के लिए आवश्यक है।

अतः समाज में न्याय का कार्य बहुत ही कठिन है। न्याय में दूध का दूध और पानी का पानी करना पड़ता है। प्रसिद्ध विचारक **रस्किन** ने कहा भी है कि **''हम प्रेम का दरिया बहा सकते है, पर न्याय के नाम पर हमारी नानी मर जाती है।''**

भारतीय समाज के विकास का सपना ब्रिटिश शासन के अधर्म एवं अन्याय से संघर्ष करते हुए न्याय रूपी स्वतंत्रता के साथ शुरू हुआ। इन सपनों को संजोये रखने के लिए भारतीय संविधान का निर्माण उनके भविष्य का निर्णय था। अतः भारत का संविधान जन–जन की आंकाक्षाओं के प्रतीक के रूप में उभरा जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिल सके। संविधान के भाग III और भाग IV में क्रमशः मूलभूत अधिकारों तथा नीति निदेशक सिद्धान्तों का समावेश है, जो समाजवादी लक्ष्य की ओर इंगित करते है। संविधान की सर्वोपारिता अपनाये रखने के लिए न्यायालय संरक्षक की भूमिका निभाता हैं और नागरिकों के मूल अधिकारों का सजग प्रहरी माना गया हैं।

सभ्यता के प्रादुर्भाव से ही मानव में न्याय प्राप्ति की लालसा रही हैं। संघ–राज्यों में ही नहीं अपितु प्रत्येक सभ्य राज्य में मौलिक अधिकारों के संरक्षण हेतु एक स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता होती है। संघ राज्य में स्वतंत्र

न्यायपालिका की आवश्यकता इसीलिए बढ़ जाती हैं। कि इसमें संघ सरकार और इकाई (राज्य) की सरकारों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है क्रियात्मक स्तर पर केन्द्र–राज्य या राज्य–राज्य संबंधों में विवाद पर न्यायिक निर्णय आवश्यक हो जाता है। न्यायपालिका देश में संविधान की रक्षक होती हैं।

प्रत्येक लोकतान्त्रिक व्यवस्था के तीन महत्वपूर्ण अंगों–विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में से न्यायपालिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जनतांत्रिक व्यवस्था में संवैधानिक मर्यादा की रक्षा करने तथा संवैधानिक विकास में न्यायपालिका की प्रमुख भूमिका होती है। पारम्परिक रूप से शासन के दो अन्य अंगों–व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की स्वेच्छाकारी प्रवृति या निष्क्रियता पर अंकुश रखते हुए सामान्य नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना तो न्यायपालिका का सामान्य दायित्त्व तो है ही, परन्तु कई संदर्भों में न्यायपालिका राजनीतिक व्यवस्था की प्रवृतियों, रूझानों एवं दिशाओं की निर्णायक भी हो जाती है। कुछ महत्त्वपूर्ण मसले एवं निर्णय राज–व्यवस्था के अस्तित्व के आधार बन जाते हैं। अमरीकी राजव्यवस्था में संघीय शासन का वर्चस्व स्पष्ट है, जो वहां के न्यायिक निर्णयों के कारण ही सम्भव हुआ। अन्यथा संविधान की मूल भावना इकाई राज्यों को अधिक प्रभावी व शक्तिशाली देखने की रही थी।

दक्षिण एशिया के प्रमुख देश भारत जैसे विकासशील देश में मत भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि यहाँ राजनीतिक और सामाजिक जागृति व जनतंत्रीकरण इंग्लैण्ड, फ्राँस आदि यूरोपीय देशों की भांति सामान्य जन–आन्दोलनों का परिणाम नहीं हैं, अपितु अशिक्षित–पिछड़ी जनता के प्रतिनिधि के रूप में स्वतन्त्रता आंदोलन तथा राजनेताओं के प्रयासों के परिणाम हैं। ऐसे में बहुधा सामान्य जनता स्वेच्छाकारी प्रवृतियों के विरूद्ध प्रजातंत्र की सक्षम प्रहरी नहीं हो पाती। यह दायित्व तब प्रबुद्ध राजनीतिक वर्ग के अलावा न्यायपालिका पर आ जाता है। भारत में समय–समय पर न्यायपालिका ने यह भूमिका प्रशंसनीय रूप से अदा की हैं। पिछले डेढ़ दशक में न्यायपालिका ने आगे बढ़कर व्यवस्थापिका के साथ–साथ कार्यपालिका के निर्णयों की भी समीक्षा की हैं, जिसे **न्यायिक सक्रियता** के रूप में जाना जाता है।

स्वतंत्रता के लगभग दो दशक पश्चात् राजनेताओं का दृष्टिकोण समाजहित से व्यक्तिगत हित में परिवर्तित होने के परिणामस्वरूप वे राजनीति को सत्ता लोलपुता एवं धन कमाने का साधन मान बैठे हैं। परिणामस्वरूप अनेक विकराल समस्याओं ने जन्म लिया, जिनमें राजनीतिक भ्रष्टाचार, प्रान्तवाद, जातिवाद, भाषावाद तथा प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता के कारण सामाजिक न्याय का सिद्धान्त विफल होते दिखाई दिया।

अतः वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से जूझते हुए लोगों का सन् 1975 में भारतीय न्याय प्रणाली पर कुछ सक्रिय न्यायधीशों का ध्यान अमेरिका की लोकहित विधि की तरफ गया। यह नवीन जनहितवाद की संकल्पना परम्परागत सुनवाई के अधिकार का विकल्प था। जिसके परिणामस्वरूप जन साधारण को सामूहिक रूप में न्याय दिलाना प्रारम्भ हुआ।

यह जानने के लिए कि न्यायिक सक्रियता ने संवैधानिक और राजनीतिक विकास को कैसे प्रभावित और नियमित किया है? ताकि जन–भावनाओं का सम्मान भी हो तथा राजनीतिक व्यवस्था पर अनावश्यक दबाव भी न पहुँचे। प्रस्तुत शोध में इसी उद्देश्य के न्यायिक सक्रियता के विभिन्न पहलुओं एवं राजनीतिक व्यवस्था के लिए संभावित परिणामों के अध्ययन का उपक्रम किया गया है तथा शासन में संस्थाकरण मौलिक अधिकार, संघात्मक प्रक्रिया व पर्यावरण आदि विषयों के सम्बन्ध में दृष्टगत न्यायिक भूमिका का विशेष अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत शोध में इस बात पर अत्यधिक बल दिया जायेगा कि न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद में सामाजिक न्याय की प्राप्ति में न्यायपालिका की भूमिका को कितना आवश्यक बना दिया है? क्या न्यायपालिका को इसी प्रकार न्यायिक सक्रियता के क्षेत्र में अपनी भूमिका निभाने एवं जनहित सम्बन्धी मामलों में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से आगे बढकर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए? या फिर ऐसी कोई सीमा रेखा निर्धारित की जानी चाहिए, जहां तक सक्रियता की प्रवृति अपनाना उचित माना जाए?

प्रस्तुत शोध में उन बिन्दुओं पर भी प्रकाश डाला जायेगा, जो न्यायिक सक्रियता की उत्पति के बाद व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका में विवाद एवं टकराव के विषय बने हुए हैं तथा जिसके कारण शासन के ये दोनों स्तम्भ कई बार

आमने–सामने आ चुके हैं तथा यह भी पता लगाने का प्रयास किया जायेगा कि सामाजिक न्याय की प्राप्ति में व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका दोनों एक साझा दृष्टिकोण अपना सके तथा अपने–अपने क्षेत्र में अपनी भूमिका का निर्वहन पूरी ईमानदारी व कर्त्तव्यपरायणता के साथ कर सकें।

प्रस्तुत शोध में न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा विभिन्न मामलों में सुनाये गये निर्णयों की सन् 1990 से लेकर 2015 तक सुव्यवस्थित रूप से केस स्टडी की जायेगी तथा इन निर्णयों के सन्दर्भ में यह भी देखा जायेगा कि सामाजिक न्याय की प्राप्ति में ये कितने सफल साबित हुए हैं।

प्रस्तुत शोध इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होगा कि व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका की कार्यप्रणाली का व्यवहारिक सन्दर्भ में वर्तमान स्वरूप क्या है? तथा इसके साथ ही विभिन्न वाद–विवादों जनहित सम्बन्धी मामलों एवं सामाजिक न्याय के विभिन्न पहलुओं का समालोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया जायेगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सारांश और सुझाव सहित सात अध्यायों में विभक्त हैं। जनहितवादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता की संकल्पना का विवेचन बहुत ही सरल और स्वतंत्र विषय–वस्तु के साथ भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जनहित याचिकाओं में दिये गये निर्णय, आदेश–निर्देशों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन विश्लेषणात्मक शैली से करने का प्रयास किया गया हैं जिसमें प्रथम अध्याय परिचयात्मक में शोध के उद्देश्य, क्षेत्र, प्रविधि तथा साहित्य समीक्षा का विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में भारतीय संविधान एवं न्यायिक व्यवस्था के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी प्रदान की गई है। तृतीय अध्याय में न्यायपालिका के संरचनात्मक स्वरूप का विकासात्मक व विश्लेषणात्मक अध्ययन का एक आंकलन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में न्यायिक सक्रियता का अर्थ, अवधारणा का उद्‌गम व इसके द्वारा स्वतत्रंता के पश्चात् न्यायिक प्रक्रिया की बदलती भूमिका के अध्ययन का विवरण प्रस्तुत किया गया है। पंचम अध्याय में विभिन्न जनहित याचिकाओं विशेषतः 1990 से लेकर 2015 तक की जनहित याचिकाओं के व्यवहारात्मक अध्ययन की विवेचना की गई है। षष्टम अध्याय में सरकार एवं न्यायपालिका के मध्य उत्पन्न विवादों के कारण का व उनके निवारण

के उपायों के बारे में चर्चा की गई है तथा सप्तम् अध्याय में निष्कर्ष एवं सुझाव में शोध संबंधी व्यावहारिक चुनौतियों एवं उनके निराकरण के प्रयासों के साथ सारांश, निष्कर्ष एवं सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **''भारत में न्यायिक सक्रियता : अवधारणा, क्रियान्वयन एवं जनहित के प्रश्नों का समाधान''** मेरा यह प्रयास, यथार्थ और सम्यक् अनुशीलन में सोपान का एक पदक्रम अवश्य सिद्ध होगा। यही मेरे विनम्र व आत्मिक प्रयासों की सफलता होगी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को तैयार करने में मैंने प्रकाशित व अप्रकाशित साहित्य के साथ–साथ यथा प्रसंग अनुसार अधिकारियों, विद्धतजनों एवं सम्मानित न्यायविदों एवं संविधान सम्मत टिप्पणियों एवं विद्धानों की तर्कसंगत टिप्पणियों एवं दृष्टिकोणों को यथाप्रसंग के अनुसार समाहित करने का प्रयास किया है। साथ–साथ ही समाचार पत्रों, पाक्षिक पत्र–पत्रिकाओं से सम्बन्धित सुझावों एवं नीतिगत मूल्यों की यथाप्रसंग अनुसार शोध प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान करने हेतु समाहित की गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध समग्र दृष्टि से यथाविधि प्रसंगानुसार संविधान सम्मत, नीतिगत, तार्किक एवं विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर समाहित करते हुए प्रस्तुत किया गया है। मुझे आशा है कि यह शोध प्रबन्ध संविधान सम्मत निकायों एवं समाज विज्ञान से सम्बन्धित अध्ययनकर्ताओं, नीति निर्माताओं के लिए एक उपयोगी आधार स्तम्भ के रूप में साबित होगा।

शोधार्थी

तरूणा मीणा

अनुक्रमणिका

	अभ्यास	पृष्ठ सं.
	आभार प्रसून	
	आमुख	
अध्याय		
प्रथम	परिचयात्मक	1—24
द्वितीय	भारतीय संविधान एवं न्यायिक व्यवस्था का ऐतिहासिक अध्ययन	25—71
तृतीय	न्यायपालिका का संरचनात्मक स्वरूप—सैद्धान्तिक विश्लेषण	72—148
चतुर्थ	न्यायिक सक्रियता की अवधारणा एवं न्यायपालिका की स्वतंत्रता के पश्चात् बदलती भूमिका	149—208
पंचम	न्यायिक सक्रियता (जनहित याचिकाओं के विशेष सन्दर्भ में 1990 से लेकर 2015 तक)	209—280
षष्ठम्	सरकार एवं न्यायपालिका के मध्य उत्पन्न विवादः कारण एवं निवारण	281—320
सप्तम्	निष्कर्ष एवं सुझाव	321—372
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	373—378
	परिशिष्ट	

प्रथम अध्याय
परिचय

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम सृज्याहम।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

गीता के उक्त श्लोक में यह भाव निहित है कि जब–जब धर्म (न्याय) की हानि होती है और अधर्म (अन्याय) का अभ्युदय होता है, तब–तब मैं (न्यायकर्ता) इस संसार में जन्म लेता हूं। संत पुरूषों (जन–मानस) की रक्षा तथा दुष्ट पुरूषों (बुराईयों) का नाश करता हूं तथा धर्म (न्याय) की प्रत्येक युग में स्थापना करता हूँ।

अतः न्याय को मानव उद्‌भव के साथ समाज का आवश्यक तत्व माना गया है। न्याय का सिद्धान्त अन्याय, हिंसा, शोषण, दमन, भेदभाव, जातिवाद एवं अस्पृश्यता के विरूद्ध हैं। तदानुसार मानव सभ्यता एवं न्याय की अवधारणा का विकास सहगामी हैं। सभ्य समाज लोगों के अधिकारों के आदर का प्रतीक है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति अन्य के अधिकार की मान्यता के कर्तव्य के रूप में करता है, किन्तु जब समाज में मूल्यों का ह्यास होता हैं, तो विकृत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो किसी भी समाज के अस्तित्व के लिए विनाशकारी सिद्ध हो सकती हैं।

न्याय का सम्बन्ध राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक न्याय, दायित्व, नैतिक मूल्यों, आर्थिक विकास, प्रशासनिक निर्णय और वैधानिक प्रक्रिया से है। अतः न्याय की इस अवधारणा को सामाजिक व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता। न्याय न तो विशुद्धतः नैतिकता है और न ही अपरिहार्य रूप से कानून का अंग है। यह दोनों का मिला–जुला रूप है, जो सामाजिक व्यवस्था से अटूट रूप में

सम्बन्धित हैं और प्रत्येक नागरिक को अपने दायित्वों के निर्वहन करने पर जोर देता है ताकि एक न्यायसंगत समाज की स्थापना हो सके। न्याय वह तत्व है जो सामंजस्य, सामाजिक व्यवस्था एवं मानवीय गरिमा की समाज में स्थापना करता है।

न्याय की संकल्पना को सामाजिक न्याय एवं व्यक्तिगत न्याय की अवधारणा में बांटा जा सकता है। सामाजिक न्याय का सम्बन्ध समतावादी व लोक कल्याणकारी विचारधारा से है। इस विचारधारा में ''शक्तिशाली से कमजोर की रक्षा'' एक प्रमुख सिद्धान्त है और इसमें समानता और स्वतंत्रता का समन्वय एवं सामंजस्य बनाने का प्रयास किया जाता रहा है। जिससे बंधुत्व की भावना का विकास एवं समाज में सभी व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास सम्भव होता है। जबकि व्यक्तिगत न्याय की अवधारणा का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता से हैं जो उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था की कल्पना करती हैं, जो व्यक्ति के नैसर्गिक विकास एवं मानव गरिमा के लिए आवश्यक है।

सामाजिक न्याय की अवधारणा एक न्यायपूर्ण संतुलित समाज की स्थापना करती है। जिसमें उक्त धारणाएँ समावेशित हैं। सामाजिक न्याय का मुख्य उद्देश्य मानव द्वारा मानव का शोषण समाप्त करना है और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अवसर उपलब्ध करवाना हैं, जिससे वह अपनी योग्यताओं को अधिकतम विकास कर सके। इसमें गरीब, असहाय, निर्धन, पिछड़े लोगों को संरक्षण प्राप्त होता है और उन्हें समानता, स्वतंत्रता, समान भातृत्व की भावना के विकास कर सके। दूसरी तरफ इसका उद्देश्य अन्याय और शोषण को समाप्त करना है।

अतः जब–जब भी सामाजिक न्याय की संकल्पना के अस्तित्व को अन्याय, अत्याचार, शोषण, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, प्रान्तवाद एवं रंगभेद आदि के कारण खतरा पैदा हुआ है, तब–तब इसके अस्तित्व के लिए किसी न किसी व्यक्ति, समुदाय, संस्था ने संघर्ष करके न्याय की प्राप्ति की है। लोकहित वादों द्वारा न्यायिक सक्रियता के माध्यम से सामाजिक न्याय की प्राप्ति इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस प्रकार उक्त गीता का श्लोक वर्तमान परिस्थितियों में भी सामयिक है।

शासन व्यवस्था के अध्ययन की परम्परा बहुत पुरानी है। आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व से ही प्राचीन यूनान में शासन व्यवस्था का सुव्यवस्थित अध्ययन करने का प्रयास किया जा रहा है। भारतीय संदर्भ में यदि देखा जाए तो मनु के समय से ही 'मनुस्मृति' में राज्य की उत्पत्ति, शक्ति, कार्यों एवं शासन व्यवस्था का सुव्यवस्थित अध्ययन देखने को मिलता है। इसके बाद प्राचीन काल में राजनीतिक विचारक कौटिल्य द्वारा शासन पर लिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ ''अर्थशास्त्र'' में शासन प्रक्रिया के विविध स्वरूपों तथा शक्तियों का सुव्यवस्थित वर्णन हैं। तत्पश्चात् शुक्राचार्य ने भी अपने ग्रन्थ ''शुक्र नीतिसार'' में भी शासन की संस्थाओं एवं सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

भारत में प्रारम्भ से ही राजनीतिक शक्ति को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ विद्यमान रही हैं तथा संभवतः इसी शक्ति के प्रयोग से आदिकाल से ही मानव समाज में व्यवस्था व स्थिरता की किसी न किसी रूप में स्थापना हुई है। कालान्तर में यही राजनीतिक शक्ति उत्पीड़क व बाध्यकारी बनकर अन्य सभी प्रकार की शक्तियों की निर्धारक व नियंत्रक बन गयी है। इससे इनके उपयोग व दुरूपयोग के मार्ग खुल गये हैं। राजनीतिक शक्ति की सर्वोपरिता से इसके दुरूपयोग की और भी संभावनाएँ उत्पन्न हो गयी हैं। राज्य, जो इस शक्ति का प्रतीक हैं; कहीं अपने आप में साध्य न बन जाये तथा राज्य की शक्ति को व्यवहार में प्रयुक्त करने वाली सरकार एवं शासक स्वेच्छाकारी बनकर उन सब मूल्यों व उद्देश्यों की अवहेलना नहीं करे, जिनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य ने राजनीतिक सत्ता की सृष्टि की है और इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि शासकों व सरकार को नियन्त्रित व सीमित रखा जाये। बाध्यकारी शक्तियों को धारित करने वाले शासन के लिए यह स्वाभाविक हैं कि वह शक्ति का उपयोग शोषित प्रजा की स्वतंत्रता का हनन व अन्त करने में कर सकता है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए महत्वपूर्ण कारक है। इसका हनन व्यक्ति को क्रान्तिकारी बना सकता है। इसीलिए एक ओर तो मनुष्य ने राज्य व शासन की सर्वोपरिता को स्वीकार किया है तथा दूसरी और इनके ऊपर प्रभावशाली नियन्त्रण की स्थापना भी की है। यही कारण है कि प्राचीन

काल से ही शासकों पर नैतिक, संस्थागत व जनता द्वारा नियंत्रण रखा जाता रहा है।

भारतीय स्वतंत्रता से पूर्व ब्रिटिश शासन अधर्म और अन्याय का उदाहरण था, जिसके अन्तर्गत भारतीयों के साथ धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण न केवल राजनीतिक वर्गों के साथ था, बल्कि कृषक, श्रमिक तथा व्यापारियों आदि सभी वर्गों के साथ अन्याय की सीमा लांघी गयी थी। निर्दयता एवं कठोरतापूर्वक शासन का व्यवहार, जाति, धर्म, भाषा के आधार पर भेदभाव जलियावाला बाग कांड एवं क्रान्तिकारियों को फांसी की सजा आदि अंग्रेजो ं के अन्याय को दर्शाती हैं। ये घटनाएँ दिल दहलाने वाली थी। उनका अन्याय चरम सीमा पर पहुंच गया था, परिणामस्वरूप भारतवासियों ने इस अधर्म और अन्याय का मुकाबला करते हुए धर्म और न्याय रूपी स्वतंत्रता प्राप्त की।

स्वतंत्रता एक सपना लिए हुए थी, जिसमें भारत के लोगों को स्वयं अपने राजनीतिक भविष्य का निर्णय करना था। इन सपनों को संजोये रखने के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण करना था, जिसके अनुसार भारत में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का संचालन हो सके। इन्हीं सपनों को पूरा करने के लिए भारत जैसे विशाल और विविधताओं से परिपूर्ण देश के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण किया गया जो भारत की विशेष परिस्थितियों और संकट की घड़ियों में सफलतापूर्वक चलाया जा सके। अतः संविधान का मूल लक्ष्य लोकतांत्रिक व्यवस्था के साथ लोक कल्याणकारी राज्य और विधि के शासन की स्थापना करना था। परिणामस्वरूप भारत में एक नई लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का उद्‌भव हुआ। भारतीय संविधान में समानता, बंधुता, स्वतंत्रता पर जोर दिया गया और मानवीय गरिमा को सर्वोच्चता प्रदान की गई। सभी प्रकार की असमानताओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के अवसर उपलब्ध कराने तथा सामाजिक सुरक्षा को महत्व देते हुए असहाय, गरीब, श्रमिक, महिला एवं बालकों पर विशेष ध्यान दिया गया।

शासन व्यवस्था को लोकतांत्रिक ढंग से चलाने एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए संविधान में राज्य के तीनों अंगों विधायिका, कार्यपालिका, एवं न्यायपालिका के कार्य एवं अधिकारों का स्पष्ट विभाजन करने का प्रयास किया गया। संविधान निर्माता संसद की प्रभुसत्ता के आदर्श से प्रभावित थे और इसे अपनाना चाहते थे, लेकिन इसके साथ ही संघात्मक व्यवस्था लिखित एवं कठोर संविधान और मौलिक अधिकारों की व्यवस्था के कारण संसद को सभी विषयों में कानून निर्माण की शक्तियाँ नहीं दी जा सकती थी, परिणामस्वरूप न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था को अपनाया गया। इस क्रम में कानून की व्याख्या और समीक्षा करने का न्यायपालिका को पूरा अधिकार मिल गया कि वह यह देखे कि संसद द्वारा निर्मित विधि संविधान की कसौटी पर खरी उतरती है या नहीं?

प्रसिद्ध विचारक माण्टेस्क्यू का मानना है कि वहाँ कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती, जहाँ न्यायिक शक्तियाँ विधायनी तथा कार्यकारिणी शक्तियों से पृथक न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए न्यायपालिका का स्वतंत्र होना अत्यधिक आवश्यक है। भारत के संविधान में संवैधानिक जनतंत्र की स्थापना की गयी है, जिसमें शासन की शक्तियों का विभाजन किया गया है। यह विभाजन भौगोलिक तथा कार्यात्मक दोनों ही प्रकार का है। भौगोलिक दृष्टि से राजनीतिक शक्तियाँ केन्द्र तथा राज्य में विभाजित हैं तथा कार्यात्मक दृष्टि से शक्तियों का विभाजन शासन के तीन अंगों –विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच किया गया है। भारत में सर्वप्रथम ''भारतीय शासन अधिनियम 1935'' के द्वारा संसदीय शासन प्रणाली को अपनाते हुए कार्यपालिका एवं विधायिनी शक्तियों को पृथक किया गया तथा 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के द्वारा ही भारत में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी, जिसे वर्तमान में भारत को सर्वोच्च न्यायालय कहा जाता है।

भारतीय संविधान में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। इस प्रणाली के तहत शासन के तीन अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का गठन किया गया है। अमेरिकी शासन प्रणाली से प्रेरित होकर इन तीनों अंगों में शक्ति पृथक्करण नियंत्रण एवं संतुलन की अवधारणा को अपनाया गया है तथा

साथ ही संविधान की रक्षा के लिए न्यायिक पुनरावलोकन की सर्वोच्च शक्ति को भी अपनाया गया है। शासन व्यस्था के इस प्रतिरूप में शासन के तीनों अंग अपने–अपने क्षेत्रों में स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करते हुए आपस में संतुलन बनाये रखते हैं तथा एक दूसरे पर नियन्त्रण भी रखते हैं।

कार्यपालिका शासन का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका के द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करना होता है। साथ ही नियमों, नीतियों, योजनाओं आदि को लागू करना तथा शासन का संचालन करना होता है।

व्यवस्थापिका शासन का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। व्यवस्थापिका का कार्य कानूनों का निर्माण करना तथा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना है। भारत की व्यवस्थापिका को संसद कहते हैं। भारतीय संसद का गठन राष्ट्रपति व दो सदनों राज्यसभा व लोकसभा से मिलकर होता है। राज्य सभा संसद का उच्च सदन तथा राज्यों का सदन कहलाता है, जबकि लोक सभा निम्न तथा लोकप्रिय सदन कहलाता है। राज्य सभा सदस्यों का चुनाव निर्धारित संख्या में राज्य विधानसभा के सदस्यों के द्वारा किया जाता है, जबकि लोकसभा सदस्यों का चुनाव क्षेत्रीय आधार पर सीधे जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है, जबकि लोकसभा सदस्यों का चुनाव क्षेत्रीय आधार पर सीधे जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। व्यवस्थापिका एक ओर कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है, तो दूसरी ओर न्यायपालिका पर। यदि कोई भी न्यायाधीश कदाचार व असमर्थता का आचरण करता है तो संसद सदस्य महाभियोग के प्रस्ताव के द्वारा उसे पद से हटा सकते हैं साथ ही संसद समय–समय पर कानून बनाकर न्यायपालिका को मर्यादित भी करती हैं। न्यायपालिका शासन की प्रमुख न्यायिक इकाई हैं, जिसका कार्य संविधान के प्रावधानों के अनुरूप अथवा विधि के अनुरूप न्यायिक निर्णय देना, कानूनों की समीक्षा करना तथा न्यायिक विवादों का समाधान करना भी होता है।

जब व्यवस्थापिका व कार्यपालिका अपनी सामाजिक व प्रशासनिक गतिविधियों से विमुख हो जाती है तो जनता को न्याय दिलाने के लिए न्यायपालिका सक्रिय होकर कार्य करती है, इसे 'न्यायिक सक्रियता' कहते हैं।

संविधान के भाग III में नागरिकों के मौलिक अधिकारों के साथ–साथ संविधान के भाग–IV में नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत ऐसी लोक कल्याणकारी एवं सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य को दायित्वाधीन मानता है जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करेगा। साथ ही यह भी निर्देशित करता है कि राज्य, विशेष रूप से, आय से असमानताओं को न्यून करने का प्रयत्न करेगा और न केवल व्यक्तियों के बीच वरन् विभिन्न क्षेत्रों मे निवास करने वाले या विभिन्न व्यवसायों मे लगे लोगों के बीच भी प्रास्थिति, सुविधाओं तथा अवसरों मे असमानताओं को दूर करने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद 14, जो कि व्यक्ति के लिए समता एवं समान सरंक्षण का प्रावधान करता है, न्यायालय को समाज में व्याप्त असमानताओं को दूर करने की शक्ति प्रदान करता है। अनुच्छेद 19 वैयक्तिक स्वतंत्रताओं, जिनके अभाव में मानवीय व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं हैं, के मौलिक अधिकार की प्रत्याभूति देता है। एक तरफ न्यायालयों को राज्य को वैयक्तिक स्वायत्तता सुनिश्चित करने के लिए सशक्त करता है। अनुच्छेद 21, जो कि सामाजिक न्याय एवं मानव गरिमा की संकल्पना से ओतप्रोत है तथा विधि के शासन एवं नैसर्गिक न्याय के सिद्वान्तों को समाहित करता है। जबकि अनुच्छेद 32 उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के उक्त मौलिक अधिकारों के उपचार की अधिकारिता प्रदान करता है।

उक्त कल्याणकारी नीतियों एवं आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक न्याय प्राप्ति के लिए भारत में स्वतंत्रता पश्चात् सरकार ने योजनाबद्ध विकास के लिए अनेक प्रयास किए तथा न्यायपालिका ने नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिए विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों का समय–समय पर विश्लेषण एवं समीक्षा की तथा जब भी उच्चतम न्यायालय को यह दिखाई देता था कि संसद द्वारा बनाई गई विधियाँ नागरिकों के मूल अधिकारों के विपरीत है या कार्यपालिका द्वारा विधि के लागू करने में मौलिक अधिकारों को छीना जा रहा है, तो न्यायपालिका ऐसी विधि को शून्य घोषित करने की अधिकारिता रखती है। किन्तु मौलिक अधिकारों का संरक्षण उन्हीं व्यक्तियों को था, जो अनुच्छेद 32 में सर्वोच्च न्यायालय अथवा अनुच्छेद 226 मे सम्बन्धित उच्च न्यायालय में याचिका दायर करके अपने मौलिक

अधिकारों का संरक्षण करना चाहते थे। मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था काफी महंगी साबित होती है एवं इस व्यवस्था में केवल अमीर व्यक्तियों का ही लाभान्वित होना संभव है। अतः कानूनों के निर्माण एवं सरंक्षण के बावजूद भी श्रमिक, कृषक, गरीब, असहाय लोगों को सुना जाना इस न्याय व्यवस्था में संभव नहीं था। इस प्रकार वे अपने को असहाय एवं निरीह पाते थे। कोई उनको सुनना भी नहीं चाहता था। वे अपने को असुरक्षित समझते हुए अपने दुःखों की व्यथा सुनाने की हिम्मत तक नहीं जुटा पा रहे थे। अपने परिवार के पालन–पोषण व मौलिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति उन्हें अमानवीय स्थिति में कार्य करने को मजबूर कर रही थी। कहने के लिए तो संवैधानिक व्यवस्थाओं के तहत राज्य का दायित्व है कि वे सभी व्यक्तियों को कल्याणकारी सुविधाएँ उपलब्ध करवाये, सभी को समान अवसर मिले, सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक न्याय एवं विधि का शासन उपलब्ध हो, लेकिन यथार्थ में कुछ अलग ही दिखाई पड़ता है। संविधान को लागू हुए कई दशक व्यतीत हो गए लेकिन गरीब एवं अशिक्षित जनता को आशा थी कि कोई दिन आयेगा कि हमारे संविधान निर्माताओं का सपना साकार होगा एवं देश मे आमूल–चूल परिवर्तन होगा। लेकिन जैसे–जैसे समय बीतता गया देश प्रगति के पथ पर उन्मुख तो होता गया किन्तु अनेक विकराल समस्याओं ने जन्म लिया, जिसमें प्रमुख रूप में सत्ता लोलुपता के कारण राजनीतिक भ्रष्टाचार, सरकारी तन्त्र एवं सम्बन्धित निकायों में अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार सरकार की उपेक्षापूर्ण नीतियाँ प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता, महिलाओं एवं बच्चों के साथ दुर्व्यवहार प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद एवं आतंकवाद आदि अनेक ऐसे कारण बने जिनमें राजनीतिक नेता संविधान के उद्देश्यों को भूलकर अपने सत्ता प्राप्ति एवं राजनीति को धन कमाने का साधन मानकर तथा राजनीति को समाजपरख न मानकर व्यक्तिपरख मान बैठे, परिणामस्वरूप सामाजिक न्याय का सिद्धान्त विफल होता दिखाई दिया।

इन परिस्थितियों में पारम्परिक न्याय व्यवस्था (सुने जाने का नियम) भारत मे उन अधिकांश गरीब एवं अशिक्षित जनता के लिए उपयुक्त नही थी जो अपने अधिकारों के लिए न्यायालय के दरवाजे खटखटाने में असमर्थ थे, बल्कि मौलिक

अधिकारों के प्रवर्तन के लिए यह व्यवस्था केवल उन चन्द अमीर व्यक्तियों के लिए थी, जो महंगी न्याय व्यवस्था का बोझ उठा सकते थे। अतः यह पारम्परिक न्याय व्यवस्था लाखों करोड़ो लोगो को सामूहिक रूप से न्याय प्रदान करने के लिए बनायी ही नहीं गई थी, क्योंकि संविधान निर्माताओं ने ऐसे कमजोर एवं निर्धन वर्ग के लिए प्रजातांत्रिक व्यवस्था में यह कार्य व्यवस्थापिका पर छोड़ा था। वे ऐसी कल्पना भी नहीं करते थे कि स्वतन्त्रता के दो–तीन दशकों के पश्चात् ही देश इतनी बुराईयों से घिर जायेगा।

दूसरी तरफ, मौलिक अधिकारों एवं कल्याणकारी नीति निर्देशक तत्वों में अन्तर्विरोध था। जब–जब भी सरकार कोई कल्याणकारी नीति लागू करने के लिए विधि का निर्माण अथवा संविधान संशोधन करती तो हमारी उच्चतर न्यायपालिका यह देखती कि यह संशोधन अथवा कानून व्यक्ति के मौलिक अधिकार के विपरीत तो नहीं है और ऐसी स्थिति में वह उस संशोधन अथवा कानून को शून्य घोषित करने का प्रयास करती , एक तरह से विधायिका और न्यायपालिका में अन्तर्द्वन्द की स्थिति थी। इस स्थिति में कभी व्यवस्थापिका तो कभी न्यायपालिका अपने को सर्वोच्च समझती थी, किन्तु उच्चतम न्यायालय के ऐतिहासिक केशवानन्द भारती के मामले के निर्णय में स्पष्ट किया कि ''मूल अधिकार तथा नीति निर्देशक तत्व हमारे संविधान के अन्तःकरण है। मूल अधिकारों का प्रयोजन समतावादी समाज का निर्माण करना और समाज के उत्पीड़न या बन्धनों से मुक्त कराना और सबके लिए स्वतंत्रता की उपलब्धि कराना है। नीति निर्देशक तत्त्वों का प्रयोजन कुछ ऐसे सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को नियत करना है जो अहिंसात्मक सामाजिक क्रांति द्वारा तत्काल प्राप्त किए जा सकते हों। मूल अधिकारों तथा नीति निर्देशक तत्वों के बीच कोई विरोध नहीं है। वे एक–दूसरे के पूरक है।

अतः सर्वोच्च न्याय व्यवस्था की मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी धारणा की अधिकारिता को सामूहिक हित की धारणा में यह कहते हुए परिवर्तन किया कि परम्परागत प्रतिपक्षीय प्रणाली का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं है तथा संविधान निर्माताओं ने मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए कोई विशेष प्रक्रिया निहित नहीं की है क्योंकि वे जानते थे कि भारत जैसे देश के लिए जहाँ

इतनी निर्धनता, अज्ञानता, अशिक्षा, अभाव व शोषण है। वहाँ सूत्र या कार्यवाहियों पर जोर देना उपचारों की विफलता ही होगी।

राजनीतिक न्याय व्यवस्था की प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता के कारण न्यायपालिका ने यह देखा कि देश के करोडों गरीबों, कृषकों, मजदूरों को न केवल सामाजिक और आर्थिक न्याय मिल पा रहा है, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में वातावरण दूषित है तथा जीविकोपार्जन के साधन के साथ–साथ गरिमापूर्ण जीवन यापन मुश्किल हो गया है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में बंधुआ मजदूरी, कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार, विधिक सहायता का अभाव, परीक्षण में देरी, पुलिस यातना एवं दुर्व्यवहार, गरीब व असहाय को आवास की समस्या, नारी निकेतनों की दुर्दशा के साथ–साथ बढते हुए औद्योगिक विकास एवं गैर जिम्मेदारीपूर्ण व्यवहार के कारण चारों तरफ फैलता हुआ जल, वायु और ध्वनि प्रदूषण तथा नैतिक पतन हो रहा है जिनके परिणामस्वरूप जनहित में संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है।

अतः स्वतन्त्रता के लगभग ढाई दशक बाद अन्याय और शोषण झेल रहे लोगों को न्याय प्रदान करने के लिए लोकहित वादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता की संकल्पना का पदार्पण हुआ।

अध्ययन की प्रकृति :-

भारत में संसदीय प्रणाली के स्वरूप, संसदीय सर्वोच्चता के विचार की वास्तविकता, प्रासंगिकता व वांछनीयता तथा इन सब प्रसंगो में न्यायपालिका की सामर्थ्य व उसकी भूमिका के पूर्वाग्रह युक्त व स्वतन्त्र परीक्षण की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

अध्ययन के विषय के आयामों का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से परीक्षण किया गया है।

अध्ययन में, व्याख्या और अर्थान्वयन के लिए संवैधानिक दर्शन की मूल प्रस्थापनाओं, संवैधानिक उद्घोषणाओं, न्यायिक निर्णयों आदि को आधार के रूप में

स्वीकार किया गया है। यथावश्यक व यथाप्रसंग भारत में जनहित याचिकाओं से जुड़े मामलों का उल्लेख किया गया है, और अधिकारी विद्वानों की टिप्पणियों का उपयोग तथा विवेचन किया गया है।

अध्ययन आलोचनात्मक व विश्लेषणात्मक दोनों ही दृष्टियों को समाहित करता है।

अध्ययन का आग्रह वस्तुनिष्ठ हैं और निष्कर्ष संवैधानिक प्रावधान व राजनीतिक सिद्वान्तों के तार्किक व वस्तुनिष्ठ अर्थान्वयन पर आधारित हैं। जहॉ कहीं आलोचना की गयी हैं वह अवधारणात्मक, सदृश्यतापूर्ण व पूर्वाग्रह मुक्त है।

प्रस्तुत शोध के प्रमुख उद्देश्य एवं परिचय (Introduction and Main objectives of the Research work) :-

1. संसदीय शासन व्यवस्था के तीन स्तम्भों की संरचना, कर्तव्य एवं शक्तियों का सबधात्मक अध्ययन करना।
2. भारत में न्याय व्यवस्था का विकासात्मक अवलोकन, न्यायिक व्यवस्था का प्राचीन, मध्यकालीन से लेकर आधुनिक समय तक का विकासात्मक अध्ययन करना।
3. न्यायिक पुनरावलोकन व न्यायिक सक्रियता, पृथक या समाहित विषय का विवेचन करना।
4. न्यायपालिका की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता के पश्चात् बदलती भूमिका का अध्ययन व व्याख्या करना।
5. न्यायिक सक्रियता व सामाजिक न्यायः एक भ्रान्ति या तथ्यात्मक सत्य, की वास्तविकता का पता लगाना।
6. न्यायिक सक्रियता की प्रभावशीलता का अध्ययन करते हुए औचित्य (वैधता) रेखांकित करना।
7. न्यायिक सक्रियता के आधार पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका व न्यायपालिका के सम्बन्धों का अध्ययन करना।

8. न्यायिक सक्रियता व जनहितवाद से सबन्धित महत्वूपर्ण विवादों का 1990 से 2015 तक व्यवहारिक अध्ययन करना तथा विवादो की गहराई, विस्तार और राजनैतिक गलियारों में मंथन का विश्लेषण करना।
9. न्यायपालिका की कार्यशैली के बारे में और समाज के विभिन्न घटकों की प्रतिक्रिया को जानना।
10. न्यायिक सक्रियता बनाम न्यायिक निश्चयात्मकता के संदर्भ में विश्लेषण करना।
11. न्यायपालिका के विस्तृत होते कार्यक्षेत्र को रेखांकित करते हुए न्यायिक भूमिका के क्षेत्राधिकार या सीमाओं का मंथन करना।

शोध प्रणाली (Research Methodology)

किसी भी अध्ययन की वैज्ञानिकता शोध विधि की मूल्य निरपेक्षता और वस्तुनिष्ठता पर निर्भर करती है। इसीलिए शोध में प्रयुक्त शोध प्रविधि का दोष रहित होना अनिवार्य है। यही कारण है कि प्रत्येक शोध को प्रारम्भ करने से पूर्व शोध के लिए प्रयुक्त शोध प्रविधि का चयन कर लिया जाता है।

न्यायिक सक्रियता के सम्बन्ध में प्रकाशित अनेक प्राथमिक व द्वितीयक सभी प्रकार के स्त्रोतों का प्रयोग किया गया है। प्राथमिक स्त्रोतों मे न्यायिक सक्रियता से सम्बन्धित विभिन्न केसों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत शोध मे उपलब्ध ग्रन्थों, प्रकाशित लेखो तथा अन्य विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त सूचनाओं को प्राथमिक स्त्रोत के रूप में प्रयुक्त की गयी। शोध प्रविधि निम्न शीर्षको के अन्तर्गत समझाई जा सकती है।

इस शोध को निष्पादित कर अन्तिम चरण व निष्कर्ष तक पहुँचाने के लिए शोध की विश्लेषणात्मक पद्धति काम में लाई जायेगी, जिसके विभिन्न चरण निम्नानुसार होगें।

(अ) प्राथमिक आँकडा संकलन :-

प्राथमिक आंकड़ों का संकलन विभिन्न घटकों व भागीदारों से साक्षात्कार कर तथा उनके विभिन्न राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में आये साक्षात्कारों के आधार पर विभिन्न सूचनाओं को संकलित किया जाएगा। इन घटकों व भागीदारों में सम्मिलित होगें– न्यायधीश, वकील, विभिन्न स्वयंसेवी संगठन के सदस्य व समाज के बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्य, जो इस विषय में ज्ञान व रूचि रखते हैं।

(ब) द्वितीय आँकड़ा संकलन :-

द्वितीयक आँकड़ा संकलन के तहत विभिन्न पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं, पहले से इस विषय पर किए गए शोध कार्यों को एकत्रित किया जाएगा, ताकि उनकों भी सूचनात्मक रूप में काम में लेकर निष्कर्ष तक पहुँचने में मदद ली जा सके।

(स) केस अध्ययन :-

सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा जनहित याचिकाओं के तहत समय–समय पर महत्वपूर्ण निर्णय दिये गये है, उनका अध्ययन किया जायेगा।

(द) विश्लेषण व सूचना निर्माण :-

संकलित आँकडों व केस अध्ययन के निष्कर्षों को विश्लेषण की कसौटी पर परखा जाएगा, तथा जो आकड़े दोहरावग्रस्त व अनुपयुक्त पाये जायेगें, उन्हें पृथक कर उपुयक्त आँकडों को सूचना निर्माण मे सम्मिलित किया जायेगा ताकि शोध कार्य को गुणात्मक बनाया जा सकेगा।

(य) अन्तिम निष्कर्ष व सुझाव :-

उपरोक्त समस्त विधियों का समर्पित भाव से अध्ययन कर अन्तिम निष्कर्ष निकाले जायेगें तथा सुधार हेतु सुझाव दिये जायेंगे।

प्रस्तावित शोध कार्य का महत्त्व (Importance of the Proposed Research work:-

भारत में न्यायपालिका के संवैधानिक अधिकारों, कर्तव्यों एवं शक्तियों को समझाना। साथ ही 1970 के दशक में न्यायपालिका की भूमिका में आये एक महत्वपूर्ण बदलाव न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद की प्रकृति, प्रवृत्ति, आवश्यकता आदि की समीक्षा करना तथा न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद के सन्दर्भ में शासन के तीनों स्तम्भों में समय–समय पर उत्पन्न हुए विवाद एवं टकरावों तथा इनकी सीमाओं संबंधी समस्त प्रवृतियों, न्यायिक शक्तियों, अधिकारों आदि का शक्ति पृथक्करण के सन्दर्भ में विवेचन करना। साथ ही सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं एवं चिन्ताओं का तथ्यात्मक एवं समालोचनात्मक विश्लेषण करना।

प्रस्तुत शोध में इस बात पर अत्यधिक बल दिया जायेगा कि न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद में सामाजिक न्याय की प्राप्ति मे न्यायपालिका की भूमिका को कितना आवश्यक बना दिया है। क्या न्याय पालिका को इसी प्रकार न्यायिक सक्रियता के क्षेत्र में अपनी भूमिका निभाने एवं जनहित सम्बन्धी मामलों में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से आगे बढ़कर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होना चाहिए या फिर ऐसी कोई सीमा रेखा निर्धारित की जानी चाहिए, जहाँ तक सक्रियता की प्रवृति अपनाना उचित माना जाए।

प्रस्तुत शोध मे उन बिन्दुओं पर भी प्रकाश डाला जायेगा, जो न्यायिक सक्रियता की उत्पत्ति के साथ में ही व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका में टकराव के विषय बने हुए है तथा जिनको लेकर शासन के ये दोनों स्तम्भ कई बार आमने–सामने आ चुके है तथा यह भी पता लगाने का प्रयास किया जायेगा कि सामाजिक न्याय की प्राप्ति में व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका, दोनों एक साझा दृष्टिकोण अपना सके तथा अपने–अपने क्षेत्र में अपनी भूमिका का निर्वहन पूरी ईमानदारी व कर्तव्यपरायणता के साथ कर सकें।

प्रस्तुत शोध में न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा विभिन्न मामलों में सुनाये गये निर्णयों की सन् 1990 से लेकर वर्तमान तक सुव्यवस्थित रूप से केस स्टडी की जायेगी तथा इन निर्णयों के सन्दर्भ में यह भी देखा जायेगा कि सामाजिक न्याय की प्राप्ति में ये कितने सफल साबित हुई है।

प्रस्तुत शोध इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होगा कि व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका की कार्यप्रणाली का व्यवहारिक सन्दर्भ मे वर्तमान स्वरूप क्या है? तथा इसके साथ ही विभिन्न वाद–विवादों, जनहित संबन्धी मामलों एवं सामाजिक न्याय के विभिन्न पहलुओं का समालोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया जायेगा।

प्रस्तुत विषय पर पूर्व में किए गए शोध कार्य की समीक्षा (Review of the work already done on the releated subject or Literature)

प्रत्येक राजनीतिक समस्या का देश, काल एवं परिस्थितियों से घनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतः इस दृष्टि से पूर्व अध्ययनों से संबन्धित साहित्य की समीक्षा करना शोध की अनिवार्य आवश्यकता होती हैं। अतः व्यवस्थापिका व न्यायपालिका के सम्बन्ध में वर्तमान में जो प्रवृतियाँ (विरोध/समर्थन/औचित्य आदि) सामने आयी हैं, जिसके कारण यह विषय विभिन्न अध्ययनकत्ताओं के लिए पुनर्विवेचन का विषय बन गया और इस पर अनेक पुस्तकें, लेख आदि निरन्तर प्रकाशित हुए है, इनमें से कुछ का विवरण निम्न प्रकार है :–

प्रो. यशपाल ने अपनी पुस्तक ''**न्याय का सघंर्ष**'' प्रथम विप्लव कार्यालय, लखनऊ 21, शिवाजी मार्ग, पाँचवा संस्करण में दिसम्बर 1954 में न्याय–व्यवस्था में व्याप्त विरोधाभास पर प्रकाश डाला।

सी.एफ. स्ट्रांग ने अपनी पुस्तक ''**माडर्न पॉलिटिक्स कॉन्सटीट्यूशन**'' प्रसाद एण्ड संस, बांके विलास, आगरा 1959 में निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि पूर्व में न्यायपालिका, व्यवस्थापिका व कार्यपालिका तीनो अंग मिले हुए थे। अतः न्याय

मिलने में कठिनाई आती थी, इस कारण तीव्र न्याय के लिए उन्होंने न्यायिक विभाग की स्वतंत्रता की पहल की।

डॉ. गंगादत्त तिवारी ने अपनी पुस्तक **''भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास''** मीनाक्षी प्रकाशक, मेरठ में वातावरण एव राजनीतिक पहलुओं को समझाने का प्रयास किया है कि जब कोई देश गुलाम होता है, तो उसके मनोबल का ह्रास होता है, परन्तु उसके परिणामस्वरूप उसे ऐसा नेतृत्व मिलता है, तो वह अपने राष्ट्र को पुनः स्वाधीन राष्ट्र की श्रेणी में लाकर खडा कर देता है।

पूर्व न्यायाधीश गुमानमल लोढ़ा ने अपनी पुस्तक **''न्यायिक क्रान्ति के बदलते आयाम''** राजस्थान हिन्दी विधि प्रतिष्ठान, यूनिक ट्रेडर्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर 1986 में न्याय देरी से मिलने के कारणो को बताया है तथा उन्होंने जन साधारण को समुचित व अविलम्ब न्याय उपलब्ध कराने के तरीकों से अवगत कराया है।

श्रीमती उषा सक्सेना ने अपनी पुस्तक **''इण्डियन लीगल हिस्ट्री''** न्यू बिल्डिंग्स अमीनाबाद, लखनऊ 1969 में सर्वोच्च न्यायालय के ही न्याय के लिए अन्तिम शक्ति का आधार माना है तथा न्यायिक सक्रियता के लिए उसे सर्वोच्च शक्ति प्रदान करने के पहलुओं पर प्रकाश डाला हैं।

एस.एल. सीकरी ने अपनी पुस्तक **''ए कॉन्ट्रिड्यूशनल्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'',** दयानन्द एंग्लों वैदिक कॉलेज, अमृतसर,1967 में विशेषतः न्यायिक व्यवस्था पर अध्ययन मिलता है, जिसमें उन्होंने बताया है कि भारत मे सर्वप्रथम 1935 में संघीय न्यायालय की स्थापना हुई तथा बाद में इसे न्याय की सर्वोच्च शक्ति सर्वोच्च न्यायालय नाम दिया गया तथा न्याय की सर्वोच्च शक्ति प्रदान की गई।

आर.ए. मिश्रा ने अपनी पुस्तक **''कॉड ऑफ सिविल प्रोसिड्यूर''** 1908 इलाहाबाद लॉ एम्पोरियम 2001 में न्यायिक सक्रियता पर ही विशेष बल दिया है और इस पर बल देते हुए बताया है कि इस हेतु लोक अदालत खोली जाये, ताकि साधारण जन को शीघ्र न्याय मिले, ताकि समय पर पैसे की कम बर्बादी हो।

एस.पी.वर्मा ने अपनी पुस्तक **''डिटेल ऑफ इण्डियन ज्यूडिशियल सिस्टम नीड एण्ड डायरेक्शन ऑफ रिफॉर्मस'',** कनिष्का पब्लिकेशन्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स 2004 में भारत में न्याय व्यवस्था का विस्तार से विश्लेषण किया हैं।

एस.पी.साठे ने अपनी पुस्तक **''ज्यूडिशियल एक्टिविज्म इन इण्डिया''** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003 में भारत में न्यायिक सक्रियता के अध्ययन को ही प्राथमिकता दी है।

पी.पी. विजयानन ने अपनी पुस्तक **''डिटेल ऑफ रिजर्वेशन पॉलिसी एण्ड ज्यूडिशियल एक्टिविज्म''** ज्ञान बुक्स, 2005 में भारत में आरक्षण की रूपरेखा व न्यायिक सक्रियता के अध्ययन को प्राथमिकता दी।

कुमारी कृष्णा ए. ने अपनी पुस्तक **''ज्यूडिशियल एक्टिविज्म नीड फॉर रिफार्मस'',** आई.सी. एफ. ए. आई, यूनिवर्सिटी प्रेस 2008 में भारतीय न्यायिक व्यवस्था में सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया है, ताकि प्रत्येक भारतीय को शीघ्र न्याय मिल सके।

डॉ0 कैलाशनाथ काटजू ने अपनी पुस्तक **''कुछ स्मरणीय मुकद्में''** ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी में केवल मुकदमों की चर्चा नहीं की है, बल्कि न्यायपालिका में किस–किस तरह के मामले आते है, तथा उन्हे किस किस तरह निपटाया जाता है? इन सभी बातों पर विस्तार से विश्लेषण किया।

न्यायिक समीक्षा, सक्रियता तथा राजनीतिक विकास से सम्बन्धित और अध्ययन के उद्देश्यों के लिए महत्वपूर्ण साहित्य के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि काफी साहित्य भारतीय शासन व्यवस्था के सर्वागीण अध्ययन के भाग के रूप में न्यायपालिका की शक्तियों एवं न्यायिक समीक्षा के अंतर्निहित परिणामों का विवरण प्रस्तुत करता है। इन ग्रन्थों में एम.वी. पायली की पुस्तक ''कॉस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इंडिया'' (1966)[1] ग्रेनेविल ऑस्टिन की ''द इंडियन कॉस्टीट्यूशन : कोर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन'' (1966),[2] डी.डी. बसु के 10 भागों में प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रंथ

''कमेंट्री ऑन द कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया (1965),[3] एच.एम. सीरवई की 'कॉस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया'' (1975)[4] एम.सी.जे. कागजी की पुस्तक 'द कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया (1975)''[5] का उल्लेख किया जा सकता है। जैसा कि प्रकाशन से स्पष्ट है कि ये अध्ययन स्वतंत्र भारत के संविधान लागू होने के दो से तीन दशकों के मध्य के हैं, जब न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का जन्म भी न हुआ था। इनमें सामान्य न्यायिक शक्तियों के अलावा न्यायिक समीक्षा के स्वरूप एवं उससे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की शक्तियों तथा अंर्तसंस्था सम्बन्धों का अच्छा विश्लेषण किया गया हैं। इनके अलावा जे.एन.पाण्डे की ''कॉस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इण्डिया (1988),[6] राजीव धवन एण्ड एलिस जेकब की (संपादित) इंडियन कॉस्टीट्यूशन ट्रेडस एंड इश्यूज् (1978),[7] का भी जिक्र किया जा सकता है।

सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में ए.वी. डायसी की ''द लॉ ऑफ दी कॉस्टीट्यूशन (1961),[8] के.सी. व्हीयर की मॉर्डन कॉस्टीट्यूशन (1966),[9] में न्यायपालिका के सामान्य विवेचन से स्पष्ट है कि न्यायपालिका ने जनसामान्य के हित में कई निर्णय दिए हैं, जिससे राजनीतिक व्यवस्थाओं व न्यायपालिका दोनों के प्रति जन रूचि बढी हैं। कार्यपालिका की शिथिलता या अतिरंजित भूमिका नागरिकों का संरक्षण किसी भी व्यवस्था की प्रमुख आवश्यकता है। न्यायिक निर्णयों से अधिकारों की रक्षा की अपेक्षा है। इसके अलावा राजनीतिक व प्रशासनिक संस्थाओं के कार्यक्षेत्र का सीमांकन भी संभव होता है। प्रस्तुत अध्ययन में विशेषकर केन्द्रीय संस्थाओं–राष्ट्रपति, मंत्रिमण्डल, संसद, नौकरशाही व कार्यपालिका की भूमिका पर पड़े प्रभावों का अध्ययन होगा। इससे यह निष्कर्ष निकालना सहज हो सकेगा कि न्यायपालिका ने दोनों देशो में संविधान की प्रस्तावना में वर्णित अपेक्षाओं के अनुरूप राजनीतिक व्यवस्था में समुचित प्रवृतियों के विकास में योग दिया है।

भारत में काफी साहित्य सामग्री न्यायपालिका और 'न्यायिक समीक्षा दायित्व' व 'न्यायिक सक्रियता' पर उपलब्ध है जैसे–जूडिशियरी इन इंडिया[10]–यू.सी. जैन और जीवन नायर द्वारा लिखित पुस्तक में न्यायिक पुनरावलोकन की भारतीय न्यायपालिका की शक्ति के विस्तृत रूप को समझाया गया है। इसी प्रकार से प्रो. आर.पी. जोशी के द्वारा संपादित पुस्तक 'मानव–अधिकार और कर्तव्य[11] में भी

न्यायिक समीक्षा, न्यायिक सक्रियतावाद और जनहित वाद को मानवाधिकार संदर्भ में समझाया गया है। इसमें लोक हितवाद की भारत में प्रगति के कारण सामाजिक हित में इसके योगदान इत्यादि को विस्तृत रूप से समझाने का प्रयास किया गया है। रमेश प्रसाद गौतम द्वारा लिखित महत्वपूर्ण पुस्तक ''भारत के मानव अधिकार (उल्लंघन संरक्षण, क्रियान्वयन एवं उपचार)[12] में भी भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विस्तारित मौलिक अधिकारों के बारे में विस्तृत चर्चा की गई है, जो हमारे लिए उपयोगी है। इसमें न्यायिक सक्रियता के अध्ययन–विवेचन के साथ–साथ जनहिवाद की प्रक्रिया और समाज के हित में योगदान की विस्तृत रूप से समीक्षा की गई है।

जी.पी. नेमा और के.के. शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'मानवाधिकार–सिद्धान्त और व्यवहार[13] में भी भारत मे न्यायिक सक्रियता के उदय, विकास, विविध मान्यताओं और जनहितकारी वादों की मान्यता के बारे मे विस्तृत बात की गई है। इसके द्वारा भारतीय 'न्यायपालिका की न्यायिक रचनात्मकतावाद' की प्रवृति का अध्ययन करने में सहायता मिलती है।

भारतीय न्यायपालिका में न्यायिक सक्रियता के क्रम में ही बी.एस. गुप्ता की पुस्तक 'इण्डिया : प्रोब्लेम्स ऑफ गवर्नेस[14] भी अति महत्वपूर्ण है। इसमें भारतीय न्यायपालिका में न्यायिक सक्रियता की प्रवृति के इतिहास और न्यायिक सक्रियता की विस्तृत विवेचना की गई है। पुस्तक 'इण्डियन ज्यूडशियरी एंड फ्रीडम ऑफ रिलीजन' में भारतीय न्यायपालिका और धार्मिक स्वतंत्रता के बारे विस्तृत चर्चा है।[15]

पुस्तक ''सिबांलिक एक्टिविज्म'': ए ज्यूडिशियल एनकाउंटर विद दी कन्टूर्स ऑफ इंडियाज कम्पेनसेटरी डिस्क्रिमिनेशन पॉलिसी, [16] में भी भारतीय न्यायपालिका न्यायिक सक्रियता और नीति निर्देशक तत्वों के भेदभावकारी नीतियों का अर्न्तसम्बन्ध दर्शाया गया है।

पुस्तक 'हिन्दुइज्म सेक्यूलरिज्म' एंड दी इंडियन ज्यूडिशियरी[17] में भारतीय न्यायपालिका की धर्मनिरपेक्षता व हिन्दुत्व सम्बन्धी धारणाओं को विस्तृत रूप से समझाया गया है।

जी.आर.एस. राव की पुस्तक 'पॉलिटिकल पॉपुलिज्म, एडमिनिस्ट्रेटिव केरियरिज्म एंड ज्यूडिशियल एक्टिविज्म[18] में भारतीय संविधान की योजनाओं, न्यायिक प्रक्रियाओं, जनहित याचिकाओं, वैधानिक संस्थाओं की प्रक्रियाओं इत्यादि के बारे में विस्तृत चर्चा है जो कि भारतीय न्यायपालिका के बारे में सक्रिय राय बनाती हैं। एस.एन. रॉय की पुस्तक ''ज्यूडिशियल रिव्यू एडं फंडामेंटल राइट्स[19] में भारत में न्यायपालिका की न्यायिक सक्रियता के पक्ष का गहन विवेचन किया है और अमेरिकन न्यायिक पुनरावलोकन से भारतीय न्यायिक पुनरावलोकन की तुलनात्मक विवेचन भी इसमें है।

भारतीय संदर्भ में श्री ई.एस. वेंकटरमैया द्वारा संपादित पुस्तक ''ह्यूमन राइट्स इन दी चेंजिग वर्ल्ड 1988[20] में मानवाधिकारों के संदर्भ में न्यायपालिका को देखा गया है। उपेन्द्र बक्शी की पुस्तक ''करेज क्राफ्ट एंड कंटेंशन[21], ए.आर. देसाई (संपादित) पुस्तक वॉयलेशन ऑफ डेमोक्रेटिव राइट्स इन इंडिया[22] नगेन्द्र सिंह की पुस्तक 'एनफोर्समेंट ऑफ ह्यूमनराइट्स[23] का जिक्र भी किया जा सकता है।

के.एल. भाटिया द्वारा संपादित पुस्तक 'ज्यूडिशियल एक्टिविज्य एंड सोशल चेंज[24] और आर. धवन की 'पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन इन इंडिया : एन इनवेस्टिगेटिव रिपोर्ट[25], वी.आर. कृष्णा अय्यर की पुस्तक 'ह्यूमन राइट्स एंड द लॉ[26] और एस.एन. शर्मा द्वारा 'पर्सनल लिबर्टी अंडर इंडियन कॉस्टीट्यूशन[27] में भी न्यायिक सक्रियता और जनहित याचिका का महत्वपूर्ण विश्लेषण किया गया है।

उपेन्द्र बक्शी की पुस्तक 'इनह्यूमन रोंग्स एंड ह्यूमन राइट्सः अनकन्वेशनल एसेज[28], उपेन्द्र बक्शी की ही पुस्तक 'इंडियन सुप्रीम कोर्ट एंड पॉलिटिक्स[29], उपेन्द्र बक्शी की ही संपादित पुस्तक 'द राइट टूबी ह्यूमन[30]' भी मानवाधिकारों व न्यायपालिका इन दोनों पक्षों की विस्तृत विवेचना के लिए उल्लेखनीय है।

अध्याय योजना (Chapterisation of Proposed Research Work)

सम्पूर्ण शोध के दौरान संकलित किये गये तथ्यों एवं उनके विश्लेषण को प्रतिवेदन के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध को निम्न सात अध्यायों में विभक्त किया गया है–

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत विषय प्रस्तावना, उसके प्रयोजन एवं महत्व को परिभाषित किया गया है। न्याय सक्रियता अवधारणा की सैद्धान्तिक परिकल्पना और विवेचना को विश्लेषित किया गया है। विषय के महत्व और शोध की उपयोगिता के संबंध में प्रकाश डाला गया है। इस विषय से सम्बन्धित जो ग्रन्थ, पुस्तकें और सामग्री उपलब्ध हैं, इन प्रमुख ग्रन्थों के विचार सारों और दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला हैं। शोध की आवश्यकता के साथ शोध प्रविधि के सम्बन्ध में भी विचारों का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भारतीय संविधान के उदय, संविधान–विकास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। न्यायिक सक्रियता की अवधारणा की प्रतिस्थापना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न कालों में भारतीय न्याय व्यवस्था की विवेचना की गयी है। इस अध्याय में स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में न्यायपालिका की स्थिति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय न्यायपालिका की स्थिति का विश्लेषण करके भारत में न्यायपालिका के संरचनात्मक स्वरूप के विकास पर दृष्टिपात किया गया है। अध्याय में न्यायपालिका के संरचनात्मक स्वरूप के सैद्धान्तिक विश्लेषण पर प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय में न्यायिक सक्रियता का अर्थ, अवधारणा का उद्‌गम तथा वर्तमान परिस्थितियों में न्यायिक सक्रियता की प्रासंगिकता का अध्ययन किया गया है। साथ ही न्यायपालिका की बदलती भूमिका का वर्णन भी किया जायेगा। इसमें विश्लेषणात्मक पद्धति के साथ–साथ इसकी उपयोगिता पर बल दिया गया है।

पंचम अध्याय में विभिन्न जनहित याचिकाओं का विशेषतः 1990 से लेकर आज तक का अध्ययन किया जायेगा। जिन–जिन याचिकाओं में न्यायपालिका की भूमिका में वृद्वि की हैं, उनका विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। न्यायपालिका ने जिस प्रकार न्यायिक सक्रियता का अनुसरण किया गया है, उसका भी गहन विश्लेषण किया गया है।

षष्ठम् अध्याय में भारतीय शासन व्यवस्था के दो प्रमुख अंगों के मध्य उत्पन्न विवादों का अध्ययन होगा, चूंकि भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था है। न्यायिक सक्रियता के कारण कार्यपालिका की शक्तियाँ सीमित होती है। अतः विवाद होना स्वाभाविक है। अतः उन समस्त विवादों के कारणों का व उनके निवारण के उपायों के बारे में चर्चा की गयी है। साथ ही न्यायपालिका के कार्य क्षेत्र में वृद्धि व कार्यपालिका के क्षेत्र में कमी होने के कारण उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन किया गया है।

सातवें अध्याय में शोध एवं निष्कर्ष के रूप में अध्याय विवेचित किया गया है। इस अध्याय में शोध ग्रन्थ में वर्णित अध्यायों का सार संक्षेप प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अन्तिम अध्याय ही शोध उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किये गये विश्लेषणात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन के निष्कर्षों को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही विषय पर मूल्यांकन करते हुए सुझाव प्रस्तावित किये गए एवं विषय पर एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। भारत में न्यायिक सक्रियता की क्रियान्विति में जो चुनौतियाँ व समस्याएँ प्रस्तुत हो रही है। उन पर समग्र दृष्टिपात किया गया है।

सार रूप में इस शोध के अन्तर्गत विश्लेषणात्मक पद्धति का मूल रूप से प्रयोग करते हुए विषय की गहराई तक जाकर विषय का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। यथा संभव वस्तुनिष्ठ रहकर घटनाओं एवम् विषयों पर सामग्री एकत्रित की गयी है।

सन्दर्भ सूची

1. पायली, एम.वी.; ''कॉस्टीट्यूशनल गवर्नमेन्ट इन इंडिया'' एस. चन्द्र प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
2. ऑस्टिन, ग्रेनविल; ''दी इंडियन कॉस्टीट्यूशन :कॉर्नर स्टोन ऑफ ए नेशन'' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966
3. बसु, डी.डी.; ''कमेंट्री ऑन द कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया'', एन.सी. सरकार, कलकत्ता 1965
4. सीरवई, एच.एम.; ''दी कॉस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया'', 1975
5. कागजी, एम.सी.जे.; ''दी कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया'', 1975
6. पांडे, जे.एन.; ''कॉस्टीटयूशनल लॉ ऑफ इंडिया'', 1988
7. धवन, राजीव और एलिस जेकब; ''इंडियन कॉस्टीट्यूशन : ट्रेड्स एंड इश्यूज'', 1978
8. डायसी, ए.वी.; ''दी लॉ ऑफ दी कॉस्टीट्यूशन'', 1961
9. व्हीयर के.सी.; ''मॉडर्न कॉस्टीट्यूशन'', 1966
10. जैन, यू.सी. और नायर जीवन; ''ज्यूडिशियरी इन इंडिया''
11. जोशी, आर.पी.; ''मानव अधिकार और कर्तव्य'' ए.वी. पब्लिकेशन्स, अजमेर
12. गौतम, रमेशप्रसाद; ''भारत में मानवाधिकार उल्लघंन, संरक्षण, क्रियान्वयन एवं उपचार'' सागर विश्वविद्यालय प्रकाशन
13. नेमा, जी.पी. और शर्मा के.के.; ''मानवाधिकार सिद्वान्त और व्यवहार''
14. गुप्ता, बी.एस.; ''इंडियाः प्रोब्लम्स ऑफ गवर्नेस''
15. बाचेल वी.एम.; ''इंडियन ज्यूडिशियरी एंड फ्रीडम ऑफ रिलीजन'' पूना प्रकाशन, 1975
16. ''सिंबोलिक एक्टिविज्म : ए ज्युडिशियल एनकाउंटर विद दी कन्टूर्स ऑफ इंडियाज कंपेसेटरी डिस्क्रिमिनेशन पॉलिसी''
17. गेलेन्टर, मैरिक; ''हिन्दूज्म, सेक्यूलरिज्म एंड द इंडियन ज्यूडिशियरी'' वोल्यूम 21, न. 4, अक्टूबर 1971, पृ.सं. 467–487

18. राव, जी.आर.एस.; ''पॉलिटिकल पॉपुलिज्म, एडमिनिस्ट्रेटिव केरियारिज्म एंड ज्यूडिशियल एक्टिविज्म''
19. राय, एस.एन.; ''ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेन्टल राइट्स'' ईस्टन लॉ हाउस कलकता, 1974
20. वेंकटरमैया ई. एस.; ''ह्यूमन राइट्स इन दी चेंजिंग वर्ल्ड'' 1988
21. बक्शी, उपेन्द्र; ''करेज क्राफ्ट एंड कंटेंशन'' नई दिल्ली : लांसर इंटरनेशनल, 1987
22. देसाई, ए.आर.; ''वॉयलेशन ऑफ डेमोक्रेटिक राइट्स इन इंडिया'' बम्बई पॉपुलर प्रकाशन, 1986
23. सिंह, नगेन्द्र; ''एनफोर्समेन्ट ऑफ ह्यूमन राइट्स'' ईस्टर्न लॉ हाउस, कलकत्ता, 1986
24. भाटिया, के.एल.; ''ज्यूडिशियल एक्टिविज्म एंड सोशल चेंज'' दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1990
25. धवन, आर.; ''पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन इन इंडिया : एन इनवेस्टिगेटिव रिपोर्ट'', नई दिल्ली, 1981
26. अय्यर, वी.आर. कृष्णा; ''ह्यूमन राइट्स एंड द लॉ'' वेदवाल लॉ हाउस, इंदौर, 1984
27. शर्मा, एस.एन.; ''पर्सनल लिबर्टी अंडर इंडियन कॉस्टीट्यूशन'' दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली 1991
28. बक्शी, उपेन्द्र; ''इन ह्यूमन रोंग्स एंड ह्यूमन राइट्स'' अन्कन्वेंशनल एसेज
29. बक्शी, उपेन्द्र; ''इंडियन सुप्रीम कोर्ट एड पॉलिटिक्स'' ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, 1980
30. बक्शी, उपेन्द्र; ''इंडियन सुप्रीम कोर्ट एड पॉलिटिक्स'' ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, 1980

अध्याय–द्वितीय
भारतीय संविधान एवं न्यायिक व्यवस्था का ऐतिहासिक अध्ययन

संविधान ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। किसी भी देश का को समझने के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सम्यक् ज्ञान आवश्यक हैं। भारतीय संविधान की पृष्ठभूमि में संविधान ऐतिहासिक कालक्रम (संवैधानिक अधिनियम) की चर्चा करते हुए भारतीय न्याय व्यवस्था का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है।

अंग्रेजों के राज्य में एक तिहाई भारत 560 छोटी–छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। उस समय राजनीतिक दृष्टि से भारत अत्यन्त संकीर्ण था। देश में राजनीतिक एकता नहीं थी। छोटे राज्य प्रायः आपस में लड़ते झगड़ते दिखाई देते थे। राजाओं की आपसी लड़ाईयाँ भारत के राजनीतिक जीवन का एकमात्र सिद्धांत था। उनमें संस्कृति के अलावा किसी ढंग के अपनत्व की भावना नहीं थी। हमारे देश में 14 भाषाएँ, लगभग 225 उपभाषाएँ, हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई तीन मुख्य धर्म तथा अनेक सम्प्रदाय थे। अनेक विदेशियों ने आक्रमण किये। अनेक संस्कृतियों से हमारा सम्बन्ध आया। भारतीय संस्कृति का रूप नित्य नूतन बन रहा था।

16 वीं शताब्दी में तथा 17 वीं शताब्दी में पुर्तगाली, फ्रेंच, डच तथा अंग्रेज लोग व्यापार के लिये भारत आये तथा सत्ताधीश बन बैठे। कम्पनी का राजकाज इंग्लैण्ड की संसद में बने कानूनों के अनुसार चलता था। उसमें जैसे–जैसे परिवर्तन होते गये। राजनीतिक दृष्टि से भारत में वैसा ही वातावरण बनता गया। पहले कम्पनी का काम केवल व्यापार से ही सम्बन्धित था, उन्हें इस बात का एहसास था कि एक दिन सत्ता हाथ में लेनी पड़ेगी। सन् 1773 में या 1793 में जो कानून बने, वे बढ़ते हुए शरीर के लिये बदलते हुए परिवर्तन के समान थे। 1833 के कानून द्वारा कम्पनी की सत्ता के जो बिखरे हुए केन्द्र थे, उनमें एक सूत्रबद्धता लायी गई और राजनीतिक दृष्टि से केन्द्रीकरण के दर्शन होने लगे। गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल कम्पनी के अधीन सभी प्रदेशों के लिए कानून बनाने लगे। कौंसिल

में दो प्रकार के रूप दिखाई देने लगे, एक कानून बनाने वाला तथा दूसरा उन पर अमल करने वाला। 1853 के कानून से यह अंतर और भी स्पष्ट हो गया। 1858 के गदर के बाद, जो शासन व्यवस्था कायम की गई, उसमें अत्यधिक परिवर्तन किये गये। इसमें कम्पनी का राज खत्म हुआ और भारत सरकार नामक नई शासन व्यवस्था का सृजन हुआ। 1861 के कानून में यह बात मान ली गई कि प्रजा के प्रतिनिधि शासन व्यवस्था में रहना चाहिये तथा उन प्रतिनिधियों को नियुक्त किया जानें लगा। इनमें आधे सरकारी तथा आधे प्रतिनिधि गैर सरकारी थे। अग्रेंजों द्वारा यह कौंसिल इसलिये बनाई गई कि असंतोष भड़क उठने तथा विद्रोह हो जाने से पहले उसका स्वरूप ख्याल में आ जावे। कौंसिल कानून बनाने वाली संस्था है, वह विधान निर्मात्री है, यह बात स्पष्ट हो गई। इस बात को भी मान्यता मिल गई कि कानून कौंसिल के माध्यम से स्वीकृत किये जाने चाहिये। 1858 के बाद यह निश्चित हो गया कि राज्य सिद्धांतों के अनुसार चलाया जायेगा।

शिक्षा के कारण देश में जागृति फैली। जनता ने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि आधुनिक राज्य जन प्रतिनिधियों द्वारा संचालित राज्य होता है। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। अंग्रेजी राज्य व्यक्तिगत नहीं था इसलिए प्रजा के कामों को भी अपरिहार्य रूप से सामूहिक होना पड़ा। चारों ओर राजकीय अधिकारों के सम्बन्ध में जागृति फैलने लगी। सन् 1858 से भारत में एक नये युग की शुरूआत हुई। देशी राजा भी ठण्डे हो गये। उन्हें यह अनुभव हुआ कि उन्हें भी किसी के इशारों पर चलना पड़ता है। भारत की स्थिति में जो परिवर्तन हो रहा था, उसका उन पर असर पड़ने लगा। भारतीय राजनीति तथा भारतीय जनता की आकांक्षाओं को एक निश्चित दिशा प्राप्त हुई। यद्यपि यह उद्देश्य 1861 के विधेयक में नहीं था, फिर भी उसके जरिये एक नई दिशा की ओर कदम बढ़े। भारत के भविष्य का तानाबाना अग्रेंजी राजनीतिक सिद्धांतों की सहायता से तैयार हो रहा था। कौंसिल के सदस्यों की यद्यपि नियुक्तियां ही हुआ करती थी, परंतु उसके पहले कई संस्थाओं से पूछताछ कर ली जाती थी। सन् 1861 का भारतीय परिषद् अधिनियम, भारत की सवैधानिक प्रगति में बाधा डालने वाला अधिनियम था। '1861 के भारतीय परिषद् अधिनियम' को कॉमन सदन में प्रस्तावित करते हुए सर चार्ल्स

वुड ने यह स्पष्ट घोषणा की, कि ''भारत की तत्कालीन अवस्था में प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना असंभव है।'' उसने कामन सदन में यह भी शिकायत की कि इसके निर्माताओं के विरोधी इरादों के बावजूद परिषद एक विवाद करने वाली सभा या संसद बन गई है। इसलिए इन परिषदों का क्षेत्र केवल व्यवस्थापन तक सीमित था। सर चार्ल्स बुड ने ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि इस परिषद को एक विवाद करने वाली सभा बनाने का उसका कोई इरादा नहीं है। इसलिए 1861 के अधिनियम में यह स्पष्ट रूप से उपबन्ध रखा गया कि कानूनी परिषदें केन्द्र तथा प्रान्तों में विधेयकों को कानून बनाने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं करेंगी।[1]

सन् 1892 के कौंसिल विधेयक में प्रतिनिधि तत्व को मान लिया गया। उक्त अधिनियम में प्रांतीय विधान परिषदों को नए कानून बनाने और पुराने कानूनों को आवश्यकतानुसार रद्द करने का अधिकार दिया गया, परंतु इसके लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति पहले प्राप्त करनी पड़ती थी। गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद के अधिकारों में प्रान्तीय परिषदों के इन अधिकारों से कोई कमी नहीं हुई।[2]

मार्लेमिन्टो के सुझावों पर आधारित 1909 के विधेयक से यह प्रतिनिधित्व स्पष्ट एवं व्यापक बन गया। फलस्वरूप कौंसिल के कामकाज का संतुलन बदल गया। इस एक्ट का उद्देश्य भारतीय जनता को विधान परिषदों में कोई प्रतिनिधित्व देना नहीं था। भारत सचिव, चार्ल्स वुड ने इस पर विचार किया, परंतु उसने भारतीयों को प्रतिनिधित्व देना असंभव बताया। इतना होते हुए भी चार्ल्स वुड ने देशी राजाओं, भारतीय सामन्तों (जागीरदारों) और उच्च वर्ग के भारतीयों के कानून बनाने के साथ–साथ मिलाना आवश्यक समझा।[3]

जनता की इच्छाओं का प्रभाव बढ़ने लगा। अपने प्रतिनिधियों के जरिये अपने दुःख अपनी आकांक्षा और माँगो को प्रस्तुत कराने की जागृति जनता में आई। प्रतिनिधि भी इन बातों पर ध्यान देना अपना प्रथम कर्तव्य समझने लगे। कुछ प्रान्तीय कौंसिलों में गैर सरकारी सभासदों का बहुमत हो गया। अंग्रेजों को जो कुछ करना पड़ा रहा था, वह राजनीतिक संस्थाओं के आन्दोलन के कारण था।

सन् 1909 के कानून द्वारा लगभग 30,000 लोगों को मतदान का अधिकार मिला। यद्यपि प्रत्यक्ष जिम्मेदारी एवम् सत्ता नहीं मिली। लेकिन प्रतिनिधि जो आलोचनाएँ किया करते थे, उनका असर होता था। शासन के कारोबार का रूख धीरे–धीरे जनता की ओर होने लगा। स्वतंत्र सदस्य कौंसिलो में जो प्रस्ताव रखते थे, उन पर चर्चा होती। उसकी रिपोर्ट अखबारों में छपती तथा जनता को राजनीतिक शिक्षा मिलती। जनता की जो अपेक्षाएँ थी और जो कुछ उन्हें मिलता था, उनमें बहुत अंतर हुआ करता था, इसलिए असंतोष बढ़ने लगा तथा आन्दोलन होने लगे। 1909 के बाद जनता के कुछ लोगों को यह समझ में आने लगा कि आधुनिक एवम् प्रतिनिधिक राज्य का काम कैसे चलता है। वे लोग राज्य की प्रक्रिया समझने लगे थे। उनके द्वारा की जाने वाली आलोचना का उत्तर सरकार को विवश होकर देना पड़ता था। कभी–कभी उन्हें उनकी बातें मान लेना पड़ती थी। इन सभी कारणों से भारतीय राजनीति की दिशा निश्चित हो गई।

गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों ने विधान परिषदों की कार्यवाहियों के नियम विनियम इस तरह बनाए कि उनके द्वारा सदस्यों के अधिकार और अधिक सीमित हो गये। इन नियमों द्वारा अनेक उग्रवादीं राष्ट्रीय नेताओं को चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया गया। इसलिये इन सुधारों द्वारा विधान परिषदों को कोई प्रभावशाली शक्ति नहीं दी गई, अपितु उनको केवल सलाह देने वाली समितियाँ बनाया गया। इसी कारण **कूपलेण्ड** ने लिखा है– ''ये विधान परिषदें संसद न होकर दरबार थी।[4] उनके हाथ में मनमानी करने वाली सरकार को बदलने की कोई शक्ति नहीं थी। इन सुधारों के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए **सर बार्टल फेयर** ने कहा ''भारतीय सरकार अब भी पूर्ण रूप से एक निरंकुश राजसी दरबारी सरकार के समान बनी रही जो राजा की भाँति अपने दरबारियों से परामर्श लेती थी, पंरतु उनके मत पर अनुसरण करने को विवश नहीं थी। इसके परिणाम स्वरूप दरबारी असंतुष्ट और बेचैन होने लगे, तंत्र संकोचपूर्ण तथा ढीला हो गया।[5]

1914 के विश्व महायुद्ध की घोषणा से भारतीय जनता के राजनीतिक विचार तथा उनकी आशाएँ तीव्रता से बढ़ी। भारत की राजनीतिक परिस्थिति की जाँच पड़ताल करने के लिए 1917 में मान्टेग्यू–चेम्सफोर्ड की नियुक्ति हुई, उन्होंने भारत

की राजनैतिक परिस्थिति का अध्ययन कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। वह रिपोर्ट इस बात पर आधारित थी कि धीरे–धीरे साम्राज्य के अंतर्गत भारत में उत्तरदायीपूर्ण राज्य की स्थापना की जाये।

इसके बाद 1919 का अधिनियम बना। इसके द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष जिम्मेदारी तथा प्रत्यक्ष सत्ता कायम नहीं हुई थी। फिर भी शासन का कुछ काम लोक प्रतिनिधियों में से नियुक्त मंत्रियों द्वारा होने लगा। उन्हें शासन का काम प्रत्यक्ष रूप से करने का अवसर प्राप्त हुआ। 1919 के अधिनियम के बाद अंग्रेजों के हाथ में अनियंत्रित सत्ता नहीं रह सकती थी इसलिए इसके बाद स्वाभाविक रूप से सत्ता किस क्रम से छोड़ी जाय? इस प्रश्न को महत्व दिया जाने लगा। 1919 के कानून ने भारतीय राजनीति के ध्येय को अधिक सुनिश्चित बना लिया, जो कहा करते थे कि भारतीयों को कुछ भी मत दो। वे अब यह कहने लगे कि दो, लेकिन धीरे–धीरे दो। योग्यता देखकर जिम्मेदारी दी जानी चाहिये। इस तर्क के जवाब में जब कहा जाता था कि प्रत्यक्ष शासन करने के अनुभव से ही जिम्मेदारी का भाव पैदा होता है तो अग्रेंजों के पक्षपाती निरूत्तर हो जाते थे। उत्तरदायी सरकार यानि वह सरकार जो जनप्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेदार हो अर्थात् जो सत्ता पर हैं, उनके काम यदि पसंद न आये तो उन्हें हटाने का अधिकार जनता को या उनके प्रतिनिधियों को रहे। इस अधिकार का उपयोग जो सत्तारूढ़ है, उनके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाकर या फिर उस दल को आम चुनाव में हराकर किया जा सकता है।

तदनंतर जो चुने जायेंगे, वे सत्तारूढ़ होंगे। इस प्रकार सभी ने इंग्लैण्ड के संसदीय जनतंत्र को ध्येय रूप में स्वीकार कर लिया था।

माण्टफोर्ड रिपोर्ट में कहा गया है कि यदि उत्तरदायी सरकार की योजना सफल होना है तो जिससे राष्ट्र का हित हो उसके प्रति प्रत्येक की निष्ठा समर्पित होनी चाहिए तथा बहुमत की बात शांतिपूर्वक मानी जानी चाहिए। बहुमत को चाहिए कि वह सहिष्णु हो और अल्पमत को चाहिए कि वह धीरज न खोए तथा जल्दबाजी न करें। इसका यह अर्थ है कि व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सार्वजनिक स्वार्थ अधिक महत्वपूर्ण एवम् श्रेष्ठ है, इस बात को सभी माने। जिम्मेदार सरकार की योजना में

जनता के अधिकारों की रक्षा मुख्य बात रहती है। प्रथम महायुद्ध के बाद यह भावना प्रबल हो गई थी कि अंग्रेजों का राज्य नहीं चाहिये। मान्टेग्यू रिपोर्ट में कहा गया था कि अब यह बात साफ–साफ कहने का समय आ गया है कि लाचारी, शरण जाने की प्रवृत्ति का लोप हो, आत्म विश्वास एवं पराक्रम की भावना प्रबल बने, जातीय एवम् सम्प्रदायगत भावनाओं का स्थान राष्ट्रीय भावना ग्रहण करे। 1919 के विधेयक से पहले केन्द्रीय शासन प्रमुख बात थी और वह जिस प्रमाण में सत्ता देता, उसी प्रमाण में प्रान्तीय सरकारों को कारोबार में हिस्सा मिला करता था।

1919 के कानून द्वारा प्रान्तों को विशिष्ट अधिकार सौंपे गये तथा शेष सत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथों में रखी गई, लेकिन साधारण रूप से देख रेख नियंत्रण तथा मार्गदर्शन का काम केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहा। प्रान्तों को किन–किन साधनों से आमदनी मिलेगी यह भी निश्चित कर दिया गया। संयुक्त राज्य के दोनों लक्षण अधिकारों तथा आमदनी का बंटवारा इस विधेयक में दिखाई देते थे। मतदाताओं की संख्या 30 हजार से 60 लाख तक पहुंच गयी। विधानसभा में सामान्यतया चुने गये प्रतिनिधियों की संख्या 304 हो गई। केन्द्रीय धारा सभा में 145 में से 104 प्रतिनिधि चुने जाने वाले हो गये परंतु मतदान का अधिकार सीमित था। जो लोग 60 रूपये लगान देते थे या जो आयकर देते थे, केवल वे ही धारा सभा के मतदाता बनें। पहला चुनाव 1921 में हुआ उसमें देश की प्रमुख पार्टी कांग्रेस ने हिस्सा नहीं लिया।

1921 से 1937 तक इस विधेयक द्वारा अनेक परिवर्तन हुए। इसके द्वारा हमें शासन का अनुभव प्राप्त हुआ। कौंसिल की चाहे कितनी भी निंदा क्यों न की गई लेकिन वह हमारे राजनीतिक जीवन का एक भाग बन गई। इससे महत्वाकांक्षा को एक प्रकार का नया मोड़ मिला। हमारे अनुभव का क्षेत्र बढ़ा। साथ ही अधूरी जिम्मेदारी के कारण हमारे मन में क्षोभ जाग उठता था। जिसके परिणाम स्वरूप तुरंत सत्ता हमें चाहिये, यह भावनाप्रबल हो उठी। द्वैध शासनकाल में चार बार निर्वाचन हुए। मतदान करने वालों की संख्या बढ़ी, 93 लोग मंत्री बने, 150 व्यक्ति गवर्नरों की कौंसिल के सदस्य बनाये गये तथा 1000 से अधिक लोगों को केन्द्रीय एवम् प्रांतीय धारा सभाओं का अनुभव प्राप्त हुआ। विधानसभा में सभापति की बात

मानकर चलना चाहिये, कामकाज चलाने की परम्परा का आदर किया जाना चाहिये आदि बातें मोटे रूप में मानी जाने लगी। विरोध तो किया जाता था, लेकिन उसमें अशिष्टता नहीं होती थी। इस काल में अनेक सामाजिक कानून पारित किये गये।

देश में यह माँग प्रबल हो रही थी कि हमारे हाथ में अधिक से अधिक सत्ता आये। देश में असहयोग का वातावरण था। सत्याग्रह जारी था, लेकिन संसदीय जीवन शुरू हो गया था। विधानसभा में बहस सुनने के लिये बड़ी संख्या में लोग जाया करते थे। जिम्मेदार शासन व्यवस्था की और कदम उठाये जा रहे थे। जनता में असंतोष बढ़ रहा था। प्रगतिशील संविधान की माँग जोरों से उठने लगी थी। इस वजह से साइमन कमीशन आया और उसने अपनी रिपोर्ट पेश की। यह 1930 में प्रकाशित हुई। इसके बाद गोलमेज परिषदें हुई, वहाँ जो विचार विमर्श हुआ, उसका अनुभव 1935 के कानून में आया।

संयुक्त राज्य की दृष्टि से साइमन कमीशन ने कुछ सुझाव दिये, जो 1935 के विधेयक में दूसरे रूप में सामने आये। प्रांतीय सरकारें एक सीमा तक स्वायत्त बना दी गई। केन्द्रीय शासन में परिवर्तन किये गये, लेकिन सत्ता हस्तांतरित नहीं हुई। विधेयक में यह योजना थी कि जब देशी रियासतों और संघ राज्य संबंधी सम्पूर्ण योजना पर अमल हो तो सत्ता हस्तांतरित की जाये। 1935 के विधेयक के अनुसार पहला चुनाव 1937 में हुआ। जनप्रतिनिधियों कों मंत्रिमण्डल में लिया गया। प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल सत्तारूढ़ हुए। प्रान्तों में उत्तरदायी शासन व्यवस्था शुरू हुई। उत्तरदायी शासन धीरे–धीरे मूर्त रूप धारण कर रहा था। जनता की आकांक्षाएँ बढ़ रही थी। थोड़ा–थोड़ा देने से भूख नहीं मिटती वरन् बढ़ती है। इसका अनुभव आ रहा था। केन्द्रीय सत्ता जनमत के प्रति उत्तदायी नहीं थी। इसलिए प्रान्तीय सरकारें अधिक लोक हितकारी काम नहीं कर पाती थी।

केन्द्रीय धारा सभा के निर्वाचन संघ और प्रतिनिधि बढ़ते गये। 1909 से 1919 तक कुल 68 प्रतिनिधि थे, उनमें से 27 व्यक्ति चुने हुए होते थे तथा मतदाता की संख्या 4818 थी। सन् 1919 से 1935 तक कुल 145 प्रतिनिधि थे, जिनमें से 104 चुने हुए तथा 11,42,948 मतदाता थे। सन् 1935–1947 तक लगभग यही

स्थिति रही। 1909 के बाद धीरे–धीरे भारतीयों को कार्यकारिणी में लिया जाने लगा। 1919 के अधिनियम के बाद इनकी संख्या बढ़ी। 1935 तक वह आधे तक पहुंची। मई 1946 में संविधान सभा की घोषणा हुई। भारत में संविधान सभा की माँग राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग थी। सन् 1922 में महात्मा गांधी ने कहा था कि भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार होगा। इसे मूर्तरूप देने का कार्य पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया। तदनुसार कांग्रेस ने औपचारिक रूप में घोषणा की यदि भारत को आत्मनिर्णय का अवसर मिलता है तो भारत के सभी विचारों के लोगों की प्रतिनिधि सभा बुलायी जानी चाहिये, जो सर्वसम्मत संविधान का निर्माण कर सके। यही संविधान सभा होगी। सन् 1938 में कांग्रेस ने इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि एक स्वतंत्र देश के संविधान निर्माण का एकमात्र तरीका संविधान सभा है। सिर्फ प्रजातंत्र तथा स्वतंत्रता में विश्वास न रखने वाले ही उसका विरोध कर सकते है। यद्यपि ब्रिटिश सरकार संविधान सभा की माँग को स्पष्टतया स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थी, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध की आवश्यकताओं और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों ने उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया। अगस्त 1940 के प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि भारत का संविधान स्वभावतः स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।

सन् 1942 में क्रिप्स योजना द्वारा ब्रिटेन में यह स्वीकार कर लिया गया कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन होगा। जो युद्ध के बाद भारत के लिए संविधान तैयार करेगी लेकिन भारतीयों द्वारा अन्य आधारों पर क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया गया। सन् 1946 में केबिनेट मिशन योजना मे भारतीय संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर इसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया। केबिनेट मिशन योजना के अनुसार, जुलाई 1946 में संविधान सभा के चुनाव हुए। संविधान सभा की कुल सदस्य संख्या 389 निश्चित की गई। इसमें से 292 सदस्य प्रांतीय विधानमण्डलों एवं 4 चीफ कमिश्नरों के प्रांतों द्वारा निर्वाचित हुए थे। 93 सदस्य देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे, जो नरेशों द्वारा मनोनीत किये गये थे। देश के विभाजन का प्रस्ताव स्वीकृत होने पर संविधान सभा का पुनर्गठन किया गया। कुल सदस्य संख्या 324 निर्धारित की गई। 235 स्थान ब्रिटिश प्रांतों एवं 89 स्थान

देशी रियासतों के लिये निर्धारित किये गये। मुस्लिम लीग के सदस्यों ने भाग नहीं लिया।

श्री वी.पी. मेनन ने लिखा है कि ''कांग्रेस प्रधान की जवाहरलाल नेहरू ने 6 जुलाई 1946 से शुरू होने वाले **कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन** में कहा कि ''जहाँ तक मैं समझता हूँ कांग्रेस के लिये किसी अन्तः कालीन या लम्बी योजना मानने का प्रश्न नहीं है। यह केवल उसके संविधान सभा में दाखिल होने का प्रश्न है। कांग्रेस तब तक संविधान सभा में रहेगी जब तक वह उसमें रहना भारत के हित में समझेगी और जिस समय वह समझेगी कि इससे उसके उद्देश्य को हानि पहुँच रही है, तो वह बाहर आ जायेगी। हम वहाँ जाकर जो कुछ करेंगे उसके लिये हम बिल्कुल स्वतंत्र होंगे। प्रांतो के समूहों के संबंध मे नेहरू ने कहा कि बड़ी भारी संभावना यह है कि कोई ग्रुप नहीं बनेगें।[6]

ब्रिटिश प्रांतो के निर्वाचित सदस्यों में से 208 कांग्रेस, 73 मुस्लिम लीग एवं 15 स्थान स्वतंत्र एवं अन्य दलों को मिले थे। चूंकि कांग्रेस ने अधिकांश सीटों पर विजय प्राप्त की थी, अतः विन्सटन चर्चिल ने यह मत व्यक्त किया कि ''संविधान सभा केवल भारत के एक बहुमत समुदाय का ही प्रतिनिधित्व करती है, अतः संविधान सभा दूसरे शब्दों में केवल हिन्दुओं का संगठन है।[7]

संविधान निर्णय के कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिये संविधान सभा ने अनेक समितियाँ नियुक्त की थी। इनकी संख्या 15 से अधिक थी। इनमें से 8 समितियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। ये समितियाँ नियम समिति, संचालन समिति, प्रारूप समिति, संघीय विषय सूची समिति, संघ संविधान समिति, प्रांतीय संविधान समिति एवं देशी रियासतों संबंधी समिति इनकी अधिकतम संख्या 30 थी। इनमें से 7 समितियाँ कम महत्व की थी जैसे सदन एवं कर्मचारी समिति। इनके दायित्व सामान्य प्रकार के थे। कुछ समितियों की सदस्य संख्या 80 तक थी। परामर्शदात्री समिति की सदस्य संख्या 64 थी। इस समिति की दो उप समितियाँ थी मौलिक अधिकार एवं अल्पसंख्यकों से संबंधित समितियाँ।

संविधान सभा में पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, श्री के.एन. मुंशी, श्री गोपालास्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, पट्टाभिसीता रमैया, श्रीमती दुर्गाबाई, श्री ठाकुरदास भार्गव, मौलाना अबुलकलाम आजाद का महत्वपूर्ण योगदान रहा। संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए 29 अगस्त 1947 को डॉ0 भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति का निर्माण किया गया। सर्वश्री एन. गोपालस्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी, टी.टी. कृष्णमाचांरी, मोहम्मद सादुल्ला, एन. माधवराव एवं डी.पी. खेतान इस समिति के सदस्य थे। प्रसिद्ध विधिवेत्ता एवम् न्यायशास्त्री श्री बी.एन. राव समिति के सवैधानिक परामर्शदाता थे। श्री एन. मुकर्जी ने संविधान का प्रारूप तैयार किया था। पं. नेहरू, लौहपुरूष सरदार पटेल का इन संविधान शास्त्रियों को निरंतर मार्गदर्शन प्राप्त था। संविधान सभा में लगभग 250 सदस्यों ने भाषण दिये, जिनमें से 200 से अधिक सक्रिय रूप से बोले। संविधान सभा का पहला अधिवेशन 9 दिसम्बर 1946 से 23 दिसम्बर 1946 तक, दूसरा अधिवेशन 20 जनवरी 1947 से 25 जनवरी 1947 तक, तीसरा अधिवेशन 22 अप्रैल से 2 मई 1947 तक चला। संविधान सभा के कुल 11 सत्र हुए, जो 165 दिन तक निरंतर चलते रहे। प्रारूप समिति ने 21 फरवरी 1948 को 141 दिनों तक अथक परिश्रम कर प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तथा संविधान का प्रारूप देश की जनता के विचारार्थ प्रचारित किया। इसमें 7625 संशोधन प्रस्तावित किये गये, इनमें से 2473 संशोधनों पर विचार हुआ। संविधान सभा ने 26 नवम्बर 1949 को संविधान स्वीकृत किया, जो 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। इस प्रकार संविधान सभा ने 2 वर्ष 11 माह 18 दिन कार्य किया। पूर्ण संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 8 परिशिष्ट थे।

संविधान से तात्पर्य ऐसे दस्तावेज से हैं, जिसकी एक विशिष्ट विधिक पवित्रता होती है, जो राज्य सरकार के अंगो (कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका) के ढाँचे को और उनके प्रमुख कार्यो को निर्दिष्ट करता है और उन अंगो के संचालन के लिए मागदर्शक सिद्धान्तों को विहित करता हैं।[8]

भारत के संविधान मे एक मौलिक दर्शन को प्रस्थापित किया हैं। यह दर्शन, व्यक्ति और समाज के हितों के मध्य एक अद्भुत समन्वय पर आधारित है, वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की सम्भावनाएँ सुनिश्चित करने और एक सर्वांग–विकसित समाज का निर्माण करने के संकल्पों को एक साथ उद्घोषित करता है।

संविधान द्वारा अंगीकृत, समन्वयकारी दर्शन का यह परिणाम है कि इसके द्वारा राजनीतिक दर्शन में सामान्यतः टकरावपूर्ण मानी जाने वाली इकाईयों, व्यक्ति व समाज के मध्य किसी भी टकराव को मान्यता प्राप्त नहीं हुई है, अपितु इनके मध्य अनिवार्य पारस्परिकता को स्वीकार किया गया है।

भारतीय संविधान ने, संवैधानिक दर्शन को मूर्त रूप प्रदान करते हुए व्यक्तिगत गरिमा की सुनिश्चित करने के प्रयोजन से, संविधान के भाग तीन मे मौलिक अधिकारों की घोषणा की हैं और सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय को सुनिश्चित करके एवं सम्पूर्ण समाज के निर्माण के राज्य के दायित्व को संविधान के भाग चार में, राज्य नीति निर्देशक तत्वों के रूप में अभिव्यक्ति की है।

संवैधानिक दर्शन की दृष्टि से मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के मध्य किसी नैसर्गिक टकराव की खोज को उचित नहीं कहा जा सकता। संविधान के ये दोनों भाग, क्रमशः व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का वर्णन करते हुए नकारात्मक निर्वचनों का आरोपण करते है व सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन के उद्देश्य के राज्य पर आरोपित अकारात्मक दायित्वों को व्यक्त करते है। इस प्रकार वे एक दूसरे के विरोध मे नहीं है, अपितु अनिवार्यता है।

भारत में, न्यायपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य, हुआ टकराव मौलिक अधिकारों व नीति निर्देशक तत्वों के मध्य कथित टकराव से प्रभावित रहा है। इस स्थिति को वस्तुतः दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है कि भारत में समय–समय पर व्यवस्थापिका व न्यायपालिका दोनों ने, संविधान के मूल समन्वयवादी दर्शन की उपेक्षा करके, मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के मध्य टकराव को वास्तविक मान लिया।

इसे भारतीय संवैधानिक विकास की एक सुखद् परिणति कहा जा सकता है कि न्यायपालिका व व्यवस्थपिका दोनों ने अन्ततः संवैधानिक दर्शन के समन्वयवादी स्तर को स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के मध्य टकरावों का शमन कर लिया है।

भारत में संवैधानिक विकास की प्रवृत्तियों संसद द्वारा अपनी सर्वोच्चता की उद्घोषणा और स्वयं में अनियन्त्रित संविधायी शक्तियों की प्रतिष्ठा के आग्रह और न्यायपालिका द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के संव्यवहार द्वारा संसद के इस आग्रह को नियंन्त्रित, सीमित व मर्यादित करने के प्रयत्नों द्वारा निर्धारित हुई।

भारत में हुए संवैधानिक विकास में संसद और न्यायपालिका क्रमशः संसद की सर्वोच्चता व संविधान की सर्वोच्चता के प्रतीक रहे है। अब तक हुए संवैधानिक विकास का इतिवृत्त इस स्थिति का साक्षी है कि संसद के विपरीत आग्रहों के पश्चात् भी, भारत में संविधान की सर्वोच्चता का सिद्धान्त संवैधानिक व्यवस्था के मूल आधार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि भारत के न्यायालयों द्वारा स्वीकार किये गये गतिशील दर्शन ने संविधान की सर्वोच्चता को, संविधान की जड़ता के रूप में स्थान्तरित नहीं होने दिया। भारतीय न्यायपालिका ने, परिस्थितियों के अनुकूल, संविधान को स्थान्तरित और रूप–बोधित करने की संसद की शक्ति को मान्यता देकर किन्तु साथ की संसद की शक्ति के संव्यवहार पर संविधान के मूल–प्रारूप की धारणा के माध्यम से, अन्तर्निहित सीमाएँ और नियन्त्रणों की अनिवार्यता को आरोपित करके संविधान को सर्वोच्चता और संविधान को जीवन्तता के मध्य समन्वय का स्वर्णिम सूत्र खोज लिया है।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन के माध्यम से ओर उसके सन्दर्भ में हुए संवैधानिक विकास के स्वरूप व प्रकृति का आकलन करने की दृष्टि से संविधान के सत्रहवें, चोबीसवें, पच्चीसवें, अड़तालीसवें, बयालीसवें, तेतालीसवें व चंवालीसवें संविधान संशोधन तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा ए.के. गोपालन, शंकरी प्रसाद, सज्जन सिंह, गोलकनाथ, केशवानन्द भारती तथा मिनर्वा मिल्स आदि वादों में दिये गये निर्णयों का स्थापित महत्व है।

यह नहीं माना जा सकता कि भारत में संवैधानिक विकास की यात्रा का अन्तिम चरण प्राप्त कर लिया गया है। संवैधानिक विकास की प्रक्रिया अभी भी प्रतिमान है। यह स्थिति वैसे वातावरण में ओर भी महत्वपूर्ण है, जबकि संसद में एक दल के प्रचष्ठ समर्थन ओर उस दल विशेष में नेतृत्व की निर्णायक व सर्वोच्च स्थिति के कारण भारत में संसदीय प्रणाली के स्वरूप व व्यवहार में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगत हुए है, दूसरी ओर विगत वर्षो में भारत में संसदीय प्रणाली के स्थान पर, शासन की अध्यक्षात्मक प्रणाली को प्रतिस्थापित करने का आग्रह भी विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्ति प्राप्त करता रहा है।

''भारतीय न्याय व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि''

एक स्वतंत्र, निष्पक्ष, सुदृढ़ और सुव्यवस्थित न्यायपालिका प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यह सरकारी अधिकारियों की स्वेच्छाचारी नीति को निंयत्रित ही नही करती, बल्कि नागरिकों के मानवाधिकारों को संरक्षित करने में भी अहम भूमिका निभाती है। संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की नाजुकता को देखते हुए न्यायपालिका का दायित्व और भी बढ़ जाता है।

''संविधान के निर्माता एकता व विध्वंसकारी तत्वों के विरोधाभासी दायित्वों के बारें में पूर्णतः जागरूक थे। इन शक्तियों द्वारा इतिहास के सीमाहीन गलियारों में वर्चस्व की लड़ाई लड़ी गई। इन विध्वंसकारी शक्तियों में स्थानीय परम्पराएँ क्षेत्रीय महाराजा और प्रथाओं व विधियों का ऐसा जंगल था, जिन्होंने राष्ट्र के अंदर राष्ट्रों का निर्माण किया।[9]

पारस्परिक परिप्रेक्ष्य के अलावा एक अन्य विचार अध्यक्षात्मक व संसदात्मक प्रणालियों में उपयुक्त शासकीय मॉडल के चयन का था। यूरोप मे माण्टेस्क्यू और लोक तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में मेडीसन जैसे विचारकों की यह मान्यता थी कि शक्ति की विभाजन व्यवस्था में कानूनी प्रक्रिया एवं न्याय व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए आवश्यक है कि शक्ति विभाजन के मूल सिद्धान्त को अपनायें।

न्यायपालिका की शक्तियों को उचित तरीके से निश्चित करें।[10] भारत में न्यायपालिका की स्वतंत्रता को मानते हुए भी संसदीय मॉडल को चुना गया।

न्यायिक प्रक्रिया: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत में न्यायिक प्रक्रिया ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मशास्त्रों व स्थानीय प्रथाओं दोनों पर आधारित रही है। प्राचीन धर्मशास्त्रीय परम्परा के भारतीय विचारकों में मुख्यत मनु, शुक्र और कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था के बारे में भी विस्तृत चर्चा की है। तीनों विचारकों ने राजा को न्याय का स्त्रोत माना है।[11]

कौटिल्य ने अपने 'ग्रन्थ अर्थशास्त्र' में राजा को न्याय का स्त्रोंत माना है और उसे 'न्यायपालिका का अध्यक्ष' कहा है। अपील की दृष्टि से राजा ही सर्वोच्च न्यायालय है। आचार्य कौटिल्य ने न्याय की स्थापना पर पर्याप्त जोर दिया है। उनके अनुसार राजा विभिन्न न्यायालयो की स्थापना करता है। वह न्याय के अनुसार अपराधियों को दण्ड देता है। राजा को जितनी भी शक्तियाँ एवं उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं, उनका औचित्य यही है कि वह न्याय की स्थापना करें।[12]

''शुक्राचार्य ने राज्य व्यवस्था में राजा को न्याय का प्रवर्तक माना है और उससे अपेक्षा की है कि न्याय परायण होकर प्रजा का परिपालन करे।'' इसके लिए राजा को विभिन्न न्यायालयों की स्थापना कर न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[13] ''शुक्रनीति में राजा को विधि का स्त्रोत नहीं माना गया है, किन्तु सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में न्यायानुसार दण्ड देना उसका कर्तव्य निश्चित किया गया है। न्याय की दृष्टि से राजा को निर्देश दिया है कि वह सभा में समुचित विचार–विनिमय के उपरान्त न्यायिक निर्णय करे।''

शुक्र व कौटिल्य दोनों ने कहा है कि ''कानून और नैतिकता ने ही विश्व को समग्र विकास दिया है।[14]

व्यवहार में, साम्राज्य युग व मध्ययुगीन राजाओं के काल में धर्मशास्त्र व स्थानीय प्रथाओं के मिश्रण से न्याय प्रक्रिया चलती रही। मध्य युग या मुस्लिम प्रभुत्व

काल में अरबी, फारसी व कुरान के प्रावधानों को कहीं–कहीं मिश्रित किया जाता, परन्तु प्राचीन प्रथाओं की, कम से कम स्थानीय स्तर पर न्याय में उपेक्षा नहीं की गई।

भारत की न्यायिक व्यवस्था का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

1. प्राचीन भारत में न्यायपालिका :–

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में न्याय को राज्य के कार्यो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। राज्य से यह अपेक्षा को गई कि वह व्यक्तियों तथा समाज के विरूद्व किये गये अपराधी के प्रति निर्णय लेने में सक्षम न्यायालयों की स्थापना करे। न्यायपालिका को शासन का एक अनिवार्य अंग ही स्वीकार नहीं किया गया, अपितु न्यायपालिका के स्वतन्त्र चरित्र पर भी ध्यान दिया गया। लगभग सभी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में शासक से यह अपेक्षा की गई कि वह या तो स्वयं न्याय का कार्य सम्पन्न करे अथवा विद्वान, सुयोग्य और धर्म–मर्मज्ञ व्यक्तियों को इस कार्य के लिए नियुक्त करे।

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि न्यायालयों के कार्यों में अथवा न्यायिक निर्णयों को प्रभावित करने हेतु किसी भी प्रकार का अनुचित राजकीय हस्तक्षेप वर्जित था। न्यायालयों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे धर्म और विधि के अनुसार लोगों की न्याय प्रदान करें। व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों अथवा पक्षपात को न्यायिक प्रक्रिया में स्वीकार नहीं किया गया।[15] जहाँ न्यायाधीशों से यह अपेक्षा की गई कि वे निर्भीक विधि और धर्म के अनुसार अपराधियों को दण्डित करें, वहीं उनसे यह भी अपेक्षा की गई कि वे और निष्पक्ष भाव से अपनी भूमिका का निर्वाह करे और न्यायिक प्रक्रिया में व्यक्तिगत सम्बन्धों मे प्रभावित न हों।

मनुस्मृति में न्यायिक कार्यों में पक्षपात के विरूद्ध शासक को गंभीर चेतावनी दी गई ओर दण्डनीय को दण्डमुक्त करने अथवा अदण्डनीय को दण्डित किये जाने के गम्भीर दुष्परिणामों का संकेत किया है।[16]

भारतीय ग्रन्थों में न्यायालयों की प्रक्रिया को भलीभाँति निर्धारित किये जाने का प्रतिपादन किया गया है और आपराधिक और दीवानी दोनों प्रकार के मामलों मे पक्षकारों को अपना पक्ष प्रस्तुत करने देने का समुचित अवसर, न्यायिक निर्णयों की एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा के रूप मे स्वीकार किया गया है।

मनुस्मृति में इस बात पर बल दिया गया है कि विवाद के वास्तविक स्वरूप, विवाद के प्रस्तुतकर्ता एवं साथियों तथा देश, अवस्था और काल का युक्तियुक्त अनुमान करके ही निर्णय देना चाहिए।[17]

याज्ञवलक्य स्मृति में न्यायपालिका का शीर्षस्थ अधिकारी राजा को ही घोषित किया गया है किन्तु राजा से यह अपेक्षा की गई कि वह क्रोध और लोभ को त्यागकर नीतियों और विद्वानों के साथ बैठकर न्याय का कार्य करेगा और अपने इस कृत्य के सम्पादन में वह धर्मशास्त्र से निर्दिष्ट होगा।[18]

याज्ञवलक्य स्मृति मे न्यायिक कृत्यों के सुसंगठित और प्रक्रियात्मक निर्वाह पर बल दिया है। न्यायिक कार्यों को सम्पन्न करने हेतु याज्ञवलक्य स्मृति में एक सभा का उल्लेख किया गया है तथा विद्वता, धर्मशास्त्र का मान, सत्यवादिता तथा शत्रु और मित्र के प्रति समान भाव रागद्वेष रहितता आदि गुणों को सभासदों के लिए अनिवार्य योग्यताओं के रूप में निर्धारित किया है।[19] याज्ञवलक्य ने न्यायिक प्राधिकारियों के आचरण में निर्भीकता, स्वतन्त्रता को अत्यधिक महत्व दिया है।

याज्ञवलक्य स्मृति में स्नेह, लोभ या भय के वशीभूत होकर न्यायिक कृत्यों में धर्मों के विरूद्ध आचरण करने वाले सभासदों को दण्डित किये जाने का प्रावधान किया है।[20]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्यायिक व्यवस्था के संगठित स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। कौटिल्य ने विवादों के निर्णय की प्रक्रिया ओर अर्थान्वयन के आधारों को भी भलीभाँति स्पष्ट किया है।[21]

न्याय को राज्य का एक आवश्यक कर्तव्य बताते हुए कौटिल्य ने यह प्रतिपादित किया है कि जो राजा धर्म, व्यवहार, चरित्र और न्याय के अनुसार प्रजा का पालन करता है, वह ही पृथ्वी का शासन करने में समर्थ है।[22]

महाभारत में न्यायिक कार्य एवं राजा तथा एक परिषद् के द्वारा सम्पन्न किया जाना प्रतिपादित किया गया है। जहाँ न्याय के व्यवहार पक्ष का प्रश्न है, वहाँ राजा से स्वयं निर्णय लेने की अपेक्षा की गई है, किन्तु जहाँ धर्म यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म को प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वोच्च विधि के रूप में चित्रित किया गया है, अथवा विधि के अर्थान्वयन व व्याख्या का प्रश्न हो, वहाँ निर्णय करने का दायित्व एक संस्थागत परिषद को सौंपा गया जिसमें कि धर्म और शास्त्र के मर्मज्ञ नीति–पुरूषों को सम्मिलित किया जाना अभीष्ट था।[23] इस प्रकार की परिषद् का उल्लेख मनुस्मृति में भी हुआ है।[24]

महाभारत के शान्तिपर्व में राजा से यह भी अपेक्षा की गई है कि जब वह अभियोगों का निर्णय करे तब उसे तत्वदर्शी श्रेष्ठ पुरूषों का परामर्श उपलब्ध होना चाहिए।[25] न्याय के, विधि पर आधारित होने के पक्ष को, महाभारत में स्पष्ट किया गया है तथा न्यायकर्ताओं से सदैव यह अपेक्षा की गई है कि वे भलीभाँति विचार करके तत्वदर्शीं श्रेष्ठ पुरूषों से परामर्श करके तथा शास्त्रानुसार ही दण्ड का निर्णय करें।[26]

शुक्रनीति सार में न्याय व्यवस्था के संगठित स्वरूप पर बल दिया गया है। न्याय व्यवस्था के विभिन्न सैद्धान्तिक और प्रक्रियात्मक पक्षों का सम्यक चित्रण करने के साथ–साथ शुक्रनीति में न्यायिक वादों को परिभाषित किया गया है। व्यवहार अथवा वाद को शुक्रनीति में सरथ के निर्धारण, विधि के अनुपालन की सुनिश्चित तथा टकरावपूर्ण हितों की स्थिति में विधितः किसी एक पक्ष के हित के संरक्षण की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया गया है।[27] इस परिभाषाा में आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार दीवानी व आपराधिक दोनों श्रेणियों के न्यायिक वाद समाविष्ट हैं। ग्रन्थ में राजा को न्यायिक व्यवस्था का शीर्षस्थ अधिकारी माना गया है किन्तु यह सुनिश्चित किया गया है कि वह न्यायिक शक्ति का संव्यवहार न तो एकाकी कर

सके और न ही विधि के मान्य सिद्धान्तों के विपरीत कर सकें।[28] ग्रन्थ में धर्म–शास्त्र के रूप में विधि के संहितावाद प्रावधानों को शासकी स्वविवेक की तुलना में वरीयता दी गई है।[29]

न्यायिक कार्य में संलग्न व्यक्तियों की स्वतन्त्रता व पक्षपातहीनता पर ग्रन्थ में पर्याप्त बल दिया गया है। न्यायिक शक्ति के संव्यवहार में पक्षपात का सर्वथा निषेध करते हुए ग्रन्थ में पक्षपात के कारणों का संज्ञान किया गया है तथा राग, लोभ, भय, द्वेष व वादी–प्रतिवादी की बातें एकान्त में सुनना इन पांच स्थितियों को पक्षपात के निश्चित कारणों के रूप में प्रतिपादित किया गया हैं।[30]

शुक्रनीति वादों के मंचीय या खुले विचारण की व्यवस्था को प्रतिपादित करती है। ग्रन्थ में न्यायिक प्राधिकारियों द्वारा एकान्त में न्यायिक कार्य सम्पन्न किये जाने का स्पष्ट और गम्भीर निषेक्ष किया गया है।[31]

शुक्रनीति में न्यायिक संगठन के दो स्तरों का उल्लेख मिलता है। प्रथम स्तर में स्थानीय न्यायालयों के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है– कुल, श्रेणी और गुण।[32] दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत उन न्यायालयों को सम्मिलित किया गया है, जो शासकीय प्राधिकार के अन्तर्गत स्थापित होते। इन न्यायालयों में न्यायाधीशों व अन्य कार्मिकों की नियुक्ति शासन की ओर से किया जाना अभीष्ट माना गया।[33]

ग्रन्थ में न्यायाधीशों की सुयोग्यता और उनकी विधि में गम्भीर पारगंतता पर अत्याधिक बल देते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि ऐसे व्यक्ति जो विधि शास्त्र की एकाधिक शाखाओं में पारंगत हों, न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति हेतु अधिक उपयुक्त हैं।[34]

ग्रन्थ में अपीलीय क्षेत्राधिकार की दृष्टि से न्यायिक निकायों का क्रम भी निर्धारित किया गया है जिसके अनुसार कुल, श्रेणी व गण की क्रमश एक दूसरे की तुलना में वरीय माना गया है। यह स्पष्टताः प्रतिपादित किया गया है कि कुल के निर्णय के विरूद्ध अपीलीय क्षेत्राधिकार श्रेणी का तथा श्रेणी के विरूद्ध अपीलीय क्षेत्राधिकार का होता है।[35] उपरोक्त स्थानीय न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध

अपीलीय क्षेत्राधिकार क्रमशः सभ्यों तथा राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों में निहित माना गया है।[36]

अन्तिम अपीलीय क्षेत्राधिकार राजा में निहित माना गया है।[37] किन्तु ग्रन्थ में उपलब्ध अन्य प्रसंगो से यह स्पष्ट होता है कि राजा न्यायपालिका का औपचारिक अध्यक्ष है।

उपर्युक्त विवेचन से यद्यपि प्राचीन भारत में संगठित न्याय व्यवस्था के अस्तित्व का संकेत अवश्य मिलता हैं, न्याय की प्रक्रिया में विधि के महत्व का प्रतिपादन भी उपलब्ध होता है, किन्तु न्यायिक पुनरावलोकन जैसी किसी व्यवस्था के अस्तित्व का कोई संकेत नहीं मिलता।

शासक के कार्यकारी अथवा विधायी कृत्य की वैधता के परीक्षण का, स्वतंत्र न्यायालयों को अधिकार प्रदान किया गया हो, ऐसा संकेत स्पष्ट रूप से भारतीय ग्रन्थों में प्रायः अनुपलब्ध है। किन्तु न्याय की प्रक्रिया पर विधि का नियन्त्रण प्राचीन भारतीय न्याय–व्यवस्था के एक अनिवार्य लक्षण के रूप में स्पष्ट होता है और न्यायिक प्रक्रिया में विधि के पालन को सर्वोच्च महत्व दिया गया है। स्वयं राजा को भी विधि के उल्लघन के विरूद्ध चेतावनी दी गई है। यद्यपि अन्तिम रूप से न्यायिक शक्ति राजा में निहित मानी गई है, तथापि विधि के प्रति राजा के मनमाने आचरण को स्वीकृत नहीं हो गई।

मनुस्मृति से लेकर अर्थशास्त्र तक भारतीय चिन्तन परम्परा, राजा पर धर्म का नियन्त्रण स्थापित करके भारतीय चिन्तन में विधि के शासक के महत्व को स्पष्ट करती है, किन्तु वहॉ यह पुनः उल्लेखनीय है कि कम से कम कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पूर्व भारतीय चिन्तन परम्परा में शासन के विधि विहित आचरण को सुनिश्चित करने के लिए न्यायपालिका की कोई स्पष्ट भूमिका घोषित नहीं की गई। इसका कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है, कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पूर्व स्मृतियों, संहिताओं और धर्मशास्त्रों में न्यायिक व्यवस्था का क्रमबद्ध, व्यवस्थित और सटीक चित्रण नही हुआ है और राज्य विधि व न्यायालयों के कर्त्तव्यों के मध्य सम्बन्धों की स्पष्ट विवेचना नहीं हुई है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्यायपालिका के संगठन, कार्यों व प्रक्रिया का स्पष्ट विवेचन हुआ है। इस विवेचन में आचार्य कौटिल्य ने प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकार से शासन के कार्यकारी कृत्यों की न्यायिक समीक्षा का प्रतिपादन किया है।

कौटिल्य ने धर्म को राज्य की सर्वोच्च विधि के रूप में स्वीकार करते हुए धर्म के स्वरूप को सार्वभौमिक नैतिक नियमों की संहिता के रूप में व्यक्त किया है। कौटिल्य ने सत्य[38], अहिंसा[39] आदि तत्वों को धर्म का मौलिक लक्षण स्वीकार किया है। न्यायिक प्रक्रिया में धर्म के अप्रतिम महत्व को स्थापित करते हुए कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के न्याय सम्बन्धी प्रकरण का शीर्षक ही 'धर्मस्थीय' रखा है। धर्म को कौटिल्य ने सर्वोच्च विधि के रूप में मान्यता देते हुए उसे राज्य कृत्य के न्यायिक पुनरावलोकन के मापदण्ड व आधार के रूप में भी स्वीकार किया है।

कौटिल्य ने यह स्पष्ट किया है कि राजसत्ता का धर्म के संरक्षण के निमित्त ही अभीष्ट है।[40]

किसी परिस्थिति विशेष में, अर्थान्वयन के प्रामाणिक आधार के रूप में कौटिल्य ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने हुए धर्म की तुलना में राजकीय विधि को अधिक प्रमाणिक आधार माना है।"[41] किन्तु अर्थान्वयन के प्रयोजन के धर्म की तुलना में राज्य विधि की उग्रता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि धर्म–विरूद्ध राजकीय विधि को भी मान्यता प्रदान कर दी जायेगी। किसी विशेष परिस्थिति में यदि धर्म की तुलना में राजकीय विधि को अग्रता प्रदान की जाती है तो यह अर्न्तनिहित है कि धर्म और राजकीय विधि के मध्य कोई टकराव उपस्थित नहीं हुआ है, अपितु ऐसी परिस्थिति में धर्म का स्वरूप राजकीय विधि का तुलना में अस्पष्ट है, क्योंकि आवश्यक नहीं है कि वह लेखबद्ध हो। धर्म का उल्लंघन करने अथवा अपनी शक्ति का दुरूपयोग कर प्रजा के अधिकारों का अतिक्रमण करने की स्थिति में कौटिल्य ने स्वयं राजा को दण्डनीय माना है।[42]

कौटिल्य ने धर्म–विरूद्ध राजकीय विधि को न्यायालयों द्वारा अमान्य घोषित किये जाने का स्पष्ट प्रतिपादन किया है तथा कहा है कि ''जहाँ कहीं चरित्र, धर्म

अथवा व्यवहार विधि (राजकीय विधि) में विरोध हो, वहाँ न्यायाधीशों को धर्म के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए।[43]

राज्य विधि के न्यायिक पुनरावलोकन की सम्भावना को स्पष्टतः स्वीकार करते हुए आचार्य कौटिल्य ने यह स्पष्ट पतिपादन किया है कि यदि व्यवहार विधि और धर्म के मध्य कोई टकराव हो तो ऐसी स्थिति में धर्म को ही प्रमाण मानकर राज्य विधि का निषेध कर देना चाहिए।[44]

2. मध्ययुग में न्यायिक व्यवस्थाः-

मध्ययुग में भारत में न्यायिक व्यवस्था का स्वरूप, संगठित, औपचारिक व प्रक्रियाबद्ध नहीं था। न्यायिक तंत्र की स्वतन्त्रता का विचार इस युग मे प्रायः अप्रचलित था तथा प्रायः न्यायिक कृत्यों में राजा स्वयं भाग लेता था और सर्वोच्च न्यायाधीश समझा जाता था। न्यायिक व्यवस्था में सुनिश्चित प्रक्रिया का अभाव इस तथ्य से भी व्यक्त होता है कि राजा जो कि सामान्यतः अपील का सर्वोच्च न्यायालय समझा जाता था, कई बार स्वयं कुछ मामलों की प्रारम्भिक सुनवाई भी सीधे ही कर लेता था और वैसे मामलों की, जिनमें कि राजा स्वयं सीधे सुनवाई कर सकता था, कोई वगीकृत परिभाषा नहीं थी, न ही ऐसे वर्गीकरण के आधार उपलब्ध थे। वह सब राजा की स्वेच्छा, उसकी नीति और पक्षकारों की किसी वाद को राजा तक सीधे प्रस्तुत कर पाने की क्षमता पर निर्भर करता था। उदाहरणार्थ–अकबर और जहाँगीर के विषय में यह विख्यात है कि वे प्रतिदिन एक निश्चित समय पर सुनने का कार्य करते थे और वादों पर तत्काल निर्णय घोषित करते थे। न्यायिक व्यवस्था को इस्लामी विधि पर आधारित किया गया था, वहीं दूसरी और जनसंख्या का अधिकांशतया हिन्दू होने के कारण, उस पर कम से कम, दीवानी मामलों में, इस्लामी विधि का लागू किया जाना सम्भव नहीं था। आपराधिक मामलों में हिन्दुओं पर भी इस्लामी विधि ही आरोपित की जाती थी।

विधि के समक्ष समानता अथवा विधि के समान संरक्षण के सिद्धान्त इस युग में उपलब्ध नहीं थे, क्योंकि इस्लामी विधि जनता को नास्तिकों और आस्तिकों के दो वर्गों में विभाजित करती है और उन्हें विधि का पृथक–पृथक प्रकार का संरक्षण प्रदान करती है।[45]

मुगलकाल में अकबर ने न्यायिक तंत्र को स्वतंत्र, कार्यशील और निष्पक्ष स्वरूप प्रदान करने के प्रयत्नों का संकेत किया। उदाहरणार्थ उसने इस्लामी विधि के क्षेत्र को सीमित कर प्रथागत विधि के क्षेत्र को व्यापक किया। इसके अतिरिक्त उसने हिन्दुओं के विवादों में निर्णयों हेतु हिन्दु न्यायाधीशों की नियुक्ति की। फिर भी न्यायिक व्यवस्था का समग्र स्वरूप सुसंगठित नहीं हो पाया और न ही न्यायपालिका की कोई स्वतन्त्र और स्वायत्त सत्ता ही स्वीकृत हो पायी।

न्यायपालिका की ऐसी स्थिति में राज्य–कृत्य के न्यायिक पुनरावलोकन का विचार इस युग में असम्भव व कल्पनातीत था।

3. ब्रिटिश काल में न्यायिक व्यवस्थाः–

भारत में न्यायिक व्यवस्था का संगठित स्वरूप ब्रिटिश काल में विकसित हुआ। ब्रिटिश विधि का भारत में आर्विभाव 3 अप्रेल 1661 के चार्टर द्वारा हुआ। चार्टर में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार के अन्तर्गत अनेक स्थानों के गवर्नर और कौंसिल को न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की। किन्तु इस चार्टर में व्यवस्थित न्यायालयों की स्थापना कर शक्ति प्रदान नही की गई। 1726 में जारी किये गये चार्टर से प्रेसीडेंसी नगरों मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में मेयर न्यायालयों की स्थापना की गई। इन मेयर न्यायालयों को सिविल दावों को सुनने हेतु क्षेत्राधिकृत किया गया। इन न्यायालयों में निर्णयों के विरूद्व एक निश्चित राशि तक के दावों के सन्दर्भ में, गवर्नर या कौंसिल की अपील की व्यवस्था की गई। अन्य मामलों मे यह अपील सम्राट को की जा सकती थी। आपराधिक मामलों में न्यायिक शक्तियाँ गवर्नर और उसकी कौंसिल के पांच वरिष्ठ सदस्यों को सौंपी गई थी। किन्तु मेयर न्यायालय अथवा जस्टिस ऑफ पीस के रूप में कार्य कर रहे गवर्नर और उसकी

कौंसिल के सदस्यों का न्यायिक क्षेत्राधिकार केवल ब्रिटिश प्रजाजनों तक सीमित था।

यह स्पष्ट है कि न्यायिक व्यवस्था के उस रूप में न्यायिक पुनरावलोकन जैसी किसी विचार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

प्रथमतः न्यायिक व्यवस्था का स्वरूप ही असंगठित था और द्वितीयतः कार्यपालिका को ही व्यापक, न्यायिक अधिकार प्रदान किये गये थें।

स्वयं न्यायालयो की स्थापना भी किसी सांविधिक घोषणा से नहीं अपितु कार्यपालिका के आदेशों से की जाती थी। अतः जिन सिविल मामलों में मेयर न्यायालयों को क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया। उनमें भी वे वस्तुतः कार्यपालिका के नियंत्रण के अधीन ही अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते थे। यहाँ तक कि उनके निर्णयों के विरूद्ध, अपील भी किसी अन्य उच्चतर न्यायालय के समक्ष नहीं, अपितु कार्यपालिका के समक्ष ही की जा सकती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रारंम्भिक राजपत्र

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का श्रेय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को है जिसने इस देश में सर्वप्रथम एक साधारण व्यापारिक कम्पनी के रूप में ब्रिटेन का व्यापार बढ़ाने के उद्देश्य से प्रवेश किया था। इस कम्पनी का वास्तविक नाम ''दि गर्वनर एण्ड कम्पनी ऑफ मर्चेन्टस ऑफ लंदन ट्रेनिंग इन टू दि ईस्ट एंडीज'' था, जिसे ब्रिटेन की साम्राज्ञी एलिजाबेथ के एक चार्टर द्वारा ईस्ट–इंडीज में व्यापार करने के लिए अधिकृत किया गया था।

सन् 1600 का राजलेख (Charter)

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संविधान शासक था। सुविधाओं आदि का विवरण इंग्लैण्ड के सन् 1600 ई. के राजलेख द्वारा घोषित किया और 31 दिसम्बर सन् 1600 को लागू किया गया। शुरूआत में कम्पनी का अस्तित्व केवल 15 वर्षों के लिए निश्चित किया गया तथा व्यापार लाभप्रद सिद्ध न होने पर सम्राट इस राजलेख के अन्तर्गत उसे दो वर्ष पूर्व सूचना देकर समाप्त कर सकेगा। इस राजलेख के द्वारा कम्पनी को व्यापार का एकाधिकार प्राप्त हुआ तथा अन्य अंग्रेज व्यापारियों का अनाधिकृत रूप से स्वतंत्र व्यापार करना अवैध घोषित कर दिया तथा ऐसा करने पर वे दण्ड के भागी थे।

ब्रिटिश भारत के बंगाल बिहार उड़ीसा तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों में कार्यरत विभिन्न न्यायालय (1833-1861)

I. व्यवहार दीवानी न्यायालय

1. मुन्सिफ
2. सदर अमीन
3. प्रिंसिपल सदन अमीन
4. जिला न्यायाधीश
5. सदन दीवानी अदालत
6. प्रिवी कौंसिल

तीनों पदों पर देशी भारतीय भी नियुक्त हो सकते है।

(यह इंग्लैण्ड में स्थित थी)

II. फौजदारी न्यायालय

1. मजिस्ट्रेट
2. असिस्टेंट मजिस्ट्रेट
3. डिप्टी मजिस्ट्रेट
4. ज्वाइंट मजिस्ट्रेट
5. जिला या सिटी मजिस्ट्रेट
6. सैशन जज
7. सदर निजामत अदालत (कलकता तथा आगरा में थी)

III. राजस्व न्यायालय

1. असिस्टेंट कलेक्टर
2. डिप्टी कलेक्टर
3. कलेक्टर
4. बोर्ड ऑफ रेवन्यू

(2) मद्रास प्रांत के विभिन्न न्यायालय (1833-1861)

व्यवहार न्यायालय

1. जिले के मुन्सिफ तथा ग्रामों के मुन्सिफ
2. सदर अमीन
3. प्रिसिपल–सदर अमीन

ये भारतीय होते थे।

4. सबर्डिनेट जज
5. अस्ट्रिेट जज
6. जिला–न्यायाधीश (सिविल एण्ड सैशन्स जज)
7. मद्रास स्थित सदर अदालत
8. इंलैण्ड की प्रिवी कौंसिल

अंग्रेज व्यक्ति ही हो सकते थे।

फौजदारी न्यायालय

1. मजिस्ट्रेट
2. सबर्डिनेट जज
3. जिला जज (सिविल एण्ड सैशन्स जज)
4. मद्रास की सदर फौजदारी अदालत

राजस्व न्यायालय

1. असिस्टेंट कलेक्टर
2. सबर्डिनेट कलेक्टर
3. कलेक्टर
4. रवेन्यू बोर्ड

(3) बम्बई प्रेसीडेंसी में कार्यरत न्यायालय (1833-1861)

व्यवहार न्यायालय

1. मुन्सिफ
2. सदर अमीन
3. प्रिसिपल–सदर अमीन

भारतीय न्यायाधिकारी

4. जूनियर असिस्टेंट जज
5. सीनियर असिस्टेंट जज
6. ज्वाइंट जज
7. जिला न्यायाधीश

अंग्रेज न्यायाधिकारी

8. बम्बई स्थित सदर दीवानी अदालत
9. प्रिवी कौंसिल

फौजदारी न्यायालय

राजस्व न्यायालय

1. देशी कलेक्टर
2. डिप्टी कलेक्टर
3. असिस्टेंट कलेक्टर
4. सब कलेक्टर
5. कलेक्टर
6. सदर दीवानी अदालत

सन् 1861 ई. के हाईकोर्ट एक्ट पारित होने से पूर्व भारत के प्रेसीडसी शहरों में दुहरी न्याय व्यवस्था लागू थी। प्रेसीडेंसी शहरों के सुप्रीम कोर्टो की कार्य पद्धति इंग्लिश विधि पर आधारित थी जबकि प्रेसीडेंसी के आंतरिक सूत्रों में कार्यरत कम्पनी की सदर दीवानी तथा फौजदारी अदालती में विधि के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई निश्चितता नहीं थी। ब्रिटिश सम्राट द्वारा स्थापित सुप्रीम कोर्टों तथा कम्पनी द्वारा प्रारम्भ किये गये न्यायालयों में निम्न भिन्नता थी–

1. सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश वकील होते थे, जिन्हें कम से कम पांच वर्षों की बैरिस्ट्री का अनुभव होना आवश्यक था। जबकि कम्पनी द्वारा स्थापित अदालतों के न्यायाधीशों के लिये विधि व्यवसायी या वकील होना आवश्यक नहीं था। कानून का ज्ञान न होने पर भी किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकता था।
2. सम्राट द्वारा स्थापित न्यायालय श्रृंखलाबद्ध नहीं थे और कम्पनी के फौजदारी व दीवानी न्यायालय श्रृंखलाबद्ध थे।
3. सम्राट द्वारा स्थापित न्यायालय में इंग्लिश विधि प्रयुक्त की जाती थी। जबकि कम्पनी के न्यायालयों में प्रथागत विधि का प्रयोग किया जाता था। प्रेसीडेन्सियों की दुहरी न्याय व्यवस्था से कठिन समस्या उत्पन्न हो गई थी। प्रेसीडेन्सी नगरों की न्याय व्यवस्था आंतरिक क्षेत्र के न्यायालयों से पूर्णतया भिन्न थी। अतः 1829 ई. में कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स ग्रे ने सुप्रीम कोर्ट और सदर अदालत के विलीनीकरण पर अत्यधिक बल दिया था। परिणामस्वरूप इन न्यायालयों के विलयन का कार्य तीन अवस्थाओं में पूर्ण हुआ।

- सन् 1833 ई. में चार्टर एक्ट के द्वारा भारत के लिये एक केन्द्रीय विधानपरिषद स्थापित की गई जिसके द्वारा निर्मित विधियां सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालत दोनों के लिये समान रूप से लागू नहीं होती थी। फलतः सुप्रीम कोर्ट की श्रेष्ठता समाप्त हो गई।
- सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों के विलीनीकरण की द्वितीय अवस्था में प्रक्रियात्मक विधि के संहिताकरण की आवश्यकता प्रतिपादित की गई। सन् 1853 ई. में इन न्यायालयों के विलीनीकरण का विधेयक पेश किया गया था,

जिनके परिणामस्वरूप सन् 1859 में दीवानी प्रक्रिया संहिता पारित हुई तथा शीघ्र ही सन् 1861 ई. में दण्ड प्रक्रिया संहिता पारित की गई।

- प्रेसीडेन्सी नगरों के सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालत के विलयन के अंतिम चरण में ब्रिटिश सम्राट 1858 के अधिनियम द्वारा कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया तथा ब्रिटिश सम्राट ने उसे स्वयं के हाथों में ले लिया।

ब्रिटिश संसद ने 16 अगस्त सन् 1861 ई. में हाईकोर्ट एक्ट पारित किया जिसके द्वारा प्रेसीडेन्सी नगरों के सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर एक हाई कोर्ट ऑफ ज्यूडीकेचर की स्थापना की गई।

इण्डियन हाई कोर्टस एक्ट 1861

सन् 1861 ई. में इण्डियन हाई कोर्ट पारित हुआ जिसके अन्तर्गत कलकत्ता मद्रास व बम्बई की प्रेसीडेन्सियों में सुप्रीम कोर्ट व सदर अदालत के स्थान पर हाईकोर्ट की स्थापना की जानी थी। कलकत्ता का हाईकोर्ट 14 मई 1862 ई. में स्थापित हुआ तथा उसके तुरन्त बाद ही मद्रास व बम्बई के उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इसी एक्ट के अन्तर्गत 1877 ई. में एक हाईकोर्ट की स्थापना आगरा में की गई थी जिसे सन् 1875 में इलाहाबाद स्थानान्तरित कर दिया गया।

सन् 1861 के अधिनियम के अन्तर्गत हाईकोर्ट का गठन

इण्डियन हाई कोर्ट एक्टस 1861 के अन्तर्गत गठित उच्च न्यायालय में एक न्यायाधीश तथा अधिक से अधिक 15 सहायक न्यायाधीश होते थे, जिनमें कम से कम 1/3 का ऐसे बैरिस्टर का होना आवश्यक था, जिन्हें कम से कम 5 वर्ष का अनुभव हो तथा 1/3 कम्पनी के सिविल सेवा के ऐसे सदस्य होना आवश्यक था जिन्हें कम से कम 10 वर्ष का प्रशासनिक सेवा का अनुभव हो। शेष सदस्य अधिवक्ता वर्ग अथवा सिविल सेवा अधिकारी वर्ग में से कोई भी हो सकते थे। ऐसे में यह प्रावधान भी रखा गया था कि सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों में कार्यरत

न्यायाधीशों को स्वयंमेय नवगठित उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जावेगा।

उच्च न्यायालय की अधिकारिता

1861 के अधिनियम के अन्तर्गत गठित उच्च न्यायालय को निम्नलिखित अधिकारिता प्राप्त थी–

- उच्च न्यायालय एक कोर्ट ऑफ रिकार्ड था। इसे दीवानी फौजदारी सामुदायिक वसीयत का वैवाहिक मामलों में मौलिक तथा अपीलीय अधिकारिता प्राप्त थी।
- उच्च न्यायालयों को ऐसे सभी दीवानी मामलों पर अधिकारिता प्राप्त थी जिनमें वस्तु का मूल्य एक सौ रूपये से अधिक हो।
- इस न्यायालय को अपने अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण रखने की अधिकारिता भी प्राप्त थी।
- इसे वकील वर्ग के सदस्यों को नामांकन करने तथा उनके विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार भी प्राप्त था।
- आपराधिक मामलों में उच्च न्यायालय में दायर की गई अपीलों पर उसके निर्णय अन्तिम होते थे, जबकि दीवानी वादों में वाद वस्तु का मूल्य दस हजार से अधिक होने पर अपीले प्रिवी कौंसिल को हो सकती थी।

इण्डियन हाई कोर्ट एक्टस 1911

सन् 1911 ई. के इण्डियन हाई कोर्टस एक्ट द्वारा सन् 1861 ई. के अधिनियम में कुछ सुधार किये गये। इस एक्ट द्वारा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों की संख्या मुख्य न्यायाधीश सहित अधिकतम 20 हो सकती थी। इस एक्ट द्वारा भारत के अन्य प्रांतों के लिये हाई कोर्टो की स्थापना हेतु उदार प्रावधान रखे गये तथा किसी भी हाईकोर्ट के क्षेत्राधीन प्रदेश के लिये स्वतंत्र हाई कोर्ट की स्थापना की जा सकती थी।

भारत शासन अधिनियम 1915 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय

29 जुलाई, 1915 को भारत की ब्रिटिश सरकार में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1915 पारित किया, जिसमें सन् 1861 तथा 1911 के हाईकोर्ट के प्रावधानों को संशोधित किया गया। इस एक्ट में हाईकोर्टो के गठन, अधिकार क्षेत्र तथा उनमें प्रयुक्त होने वाली विधि के विषय में विस्तृत प्रावधान थे। इस एक्ट के द्वारा प्रेसीडेन्सी हाईकोर्टो की राजस्व सम्बन्धी मामलों में मौलिक अधिकारिता समाप्त कर दी गई थी, जो उन्हें सन् 1861 तथा 1911 ई. के एक्ट के अन्तर्गत प्राप्त थी। इस एक्ट द्वारा प्रेसीडेन्सियों के हाईकोर्ट की, हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीश आदि अपने न्यायिक कार्यो के लिये बंदी नहीं बनाये जा सकते थे और न ही उन्हें कारावासित ही किया जा सकता था।

1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट के प्रावधानों के अन्तर्गत वर्चस्वता में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय को दीवानी तथा फौजदारी क्षेत्राधिकार प्रदान किये गये। क्षेत्रीय दृष्टि से इस न्यायालय का क्षेत्राधिकार कलकत्ता के निवासियों और बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रांतों के ब्रिटिश प्रजाजनों तक विस्तृत था। इस न्यायालय के निर्णयों के विरूद्ध किंग इन कौंसिल को अपील की जा सकती थी। इस सर्वोच्च न्यायालय को भी किसी प्रकार के पुनरावलोकन के अधिकार प्राप्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

1861 के इण्डियन इाईकोर्ट एक्ट के द्वारा मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में उच्च न्यायालय स्थापित किये गये। 1866 में इलाहाबाद में भी एक उच्च न्यायालय की स्थापना कर दी गई। इण्डियन हाईकोर्ट एक्ट, 1911 के द्वारा दो और उच्च न्यायालय– पटना 1916 व लाहौर 1919 स्थापित कर दिये गये। इन उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में समस्त न्यायिक विषय सम्मिलित थे। प्रत्येक हाईकोर्ट अपने प्रान्त में स्थित अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों की अपील, सन्दर्भ और रिवीजन के लिए अधिकृत था।

इन न्यायालयों को अपने अपीलीय क्षेत्राधिकार के अधीन समस्त न्यायालयों का अधीक्षण करने का अधिकार था। इन न्यायालयों के विरूद्ध प्रिवी–कौंसिल की

न्यायिक समिति के समक्ष अपील की जा सकती थी किन्तु भारत में इनके निर्णयों के विरूद्व अपील सुनने के लिए कोई और उच्चतर न्यायालय नहीं था।

किन्तु उच्च न्यायालय भी किसी विधायी अथवा कार्यपालिका कृत्य की समीक्षा करने हेतु प्राधिकृत नहीं किये गये थे। वस्तुतः 1935 के अधिनियम के धारण से पूर्व यह कार्यपालिका के नियन्त्रण के अधीन ही कार्य करते थे।

1919 के भारत शासन अधिनियम के प्रावधान किसी भी प्रकार से न तो विधायी और कार्यपालिका कृत्यों की समीक्षा की ही व्यवस्था करते थे और न ही न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करते थे। उक्त अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि न्यायालय में किसी भी कृत्य की वैधता प्रदान करने के लिए गवर्नर जनरल का लिखित आदेश पर्याप्त होगा।[46] उक्त प्रावधान से कार्यपालिका के किसी भी कृत्य के न्यायिक पुनरावलोकन की सम्भावना का आधार ही समाप्त हो जाता है।

हाईकोर्ट के न्यायाधीशों को कार्यकाल की प्रत्याभूति भी प्रदान नही की गई थी, अपितु वे सम्राट के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रह सकते थे।[47]

1935 के भारत शासन अधिनियम में प्रथम बार ऐसी व्यवस्थाएँ की गई, जिनसे एक सीमा तक न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित होती।

इस अधिनियम के द्वारा देश की उच्चतम न्यायिक सत्ता के रूप में फेडरल कोर्ट की स्थापना की गई।[48]

1919 के अधिनियम में हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट के प्रसाद पर्यन्त किये जाने के प्रावधान के विपरीत, 1935 के अधिनियम में न्यायाधीशों का निश्चित कार्यकाल सुनिश्चित किया गया। फेडरल कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों का कार्यकाल 65 वर्षों की आयु पर्यन्त निर्धारित किया गया।[49] उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का कार्यकाल 60 वर्ष की आयु पर्यन्त निर्धारित किया गया।[50]

न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की प्रक्रिया को भी निर्धारित किया गया और यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि फेडरल कोर्ट के न्यायाधीशों को 65 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने से पूर्व, कदाचार अथवा शारीरिक या मानसिक अक्षमता के आधार पर ही पद से हटाया जा सकेगा, इन आधारों पर भी पदमुक्ति तभी की जा सकती थी, जबकि सम्राट के द्वारा सन्दर्भ भेजे जाने प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति ने ऐसी पदमुक्ति का प्रतिवेदन कर दिया हो।[51] हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की पद–मुक्ति के लिए भी इसी प्रकार का प्रावधान किया गया।[52]

प्रथम बार 1935 के भारत शासन अधिनियम में ही यह प्रावधान किया गया कि न्यायाधीशों के पद, भत्ते तथा अवकाश और सेवा निवृत्ति आदि के सन्दर्भ में उनकी नियुक्ति के पश्चात् उनके पद पर बने रहने पर्यन्त कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किये जा सकेंगें।[53]

उपरोक्त प्रावधानों के द्वारा न्यायाधीशों के क्रियाकलाप को कार्यपालिका के नियन्त्रण और हस्तक्षेप से तो मुक्त किया गया और एक व्यापक सीमा तक न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को भी सुनिश्चित किया गया, किन्तु फेडरल न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों को विधायी अथवा कार्यपालिका कृत्यों की समीक्षा का कोई अधिकार नहीं दिया गया।

फेडरल न्यायालय के मौलिक क्षेत्राधिकार को राज्यों के अथवा संघ और राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों तक सीमित किया गया।[54] किसी ऐसे समझौते के कारण, उत्पन्न हुए विवादों के सन्दर्भ में, जिसमें कि यह स्पष्ट अभिव्यक्ति हो कि ऐसे विवादों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार नहीं होगा, न्यायालय के क्षेत्राधिकार की भर्त्सना की गई।[55]

यह भी व्यवस्था की गई कि राज्यों के मध्य उत्पन्न हुए किसी विवाद के सन्दर्भ में अपने मौलिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते हुए न्यायालय द्वारा केवल उद्घोषणात्मक निर्णय ही दिये जा सकेंगे।[56]

फेडरल कोर्ट को किसी भी प्रवृत्ति के रिट आदेश जारी करने का अधिकार प्रदान नहीं किया गया।

भारत शासन अधिनियम, 1935 के उपरोक्त प्रावधानों के विश्लेषण है। यह स्पष्ट हो जाता है कि फेडरल कोर्ट को विधायी अथवा कार्यपालिका सम्बन्धी कृत्यों की समीक्षा का कोई अधिकार परोक्षतः स्वीकृत नहीं किया गया।

नागरिकों के अधिकारों की प्रथमतः तो इस अधिनियम द्वारा कोई प्रकट घोषणा नहीं की गई थी। द्वितीयतः न्यायालय को रिट आदेश जारी करने से वंचित किये जाने के परिणामस्वरूप, न्यायालय नागरिकों के किसी अनुद्घोषित किन्तु स्वाभाविक अधिकार के प्रवर्तन हेतु, विधायी अथवा कार्यपालिका कृत्य की समीक्षा हेतु प्राधिकृत नहीं थे।

1935 के अधिनियम में न्यायिक पुनरावलोकन के किसी स्पष्ट प्रावधान के न होते हुए भी फेडरल कोर्ट के न्यायाधीशों ने भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का सूत्रपात अवश्य किया।

फेडरल कोर्ट ने कुछ मामलों में नागरिक अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करते हुए सीमित अर्थ में और परोक्ष रूप से विधायी और कार्यपालिका कृत्यों को अवैध घोषित किया। निहारेन्दु दत्त मजूमदार बनाम सम्राट (ए.आई.आर. 1942, एफ.सी.22), देशवतालपडे बनाम सम्राट (ए.आई.आर. 1942, एफ.सी. 27) तथा सम्राट बनाम बनवारीलाल शर्मा (एफ.एल.जे. इण्डिया, 1937–38, ट, 79) आदि वादों में दिये गये निर्णय इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कहे जा सकते है।

संविधान सभा का दृष्टिकोण– भारत की संविधान सभा, जनता के एक दीर्धकालीन स्वातन्त्रय संघर्ष का परिणाम और आत्मनिर्णय के अधिकार की प्रतिष्ठा के प्रयत्नों की चरम परिणति थी।

स्वाभाविक रूप से संविधान सभा के दृष्टिकोण और मन्तव्य उस पूरी ऐतिहासिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि से प्रभावित थे, जो चरित्र के असमर्थता के

आधार पर पारित समावेदन व पश्चात् राष्ट्रकारी धारा की जा सकने की व्यवस्था की गई।[57]

उच्च न्यायालय की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने हेतु, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए भी संविधान में इसी प्रकार के प्रावधान स्वीकृत किये गये।

न्यायपालिका की स्वंतत्रता को सुनिश्चित करने हेतु, संविधान सभा में, न्यायाधीशों के कार्यकाल की निश्चितता और किसी न्यायाधीश की कार्यविधि के दौरान उसके वेतन, परिलब्धियों व अन्य सुविधाओं में कोई अलाभकारी परिवर्तन न किये जाने के प्रावधान भी स्वीकृत किये।[58]

सारांशतः यह व्यक्त किया जा सकता है कि संविधान सभा ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता को पर्याप्त महत्व दिया और उसे सुनिश्चित करने के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति, वेतन, कार्यकाल तथा पदमुक्ति के ऐसे प्रावधान किये कि न्यायाधीश निर्भीकता व आश्वस्ति के साथ अपने दायित्वों का निर्वहन कर सकें।

निष्कर्षः– भारत में वस्तुतः संविधान के प्रवर्तन से पूर्व न्यायिक पुनरावलोकन की कोई स्थापित परम्परा नहीं थी।

संविधान सभा ने इस सन्दर्भ में जागरूकता का परिचय दिया और न्यायिक सत्ता के चरित्र को संविधान में ही स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया गया।

संविधान सभा क्योंकि न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र व प्रकृति के प्रश्न पर विभाजित थी, अतः संविधान के अन्य प्रसंगों के समान, इस विषय में भी समन्वय और समझौते का मार्ग अपनाते हुए एवं सन्तुलनकारी मध्यमार्ग को स्वीकार किया गया।

न्यायिक पुनरावलोकन की असीमित सम्भावनाओं और संसद की सम्प्रभु शक्ति पर किसी भी प्रकार के न्यायिक पुनरावलोकन की अस्वीकृति के दोनों अतिवादी विकल्पों को अस्वीकृत करते हुए संविधान सभा ने जहाँ विधायी और कार्यपालिका कृत्य की न्यायिक समीक्षा को उचित माना, वहीं न्यायिक पुनरावलोकन

की परिधि और इस सन्दर्भ में न्यायिक शक्ति के संव्यवहार की सीमाएँ भी स्वीकृत की।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत न्यायिक पुनरावलोकन के प्रावधान, संसद की शक्ति व न्यायिक शक्ति के संव्यवहार की सीमाओं की प्रस्थापना के, संविधान सभा के आग्रह का परिणाम हैं।

स्वतन्त्रता पूर्व न्यायपालिका की स्थितिः-

मानव सभ्यता के विकास में मनुष्य का जीवन भ्रमणशील था। मनुष्य ने इस जीवन को छोड़कर एवं स्थान पर बसना प्रारम्भ किया। धीरे–धीरे मानव सभ्यता का विकास हुआ। परिवारों में आपसी लेन–देन शुरू हुआ, तो एक परिवार के दूसरे परिवार के साथ विवाद शुरू हुए। इस युग से ही न्याय के विचार का विकास हुआ। धीरे–2 गांव, कस्बे व राज्य की उत्पति हुई।

राज्य की उत्पति के बाद राज्य के कार्य निर्धारित हुए, जिसमें राज्य के कतिपय कार्य अनिवार्य निर्धारित किये गये। जिसमें राज्य को ब्राह्म आक्रमण से सुरक्षा, मुद्रा की व्यवस्था, देश में आन्तरिक शान्ति बनाये रखना, नागरिकों की जान–माल की सुरक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य था। इस मान्यता के साथ न्याय की उचित व्यवस्था भी राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य समझी जाने लगी, जिसमें व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों का निर्णय, अपराधी को दण्ड देना आदि राज्य का प्रमुख कार्य समझा जाने लगा। न्याय की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य समझा जाने लगा तथा न्याय विभाग को राज्य का अंग स्वीकार किया जाने लगा। प्रारंभ में यह कार्य चर्च तथा धार्मिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था। धीरे–धीरे इसका विकास हुआ राज्य में सुशासन स्थापित करने तथा आपसी विवादों को सुलझाने के लिये समुचित न्याय व्यवस्था आवश्यक समझी जाने लगी तथा प्रचलित विधि के अनुसार न्याय तथा दण्ड की व्यवस्था होने लगी।

शासन के तीन अंग व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका विकसित हुए। जनता के अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में न्यायपालिका का महत्व स्थापित

हुआ तथा संविधान में इस बाबत् उपबन्ध किये गये। भारत में स्वतंत्रता के पूर्व न्यायालयों की व्यवस्था ब्रिटिश शासन द्वारा की गई।

भारतीय न्याय व्यवस्था के कार्यों की उपलब्धि और सामाजिक हित के कार्य प्रशंसनीय रहे हैं। प्राचीन और मध्यकालीन समय में न्याय–प्रशासन में कई नये प्रयोग हुए। लेकिन वर्तमान स्वतन्त्र भारत की न्याय–व्यवस्था ब्रिटिश राज की देन है। अविभाजित भारत में अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए अंग्रेजों ने प्रशासन को आधुनिक बनाने के प्रयास में पश्चिम में सुधारों की तर्ज पर भर्ती दंडसहिता–निर्माण आदि कदम उठाए।

ब्रिटिश शासन के दौरान ब्रिटिश सम्राट के अधीन उपनिवेशों और भारतीय अपीलों को सुनने हेतु एक प्रिवी कौंसिल नामक समिति होती थी, जो कि भारतीय सर्वोच्च अपील का न्यायालय था। प्रिवी कौंसिल में आलोचना के बाद भी ब्रिटिश संसद ने एक न्यायिक समिति अधिनियम 1833 पारित किया जिसमें कि एक कानून–विशेषज्ञों की एक स्थायी समिति बनाने का प्रावधान था, जो ब्रिटिश उपनिवेशों की अपील सुनती थी। 1854, 1908 और 1929 के अधिनियमों ने प्रिवी कौंसिल की कार्य–प्रणाली को और सुधारा, परन्तु न्यायपालिका की सही व्यवस्था 1935 के भारत अधिनियम के अन्तर्गत ही हो पाई।

सन् 1935 का भारतीय शासन अधिनियमः–

इस अधिनियम का भारत के संवैधानिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इनकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीः–

1. मुस्लिम, सिख, यूरोपियन, भारतीय, ईसाई और एंग्लो–इंडियन के लिए पृथक आरक्षण।
2. एक भारतीय संघ का निर्माण की योजना।
3. विधायी शक्तियों का प्रांतीय और केन्द्रीय विधायिका में बँटवारा और प्रान्तीय स्वायत्तता।

4. केन्द्र में द्वैध शासन।

5. एक संघीय न्यायालय की स्थापना।

इसी के परिणामस्वरूप 1937 में एक संघ–न्यायालय की स्थापना की गई, जिसका अधिकार–क्षेत्र सीमित था। अब संघ–न्यायालय के स्थान पर सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना की गई। जब भारतीय गणतन्त्र का संविधान 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ तो वह पाश्चात्य उदारवाद और संसदीय प्रजातन्त्र की अवधारणा से प्रभावित था।

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935 के अन्तर्गत हाई कोर्टस की स्थिति –

सन् 1935 में ब्रिटेन की संसद ने भारत के शासन अधिनियम 1935 पारित किया, जिसके अन्तर्गत भारत के लिये संघीय शासन व्यवस्था लागू की गई थी। इस अधिनियम के द्वारा हाई कोर्टों की व्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन हुए–

1. सन् 1911 के हाईकोर्ट एक्ट के अन्तर्गत निर्धारित की गई अधिकतम न्यायाधीशों की संख्या सम्बन्धी सीमा प्रतिबंध हटा दिया गया तथा अब हाइकोर्ट के न्यायाधीशों की संख्या न्यायालय के कार्य के अनुसार निर्धारित की जा सकती थी। हाई कोर्टों के न्यायाधीशों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट के अधीन की जाती थी, परन्तु भारत के गर्वनर जनरल द्वारा इन कौंसिल को यह अधिकार दिया गया था कि वह आवश्यकतानुसार दो वर्षों के लिये अतिरिक्त न्यायाधीश की अस्थायी नियुक्ति कर सकता था।
2. सन् 1935 के एक्ट द्वारा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों का सेवाकाल निश्चित कर दिया गया तथा वे 60 वर्ष की आयु प्राप्त होने तक अपने पद पर बने रह सकते थे। इसका प्रयोजन यह था कि वे अपने न्यायिक कार्य निर्भीकता से कर सके तथा उन्हें अपनी बर्खास्तगी का डर न बना रहे परन्तु दुराचरण मानसिक अथवा शारीरिक विकार अथवा पी वी कौंसिल की सिफारिश पर किसी भी हाईकोर्ट के न्यायाधीश को साठ वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व भी पद से हटाया जा सकता था।

3. सन् 1935 ई. के भारत शासन अधिनियम द्वारा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के पद पर नियुक्ति के लिये दस वर्ष की बैरिस्ट्री अथवा वकालात का पूर्वानुभव अनिवार्य रखा गया।
4. भारत के हाईकोटों की स्थापना से ही यह नियम अपनाया गया था कि हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की कुल संख्या के कम से कम 1/3 न्यायाधीश बैरिस्टरों में से तथा 1/3 सिविल सर्विस से नियुक्त किये जायेंगे परन्तु 1935 के भारत शासन अधिनियम द्वारा उसे समाप्त कर दिया गया तथा उक्त श्रेणियों में से कोई भी योग्य व्यक्ति हाईकोर्ट के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हो सकता था।
5. सन् 1935 के एक्ट द्वारा हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश के पद पर बैरिस्टर या सिविल सर्विस के सदस्य में से किसी की भी नियुक्ति हो सकती थी।
6. सन् 1935 के एक्ट के अन्तर्गत भी प्रेसीडेन्सी नगरों के हाईकोर्टो को राजस्व सम्बन्धी मौलिक अधिकारिता से वंचित रखा गया था। राजस्व के मामलों में प्रेसीडेंसी नगरों के हाईकोर्ट को केवल अपीलीय अधिकारिता प्राप्त थी।
7. सन् 1935 एक्ट के अन्तर्गत हाईकोर्ट को राज्य क्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त हुए थे। सीमा क्षेत्र के बाहर दूसरे प्रांतों के मामलों पर अपने अधिकार क्षेत्र का प्रयोग कर सकता था।
8. इस अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था कर दी गई थी कि हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन–भत्ते, पेंशन तथा सेवा शर्ते आदि ब्रिटिश सम्राट द्वारा निर्धारित की जायेगी।
9. इस एक्ट का महत्वपूर्ण प्रावधान यह था कि इसके अन्तर्गत विवादियों के प्रार्थना पत्र पर कोई भी हाईकोर्ट अपनी निचली अदालत में विचाराधीन वाद स्वयं ही निर्णय के लिये मंगा सकता था।

भारत शासन अधिनियम 1935 के अन्तर्गत भारत के लिये एक संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) की स्थापना हुई थी, जिसे समस्त उच्च न्यायालयों पर अपीलीय अधिकारिता प्राप्त थी। उच्च न्यायालय से फैडरल कोर्ट में अपील दायर करने के लिए अपीलकर्ता को सम्बन्धित उच्च न्यायालय से इस आशय का प्रमाण

पत्र प्राप्त करना आवश्यक होता था कि उसके मामले में विधि से सम्बन्धित कोई सारभूत प्रश्न निहित है।

अतः 1935 भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत भारत के उच्च न्यायालयों के महत्त्व को यथावत बनाये रखा गया था तथा उनकी स्वतंत्रता की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। हाईकोर्ट पर प्रशासनिक नियंत्रण सरकार का ही रखा गया था, परन्तु उनका गठन अधिकार शक्ति तथा कार्य पद्धति इस प्रकार नियोजित की गई थी कि वे संघीय तथा प्रांतीय प्रभाव से पूर्णतः मुक्त रहे।

सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम के बाद स्थापित हाईकोर्टस

सन् 1935 में मध्य प्रांत के ज्यूडिशियल कमीशनर का न्यायालय नागपुर हाईकोर्ट में बदल गया। बाद में राज्यों के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप नागपुर महाराष्ट्र प्रांत में चले जाने के कारण मध्यप्रदेश के उच्च न्यायालय की स्थापना जबलपुर में की गई। जिसकी एक–एक खण्डपीठ ग्वालियर तथा इन्दौर में है।

सन् 1948 में आसाम राज्य के लिए एक हाईकोर्ट गुवाहाटी में स्थापित किया गया और 1962 में नागालैण्ड को राज्य का दर्जा प्राप्त होने के बाद आसाम के गुवाहाटी स्थित हाई कोर्ट को 'हाई आर्ट ऑफ आसाम एण्ड नागालैण्ड' कहा जाने लगा।

सन् 1948 में ही उड़ीसा के लिये कटक में हाईकोर्ट की स्थापना हुई तथा इसी समय से उड़ीसा राज्य पर से पटना हाईकोर्ट की अधिकारिता समाप्त कर दी गई।

राजस्थान के लिये एक हाईकोर्ट जोधपुर में सन् 1948 में स्थापित हुआ। दिसम्बर 1949 में त्रावणकोर–कोचीन प्रांतों के लिये एक उच्च न्यायालय एर्नाकुलम में स्थापित हुआ। बाद में यह प्रांत केरल राज्य में मिला दिया गया। अतः 1958 से इस हाईकोर्ट को ''हाईकोर्ट ऑफ केरल'' कहा गया।

मैसूर का हाईकोर्ट स्वतंत्रता पूर्व से ही कार्यरत था। उसकी स्थापना 1884 के एक्ट के अन्तर्गत की गई थी। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् सन् 1961 में मैसूर हाईकोर्ट द्वारा इस न्यायालय की शक्तियाँ अन्य कोर्टों के समान कर दी गई। जम्मू व कश्मीर व हाईकोर्ट भी स्वतंत्रता पूर्व से ही श्रीनगर में कार्यरत है।

आंध्र राज्य का गठन 1953 में हुआ जुलाई 1954 में आंध्रप्रदेश के लिए हैदराबाद में एक उच्च न्यायालय की स्थापना की गई जिसका अधिकार क्षेत्र मद्रास हाईकोर्ट की भाँति ही है।

1960 में बोम्बे पुनर्गठन अधिनियम के अन्तर्गत गुजरात राज्य अस्तित्व में आया अतः मई 1960 में अहमदाबाद में गुजरात का हाईकोर्ट स्थापित हुआ। जिसकी शक्ति तथा अधिकार क्षेत्र बम्बई के हाईकोर्ट के समान ही थे।

स्वतंत्र भारत के उच्च न्यायालय

भारतीय संविधान में प्रत्येक राष्ट्र के लिए एक हाईकोर्ट का प्रावधान है। परन्तु संसद द्वारा दो या अधिक राज्यों के लिए एक हाईकोर्ट की स्थापना की जा सकती है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा आवश्यकतानुसार अन्य न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जा सकते है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के नियम तथा अर्हताएँ संविधान के अनुच्छेद 217(2) में वर्णित है। संविधान के अन्तर्गत उनका सेवाकाल सुरक्षित रखा गया है।

उच्च न्यायालय अधिकारिता –

प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय होता है, जो अपने अपमान के लिये दोषी व्यक्ति को दण्डित कर सकता है परन्तु उस व्यक्ति को अपने बचाव के लिये उचित अवसर दिया जाना अनिवार्य है।

भारत के सभी हाईकोर्ट, प्रिवी कौंसिल तथा फेडरल कोर्ट द्वारा दिये गये निर्णय मानने के लिए बाध्य है। जब तक उच्चतम न्यायालय ने उनसे असहमति व्यक्त न की हो।

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् हाईकोर्ट को राजस्व सम्बन्धी मौलिक अधिकारिता प्राप्त हो गई है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों को नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिये तथा अन्य प्रायोजनों के लिए रिट–आदेश जारी करने की अधिकार शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 227 के अनुसार उन्हें अपने क्षेत्राधीन कार्यरत अदालतों तथा न्यायाधिकरणों पर नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण का अधिकार भी प्राप्त है।

प्रत्येक हाईकोर्ट को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने अधीनस्थ निचली अदालत में विचाराधीन किसी ऐसे मामले को निर्णय के लिये स्वयं ले सकता है, जिसमें कोई सारभूत विधि सम्बन्धी प्रश्न अन्तर्गस्त हो अथवा संविधान की व्याख्या की आवश्यकता हो।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 131 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णयों से उच्चतम न्यायालय को अपील प्रेषित करने सम्बन्धी प्रावधान दिये गये है ऐसी अपीले दीवानी तथा फौजदारी दोंनो प्रकार के वादों में हो सकती है। प्रत्येक अपील के साथ सम्बन्धित उच्चतम न्यायालय का अनुमति पत्र सलंग्न होना आवश्यक है।

भारतीय न्याय व्यवस्था में उच्च न्यायालयों को संविधान के संरक्षण तथा नागरिको कें मूलभूत अधिकारों के संरक्षण का महत्वपूर्ण दायित्व सौपा गया है, परन्तु कार्य की अधिकता के कारण उच्च न्यायालय को अपने कार्य को उचित रुप से करने मे कठिनाई हो रही थी। अतः विधि आयोग ने अनेक उपाय सुझाये हैं, जिनमें न्यायालयों के न्यायाधीश पद के लिए अनुभवी अधिवक्ताओं की नियुक्ति पर विशेष बल दिया गया। आयोग ने सुझाव दिया कि प्रत्येक हाईकोर्ट वर्ष मे कम से कम दो सौ दिनो तक कार्य अवश्य करें। इसी प्रकार विधि आयोग नें अपीलीय मामलों में

उच्च न्यायालयों की अधिंकारिता में विस्तार किये जाने पर बल दिया है ताकि उसमें लम्बित वादों की संख्या में कमी हो सके ।

उच्च न्यायालय का भारत की न्याय व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान है तथा वे न्यायपालिका के अविच्छिन्न अंग है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उच्च न्यायालयों के कार्यो के स्तर में सुधार नितांत आवश्यक है। लोकहितवादों के प्रादुर्भाव सें न्याय का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। उच्चतम न्यायालय के अलावा उच्च न्यायालयों कों भी अनुच्छेंद 226 के अन्तगर्त लोकहित के मुकदमें तय करने का अधिकारिता प्राप्त है।

संघीय न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय-

भारत की न्याय व्यवस्था देश मे प्रचलित दीवानी व फौजदारी न्यायालयों की स्थापना, उच्च न्यायालय, संघीय न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के क्रमिक विकास का परिणाम है। भारतीय विधि के इतिहास में सन् 1937 से 1949 तक कार्यरत संघीय न्यायालय तथा उसके पश्चात् गठित उच्चतम न्यायालय की सरंचना व अधिकांश शक्तियों का विशेष महत्व रहा हैं और अध्ययन के अभाव में भारतीय शासन विधि का अध्ययन अपूर्ण है। सन् 1935 के गर्वनमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत भारत मे संघीय न्यायालय की स्थापना हुई।

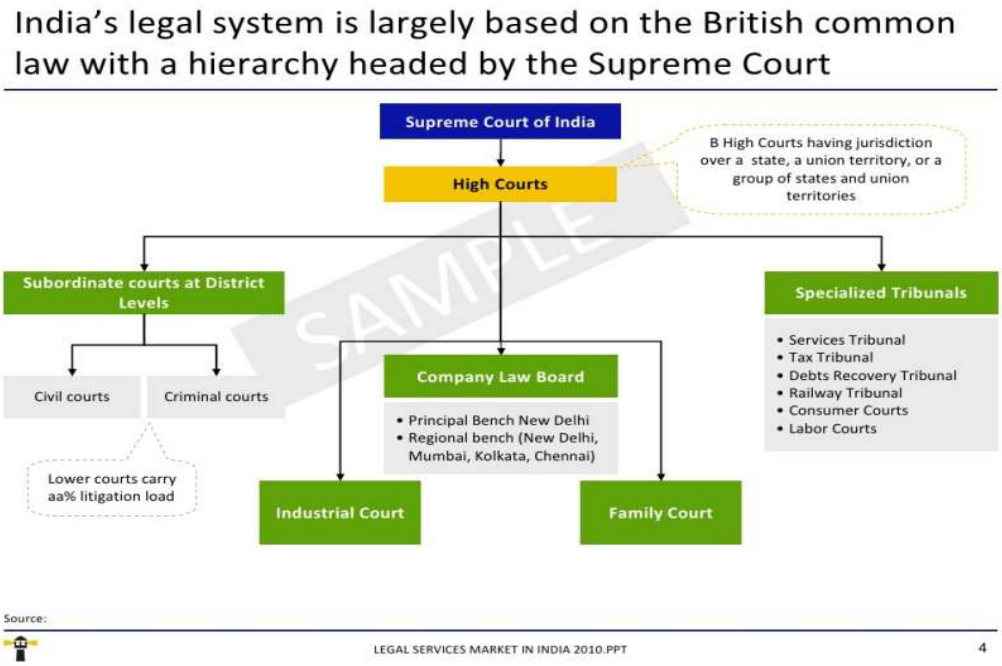

न्यायिक संगठन :-

संघीय न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अधिक से अधिक 6 अन्य न्यायाधीश नियुक्त किये जा सकते थे। न्यायाधीश ब्रिटिश सम्राट द्वारा बहुत ऊँची योग्यताओं के आधार पर ही नियुक्त किये जाते थे। इन न्यायाधीशों की संख्या में केवल उस समय वृद्धि की जा सकती थी जबकि इस हेतु एक प्रार्थना–पत्र गवर्नर जनरल ब्रिटिश सम्राट को भेजे जा सकते थे। न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहते थे, परन्तु 65 वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेने पर स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण कर सकते थे। उनको 65 वर्ष की आयु से पूर्व केवल कदाचार अथवा शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के कारण ब्रिटिश सम्राट उस समय हटा सकता था, जबकि प्रिवी कौंसिल की न्याय समिति उपर्युक्त दोषी के आधार पर न्यायाधीश को दोषों ठहराकर हटाने की राय दे। न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए उनके कार्यकाल में उनके वेतन–भत्तों में किसी प्रकार की कटौती नहीं की जा सकती थी।

मुख्य एवं अन्य न्यायाधीशों के लिए आवश्यक था कि वह 15 वर्ष तक पुराना एडवोकेट, बैरिस्टर या वकील रह चुका हो। ब्रिटिश सम्राट अपनी मंत्री–परिषद के परामर्श से न्यायाधीशों के वेतन–भत्तें और पेंशन आदि निर्धारित करता था।

संघीय न्यायालय का अधिकार:-

संघीय न्यायालय को प्रारभिक, अपीलीय और परामर्श सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे, जो निम्न प्रकार है–

1. **प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र** :– संघीय न्यायालय को 1935 के एक्ट (संविधान) की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त संघीय न्यायालय अपने प्रारंभिक अधिकार क्षेत्र के अनुसार उन विवादों का भी निर्णय करता था, जो भारतीय संघ और एक प्रान्त अथवा संघ में शामिल होने वाले देशी रियासतों के बीच अथवा किसी प्रान्त और देशी रिसायतों अथवा दो से अधिक प्रान्तों या रिसायतों के बीच उत्पन्न हों।

2. **अपीलीय अधिकार क्षेत्रः**– संघीय न्यायालय को प्रान्तों और संघ में शामिल होने वाली देशी रियासतों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार था, यदि वे एक प्रमाण पत्र दे कि अपील के अधीन मामले में संविधान की व्याख्या संबंधी कोई महत्वपूर्ण प्रश्न अन्तर्निहित है।

3. **परामर्श सम्बन्धी अधिकार क्षेत्रः**– गवर्नर जनरल के अनुरोध पर किसी कानूनी मामले के सम्बन्ध में संघीय न्यायालय परामर्श दे सकता था। इस प्रकार का परामर्श खुले न्यायालय में दिया जाता था।

4. **रिकॉर्ड न्यायालय के रूप मेंः**– संघीय न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय के रूप में भी कार्य करता था। इसकी कार्यवाहियों तथा निर्णयों का रिकॉर्ड रखा जाता था। नीचे के न्यायालयों में इसके निर्णयों का हवाला दिया जा सकता था।

संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं थाः–

1935 के एक्ट द्वारा स्थापित संघीय न्यायालय सर्वोच्च नहीं था। इसके निर्णयों के विरूद्ध या इसकी अनुमति के बिना कतिपय मामलों में प्रिवी कौंसिल की न्याय समिति को अपील की जा सकती थी। इनमें से अधिकांश मामले देशी रियासतों से सम्बन्धित होते थे।

संघीय न्यायालय की स्थापना और प्रकार्यः–

संघीय न्यायालय की स्थापना 1 अप्रैल, 1937 को की गयी। यहीं एक मात्र प्रावधान था, जो संघीय व्यवस्था के विभिन्न प्रावधानों के बीच लागू हुआ। सर मौरिस जॉनसन इस न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किये गये थे। इसके अतिरिक्त दो अन्य न्यायाधीश सर्वश्री एम.आर. जयकर और एस.एम. सुलेमान थे। संघीय न्यायालय को स्वंय अपने और भारत के अन्य न्यायालयों के कार्य संचालन के लिए नियम और विनियम बनानें का अधिकार था। 1938 में संघीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वृद्धि कर दी गयी थी ओर उसे उच्च न्यायालय के उन

विवादों को सुनने का अधिकार भी प्रदान कर दिया गया, जो 50 हजार रूपये या इससे अधिक धनराशि से संबंधित थे।

संघीय न्यायालय ने 13 वर्षों तक अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान उसने जनता के नागरिक अधिकारों की कार्यपालिका की निरंकुशता से रक्षा के प्रति प्रतिबद्धता जताई। इसने भारत प्रतिरक्षा कानूनों को रद्द करके यह सिद्ध कर दिया कि संघीय न्यायालय सरकारी नियंत्रण से मुक्त है और नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध है। 1950 ई. में नया संविधान लागू होने पर इसे भारत का सर्वोच्च न्यायालय बना दिया गया और इसकी शक्तियों में वृद्धि कर दी गई।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय परिषद् अधिनियम, खण्ड 38–39, 1961.
2. बेनर्जी, ए.सी.; ''इण्डियन कांन्स्टीट्यूशन डाक्यूमेन्ट'', वाल्यूम–2, पृष्ठ 139.
3. ''केथ स्पीचेस एण्ड डाक्यूमेन्ट ऑन इण्डियन पॉलिसी'', वाल्यूम–2, पृष्ठ 7.
4. कूपलेण्ड; ''दी इण्डियन प्राब्लम्स'', पृष्ठ 25.
5. माण्टेस्क्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, 1919.
6. मेनन, वी.पी.; ''दी ट्रांसफर ऑफ पॉवर इन इण्डिया'', पृष्ठ 280–281.
7. बेनर्जी, ए.सी.; ''दी मैकिंग ऑफ दी इण्डियन कांस्टीट्यूशन'' 358.
8. वेड एण्ड फिलिप्स; ''कान्स्टीट्यूशन लॉ'' चौथा संस्करण, पृष्ठ 1
9. धवन, राजीव; ''इट्रोडक्शन ऑफ लॉ एंड सोसायटी इन मॉर्डन इण्डिया'', दिल्ली ऑक्सफोर्ड, 1992, पृष्ठ 24
10. माण्टेस्क्यू; ''रचना द स्पिरिट ऑफ लॉज'' लंदन, 1996
11. अग्रवाल, कमलेश; ''कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएँ'' राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2001
12. वहीं, पृष्ठ संख्या 155
13. सरस्वती, आचार्य रामानन्द; ''टीकाकृत शुक्रनीति'', अध्याय 4, 5
14. अग्रवाल, कमलेश; ''कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएँ'' राधा पब्लिकेशन, अध्याय 1–25, नई दिल्ली, 2001
15. कौटिल्य; ''अर्थशास्त्र'' चाणक्य पृणीत सूत्रम्, 545.

16. मनुस्मृति, अध्याय 8, 127, 128

17. मनुस्मृति, अध्याय 8, 35

18. याज्ञवलक्य स्मृति व्यवहाराध्याय, साधारण व्यवहार मात्रिका प्रकरणम्–।

19. याज्ञवलक्य स्मृति व्यवहाराध्याय, साधारण व्यवहार मात्रिका प्रकरणम्–2

20. याज्ञवलक्य स्मृति व्यवहाराध्याय, साधारण व्यवहार मात्रिका प्रकरणम्–4

21. कौटिल्य–अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, अध्याय 1,2,3.

22. कौटिल्य–अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, अध्याय 55

23. शांतिपर्व, अध्याय 37, 15

24. मनुस्मृति, अध्याय 8,10

25. शान्तिपर्व, अध्याय 79, 28

26. महाभारत अनुशासन पर्व, 145

27. शुक्रनीति सार, चतुर्थ अध्याय का राजधर्म निरूपण प्रकरण–4

28. वही 5 व 10

29. वही, 11

30. वही, 7

31. वही, 6

32. वही, 30

33. वही, 14–15

34. वही, 33

35. वही, 30

36. वही, 31

37. वही, 32

38. कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्य प्रणीत सूत्र, पृ. 417 व 416

39. वही, सूत्र 560

40. कौटिल्य अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, अध्याय 50

41. वही, 51, 52

42. वही, 53

43. वही, 56

44. वही, 58

45. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल; ''दी मुगल एम्पायर'', आगरा, पृष्ठ 214, 1964

46. भारत शासन अधिनियम, 1919 की धारा 111

47. भारत शासन अधिनियम, धारा 102 (1)

48. भारत शासन अधिनियम, 1935 धारा 200 (1)

49. भारत शासन अधिनियम, 1935 धारा 200 (2)

50. भारत शासन अधिनियम, धारा 202

51. भारत शासन अधिनियम, धारा 200 (2) (बी)

52. भारत शासन अधिनियम, 1935 धारा 220 (2) (बी)

53. भारत शासन अधिनियम, धारा 201

54. भारत शासन अधिनियम, धारा 204 (1) (बी)

55. भारत शासन अधिनियम, धारा 204 (1) (बी)

56. भारत शासन अधिनियम, धारा 204 (2)

57. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 124 (4) तथा (5)

58. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 124 (2) तथा 125 (2)

तृतीय– अध्याय
न्यायपालिका का संरचनात्मक स्वरूप
सैद्धान्तिक विश्लेषण

एक वह युग था, जब शक्ति के आधार पर किसी भी ढंग से सत्ता हथिया कर राजा बन जाते थे। जनता को इच्छा तथा अनिच्छा से उनके आदेश (कानून) का पालन करना होता था। फिर शनैः–शनैः इस व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह हुए, भयंकर संघर्ष हुए और अनगिनत बलिदानों के बाद कहीं लोकतन्त्र का जन्म हुआ। कानून का राज न्याय का राज और जनता का राज स्थापित हुआ। इस दृष्टि से लोकतन्त्र की स्थापना करने वाले लोगों ने इसके संचालन के लिए कुछ सिद्धान्तों का निर्माण किया। एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक साधन के तीन अंग व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका होंगे। इन तीनों का महत्व एक दूसरे से बढ़कर होगा। उनका परस्पर सहयोग होगा, लेकिन वे अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होंगे।

भारतीय शासन प्रणाली ब्रिटेन तथा अमेरिका की शासन प्रणालियों का मिश्रण हैं। यहाँ पर संसदीय सर्वोच्चता के स्थान पर संवैधानिक सर्वोच्चता है तथा वंशगत राजा के स्थान पर चयनित राष्ट्राध्यक्ष हैं। न्यायाधिपति श्री पी.वी. मुखर्जी के शब्दों में ''इसे न तो पूर्णतया संसदीय शासन प्रणाली कहा जा सकता है और न ही अध्यक्षीय शासन प्रणाली, बल्कि यह दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों का मिश्रण हैं। भारतीय संविधान समितियों ने न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया और न्यायिक स्वतंत्रता को कायम रखने के सभी प्रयास किये।[1]

''हमारे संविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई है। इसका गठन संविधान के एक संरक्षक के रूप में किया गया है। यह नागरिकों के मौलिक अधिकारों का रक्षक और संविधान का संतुलन चक्र हैं। यह अपने महत्वपूर्ण दायित्वों को पूरा कर सके इसके लिए इसे आवश्यक रूप से शासन से स्वतंत्र होना चाहिये।[2]

किसी भी गतिशील राजनीतिक समाज में योग्य निष्पक्ष और स्वतंत्र न्याय की व्यवस्था आवश्यक हैं। एक राज्य में न्यायपालिका की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए प्रो. गार्नर ने कहा है ''न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई समाज बिना विधानमण्डल के रहता है। यह बात समझ में आ सकती है लेकिन ऐसे किसी सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका या न्यायाधिकरण की कोई व्यवस्था नहीं हो।''

लोकतांत्रिक समाज में न्यायालय की महत्ता और अनिवार्यता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए विस काउंट ब्राइस ने कहा है ''कि किसी सरकार अथवा व्यवस्था की श्रेष्ठता का मापदण्ड उसकी न्याय व्यवस्था है। यह नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है। यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि समाज में शीघ्र एवं निश्चित रूप से न्याय मिलेगा तो यह उसके लिये प्रसन्नता का विषय हैं। यही एक ऐसी संस्था है जो व्यवस्था में आस्था और विश्वास जागृत करती है तथा सरकार के सफल संचालन का मार्ग प्रशस्त करती है।'' अमेरिका के न्यायमूर्ति स्टोरी ने कहा है कि ''जहाँ कानून के प्रतिपादन, उद्घोषणा व्यवस्था करने, आपसी विवादों का निपटारा करने और अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए न्याय विभाग नहीं हैं, वहाँ की सरकार अपनी अल्पबुद्धिता से समाप्त हो जायेगी। वहाँ नागरिक स्वतन्त्रता का हनन कर अन्य विभाग शक्ति अर्जित करेंगे। ऐसी स्थिति में शासकों की इच्छा ही सर्वोपरि बन जायेगी और वे निरंकुश तानाशाह बन जायेंगे। इस स्थिति में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि यह तानाशाही किसी एक व्यक्ति में निहित होगी या समूह में।

भारत जैसे लोकतांत्रिक संघ राज्य में न्यायपालिका की आवश्यकता क्या है, इसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इसकी अपरिहार्यता और राज्य व्यवस्था में महत्ता से संविधानविद् भलीभाँति परिचित थे। इसलिये उन्होंने उच्चतम न्यायालय जैसी संस्था की स्थापना की। इस समूची व्यवस्था की शक्तियाँ, कार्य तथा स्वतंत्रता बनाये रखने के प्रावधान उनकी सूझबूझ और अदम्य इच्छा को ही परिलक्षित करते हैं।

अनेक संघीय शासन प्रणालियों में स्थित न्यायिक व्यवस्था के विपरित भारत में एकल न्यायिक व्यवस्था हैं। इसे न्यायपालिका का एकीकृत रूप भी कहा जा

सकता हैं। यद्यपि भारत एक संघीय देश है, फिर भी संविधान ने उसे एकीकृत न्यायपालिका व मूल्यविधि की इकहरी व्यवस्था दी हैं।[3]

संविधान अधिनियम 1935 के अंतर्गत भारत में संघीय न्यायालय स्थापित किया गया था। यह पद्धति कुछ सीमित रूप से तभी स्थापित हुई थी। किन्तु उस समय भारत में संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था क्योंकि इस न्यायालय से लन्दन स्थित प्रिवी कॉसिल की न्यायिक समिति को अपील की जा सकती थी। इन न्यायिक समितियों के निर्णय अंतिम होते थे। अब सर्वोच्च न्यायालय यथार्थ में ही सर्वोच्च है क्योंकि ऐसी कोई परिसीमित करने वाली शक्ति इसके पथ में नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय भारतीय न्यायिक व्यवस्था के शिखर पर हैं। इसके पास इस न्यायिक व्यवस्था के उचित संचालन तथा नियंत्रण की सभी शक्तियाँ हैं। लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अभिन्न अंग के रूप में यदि यह एक उच्च न्यायिक स्तर प्राप्त करना चाहे तो इसके पास वे सभी शक्तियाँ है जिनके द्वारा सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था संचालित की जा सकती है।

भारतीय नागरिक व्यवस्था के शिखर पर उच्चतम न्यायालय है और प्रत्येक राज्य के लिये एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई हैं। संविधान में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की तरह संघ तथा राज्यों के लिए दुहरी न्यायापालिका की व्यवस्था नहीं हैं। एक ही न्याय श्रृंखला संघ और राज्यों के कानूनों का प्रशासन करती हैं। जैसा कि सर्व विदित है भारतीय संविधान एक संघ राज्य की स्थापना करता है और संघ राज्य में सरकारों के बीच विवाद होना अवश्यभावी है। अतः ऐसी व्यवस्था में यह आवश्यक है कि व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका से स्वतंत्र एक न्यायालय हो। दूसरा सत्ता का विकेन्द्रीकरण और सरकारों में शक्ति विभाजन इसके आवश्यक अंग हैं। क्षेत्राधिकार को लेकर जब विवाद हो तो एक स्वतंत्र न्यायालय ही निष्पक्ष एक संविधान सम्मत निर्णय दे सकता है। इस दृष्टि से यह संघीय न्यायालय की भूमिका अदा करता है। वस्तुतः भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघ तथा राज्यों, राज्य तथा राज्यों के मध्य विवादों के निर्णय का अंतिम अभिकरण हैं। संविधान निर्माताओं ने इसे संविधान के व्याख्याकार एवं सरंक्षक के रूप में देखा है। मौलिक अधिकारों की रक्षा का भार भी इसी न्यायालय पर है। इस उत्तरदायित्व के निर्वहन हेतु इसे अनेक लेख एवं आदेश

जारी करने का अधिकार सौंपा गया हैं। उच्चतम न्यायालय को संविधान की सीमा में रहते हुए व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को नियंत्रण में रखना होता है। भारत में उच्चतम न्यायालय को परामर्शदाता का कार्य भी सौंपा गया है जिससे व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में टकराव न हो। भारत में उच्चतम न्यायालय ने केवल लोकतंत्र का प्रहरी है अपितु संवैधानिक और साधारण कानूनों की प्रगतिवादी व्याख्या करके सामाजिक क्रांति के अग्रदूत का कार्य करता हैं। भारत के उच्चतम न्यायालय के कार्य एवं उत्तरदायित्व पर प्रारूप समिति के सदस्य अल्हादी कृष्णास्वामी अय्यर ने कहा हैः—

''भारत में संविधान का विकास भविष्य में उच्चतम न्यायालय के निर्देशन एवं कार्यों पर निर्भर करता हैं। आने वाले समय में न्यायालय को संविधान के प्रतिपादन में कई अंतविर्रोधी सामाजिक धारणाओं और शक्तियों का सामना करना पड़ेगा। उसका एक कार्य संविधान की व्याख्या करना है किन्तु अपने कर्तव्यों के निर्वहन में वह सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक प्रवृत्तियों को दृष्टि ओझल नहीं कर सकता। उसे इन अन्तर विरोधी शक्तियों एवं प्रवृतियों में संतुलन भी स्थापित करना होगा। संविधान के प्रतिपादन की प्रक्रिया में कतिपय विवादों में उसे इकाई राज्यों के मुकाबले केन्द्र की शक्ति स्थापित करनी है तो दूसरी ओर प्रान्तीय स्वायत्तता, क्षेत्रीय दावों का भी ध्यान रखना होगा। कई जगह जहाँ उसे नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा करनी है वहाँ दूसरी ओर उसे सामाजिक हित में राज्य की सत्ता की भी स्थापना करनी होगी। यह देश का सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकरण है, जिसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन बनाये रखना हैं।''

न्यायापालिका शासन का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है। स्वतंत्रता तथा समानता के जिन बुनियादी सिद्धान्तों पर लोकतंत्र की भव्य तथा विशाल इमारत खड़ी है। उन सिद्धान्तों की रक्षा समुचित न्याय के बिना नहीं हो सकती। यह शासन की आत्मा है तथा उसका प्राण है। किसी राज्य में लोकतन्त्र है या नहीं, इसकी सबसे अच्छी पहचान यह है कि उस राज्य में स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका है या नहीं। न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है। यह विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों की व्याख्या करती है। कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। नागरिकों का कल्याण तथा उनके अधिकारों की रक्षा करती है।

कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। नागरिकों का कल्याण तथा उनके अधिकारों की सुरक्षा पक्षपात रहित न्याय पर निर्भर करता है।

न्यायपालिका के सम्बन्ध में लार्ड ब्राइस ने कहा कि ''न्याय विभाग राज्य की केवल आवश्यकता ही नहीं वरन् शासन की श्रेष्ठता की कसौटी है। उसकी न्याय व्यवस्था से बढ़कर और कोई नहीं हो सकती क्योंकि शीघ्र और निश्चित न्याय के विश्वास पर ही औसत नागरिक की सुरक्षा तथा कल्याण निर्भर है। यदि कानून को बेईमानी के साथ क्रियान्वित किया जाय तो मधु का माधुर्य कहां रहेगा और यदि उसे दुर्बलता के साथ लागू किया गया तो व्यवस्था की सुरक्षा ही कहाँ रहेगी। यदि अंधकार में न्याय की ज्योति विलीन हो जाये तो वह कितना भयानक होगा।[4]

न्यायपालिका के अभाव में किसी राज्य में न्याय नही होता, कानून का पालन नहीं होता, वहाँ निरंकुशता छायी रहती हैं। राज्य बिखरने की अवस्था आ जाती है, इसलिए न्यायपालिका को राज्य की आत्मा तथा प्राण कहा जाता हैं। किसी शासन की श्रेष्ठता को जाँचने के लिये उसकी न्याय व्यवस्था की निपुणता से बढ़कर और कोई अच्छी कसौटी नहीं है क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता है। जितना उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित शीघ्र तथा अपक्षपाती न्याय शासन पर निर्भर रह सकता है। ब्राइस के शब्दों में ''किसी शासन की उत्तमता की जाँच करने की कसौटी उसकी न्याय व्यवस्था की कार्य क्षमता है।[5] राले ने कहा कि – ''अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए न्याय विभाग नितान्त आवश्यक है। राज्य का समूचा व्यक्तित्व ही न्याय व्यवस्था पर निर्भर होता है। यदि न्यायपालिका न हो तो सर्वत्र अराजकता का साम्राज्य छा जाये। न्यायपालिका की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए गार्नर ने लिखा है– ''न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी समाज बिना विधानमण्डल के रहता है यह बात समझ में आ सकती है, लेकिन किसी ऐसे सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें न्यायपालिका या न्यायधिकरण की व्यवस्था न हों।[6] वर्तमान में प्रत्येक देश ने विधि के शासन को मान्यता दी है, जिनमें कानून के समक्ष सभी समान है। न्यायपालिका की दृष्टि में छोटे– बड़े, धनी–गरीब, काले–गोरे सभी के लिए एक समान न्याय होता है तथा वे सभी अपने अपराध के अनुरूप दण्ड पाते है।

प्रोफेसर लास्की ने कहा कि– ''जो व्यक्ति न्यायालयों में न्याय करते है वे जिस भाँति अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते है, वे जिस स्थान से निर्वाचित किये जाते है, उनका कार्यकाल कितना तथा कब तक रहेगा? ये समस्याएँ राजनीति दर्शन की अंतरंग समस्याएँ हैं। जब हम यह जानते हैं कि एक राष्ट्र एक राज्य किस प्रकार अपने न्याय करता है, तब हमें यह ज्ञात होता है कि वह नैतिक चरित्र के किस स्तर पर हैं।[7]

ग्रेट ब्रिटेन को संसदीय प्रणाली की जन्मभूमि माना जाता हैं। न्यायपालिका की स्वतंत्रता हेतु इंग्लैण्ड में लम्बी यात्रा करनी पड़ी । 1700 ई0 में एक्ट ऑफ सेटिलमेंट द्वारा न्यायाधीशों की स्थिति को सुदृढ़ बनाया गया तथा यह कानून पारित किया गया कि कोई भी न्यायाधीश दुराचरण को छोड़कर अन्य किसी आधार पर अपने पद से नहीं हटाया जा सकता। यह भी तभी संभव है कि जब संसद के दोनों सदन इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दें। ब्रिटेन में संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत संसद सदस्य तथा शासन के किसी विभाग को कोई व्यक्ति न्यायधीश के निर्णय को प्रभावित नहीं कर सकता। न्यायाधीश राजा द्वारा नियुक्त किये जाते है, परंतु राजा द्वारा हटाये नहीं जा सकते है। यहाँ संसदीय सर्वोच्चता का सिद्धान्त लागू होता है। इसका आशय यह है कि संसद जो चाहे वह कानून बनाये। ब्रिटिश संसद के बारे में यह कहा जाता है कि वह किसी कानून को बना सकती है या समाप्त कर सकती है। वह केवल स्त्री को पुरूष तथा पुरूष को स्त्री नही बना सकती। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कहा कि वह ऐसा भी कर सकती है कि वह कानून बनाकर यह घोषित कर दे कि आज से पुरूष स्त्री के नाम से जानी जायेगी।

संसदीय सर्वोच्चता के कारण न्यायपालिका संसदीय कानून की वैधानिकता का न्याय निर्णयन नहीं कर सकती। ब्रिटेन में संसदीय शासन प्रणाली अलिखित संविधान के कारण संसदीय कानून को ही सर्वोपरि माना जाता है। यदि संसदीय कार्यपालिका न्यायपालिका के विरूद्ध कोई कदम उठाना चाहती है तो विधायिका दलगत राजनीति के कारण दलीय सचेतक के प्रभाव में उस आशय का कानून पारित कर सकती है। ऐसी स्थिति में न्यायिक स्वतंत्रता जनभावना पर आधारित होगी। यदि जनभावना जागृत और सतर्क है तो कार्यपालिका तथा विधायिका का

संयुक्त प्रयास विफल हो सकता है। तथा यदि जनभावना जागरूक नहीं है, तो न्यायिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती हैं।

संसदीय तथा अध्यक्षीय शासन प्रणाली में न्यायिक स्वतंत्रता को स्थायी रखने वाले तत्व जैसे चुनाव के बजाय कार्यपालिका अध्यक्ष द्वारा न्यायाधिपतियों की नियुक्ति, कार्यकाल का संरक्षण, उनके वेतन का संरक्षण, न्यायिक कृत्य के बारे में व्यवस्थापिका में बहस पर प्रतिबन्ध आदि तत्व समान रूप से दोनों शासन प्रणालियों में पाये जाते हैं परंतु अध्यक्षीय पद्धति में न्यायालयों की स्वतंत्रता तथ सुदृढ़ स्थिति के लिये अनुकूल वातावरण, संसदीय पद्धति की अपेक्षा इसलिये होता है कि अध्यक्षीय पद्धति में शक्तियों के पृथक्करण का समावेश होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यपालिका की शक्ति राज्य के अध्यक्ष में निहित होती है और न्यायिक शक्ति न्यायालयों में निहित होती है। इस प्रकार के कार्यों के पृथक्करण के अतिरिक्त तीनों अंगों में भी स्पष्ट पृथक्करण होता है। शक्ति पृथक्करण का महत्वपूर्ण प्रभाव यह होता है कि न्यायालयों को न्यायिक पुनरावलोकन का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। न्यायालय विधायिका तथा कार्यपालिका के कृत्यों को संविधान की कसौटी पर खरा न उतर पाने के कारण शून्य घोषित कर सकते हैं। अमेरिका में न्यायपालिका की सुदृढ़ स्थिति तथा सम्मानपूर्ण स्थान कायम करने में न्यायाधिपतियों की प्रमुख भूमिका रही है। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्तों को पूर्णतया निष्प्रभावी नहीं माना जा सकता। राष्ट्रपति जिस व्यक्ति को चाहे संघ का न्यायाधिपति नियुक्ति कर सकता है। बशर्ते कि उसके नाम का सीनेट द्वारा अनुमोदन प्राप्त हो जाय। अध्यक्षीय पद्धति में तीनों अंगों में विभाजन होने के कारण यदि विधायिका कार्यपालिका के निर्णय को अमान्य कर देती है तो भी सरकार बनी रहती है। नियंत्रण और संतुलन का सिद्धान्त भी न्यायालय की स्थिति को सुदृढ़ बनाता है। यदि सरकार का एक अंग न्यायपालिका के विरूद्ध कदम उठाता है तो दूसरा उस पर नियंत्रण लगा सकता है।

भारतीय शासन प्रणाली ब्रिटेन तथा अमेरिका की शासन प्रणालियों का मिश्रण है। यहाँ पर संसदीय सर्वोच्चता के स्थान पर सवैधानिक सर्वोच्चता है तथा वंशगत राजा के स्थान पर चयनित राष्ट्राध्यक्ष है। न्यायधिपति श्री पी.वी. मुखर्जी के शब्दों में ''इसे न तो पूर्णतया संसदीय शासन प्रणाली कहा जा सकता है और न ही

अध्यक्षीय शासन प्रणाली बल्कि यह दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों का मिश्रण है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया और न्यायिक स्वतंत्रता को कायम रखने के सभी संभव प्रयास किये''।

प्रजातांत्रिक शासन पद्धति अनेक प्रणालियों से श्रेष्ठ मानी गई है। इस शासन प्रणाली के सफल संचालन के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका का होना अपरिहार्य माना गया है। न्यायपालिका प्रजातंत्रीय प्रणाली में पनपती अनियंत्रित शक्तियों को नियंत्रित रखने का कार्य करती है। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र में न्यायिक स्वतंत्रता का विशेष महत्व होता है क्योंकि विधि के शासन की व्यक्तियों के शासन में परिवर्तित होने से रोकने की भूमिका न्यायालयों को दी जाती है। न्यायपालिका की सुदृढ़ स्थिति प्रजातंत्र की रीढ़ है। यदि प्रजातंत्र की रीढ़ टूट गई या कमजोर हो गई, जो प्रजातंत्रीय पद्धति तथा निरंकुश शासन में भेद मिट जाता है।

स्वतन्त्रता उपरान्त न्यायिक व्यवस्थाः–

केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत स्वतंत्रता से कुछ पूर्व ही संविधान सभा का गठन हो गया था, जिसने दिसम्बर 1946 से कार्य प्रारम्भ किया। विभाजन से पूर्व भारत–पाकिस्तान दोनों देशों के लिए एक ही संविधान सभा थी। पंडित जवाहर लाल नेहरू, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल, के.एम. मुंशी, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, के.टी. शाह आदि कई सुप्रसिद्ध कानूनविद् इस सभा के सदस्य थे व इनमें से कई अलग उप विषय देख रही समिति के अध्यक्ष थे। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर समूची प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे, जबकि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के अध्यक्ष थे। स्वतंत्रता उपरान्त यही सभा भारत और पाकिस्तान दोनों देशों के लिए दो भागों में विभाजित हो गई। भारतीय संविधान सभा ने लगभग तीन वर्ष के समय में संविधान निर्माण किया, जिसे 26 जनवरी, 1950 को लागू करना तय हुआ।

न्यायपालिका की स्थिति के सम्बन्ध में संविधान सभा द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा कि ''हम राज्य के भीतर राज्य की रचना नहीं करना चाहते, परन्तु उसके साथ ही हम यह चाहते है कि न्यापालिका को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाये, जिससे वह कार्यपालिका के भय अथवा पक्षपात के बिना कार्य कर सके।[8] न्यायपालिका के स्वतंत्रता को बनाए

रखने के लिए प्रो.के.टी. शाह का सुझाव था कि ''उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों को किसी भी स्थिति में कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति न किया जाये।'' संविधान सभा ने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मान्यता तो प्रदान की, लेकिन साथ ही उसने इस बात का भी ध्यान रखा कि सर्वोच्च न्यायालय इतना शक्तिशाली न हो जाए कि वह राज्य के अन्य अभिकरणों की स्वायतता में हस्तक्षेप करने लगे। इस प्रकार उसने न्यायपालिका और व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया।

भारतीय संविधान निर्माता एक ऐसी अखिल भारतीय सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय बनाने के लिए कृतसंकल्प थे, जिसे फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त हो। सर्वोच्च न्यायालय इसी संकल्प की पूर्ति करता है। हमारी न्याय–व्यवस्था के शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है जो भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा 25 अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। संविधान सभा के सदस्य स्वतंत्र न्यायपालिका के साथ इस मूलभूत बिन्दु पर सहमत थे कि भारत में न्यायिक समीक्षा को सतत् प्रक्रिया के रूप में नागरिक अधिकारों के संरक्षण हेतु उपयुक्त होना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय की अस्थायी समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह प्रस्तुत किया कि संसदीय विधियों के परीक्षण के लिए पृथक व निष्पक्ष न्यायालय होना अनिवार्य है और यह एक संघीय व्यवस्था के पक्ष में है।

भारतीय संविधान निर्माता न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्पक्षता के तो पक्षधर थे परन्तु 'कानून के अनुसार प्रक्रिया' या न्यायिक समीक्षा की प्रकृति को लेकर दो महत्वपूर्ण सदस्यों में गहरे मतभेद थे। के.एम. मुंशी उसे अपनाना चाहते थे और अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर इसके विपक्ष में थे।[9] बाद में इसे 'कानून द्वारा स्थापित विहित प्रक्रिया' के अन्तर्गत शामिल किया गया। प्रारूपीय संविधान के अनुच्छेद 15 को प्रारूप समिति ने अनुच्छेद 31 के रूप में व्यक्त किया, जो जापानी संविधान की भी एक मुख्य विशेषता है। इसके विपरीत अमरीकी संविधान में विधि सम्मत प्रक्रिया का उल्लेख है जिसके अन्तर्गत न्यायालय व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधि की ऐसी समीक्षा करता है कि वह नई विधि लगे। एक अनिर्वाचित निकाय के रूप में न्यायपालिका तीसरे सदन के रूप में कार्य करती हुई प्रतीत होती है।

भारतीय संविधान निर्माता अपने देश में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को इसलिए सीमित करना चाहते थे ताकि न्यायालय निर्वाचित सदन की अवहेलना न कर सके और राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए सामाजिक–आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति करके कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सके। परन्तु कई एक विद्वान सीमित न्यायिक समीक्षा के अधिकार को अर्थहीन करार देते हैं। भारतीय संविधान के समीक्षक ग्रेनविल आस्टिन के शब्दों में ''सभा ने एक मूर्ति की स्थापना की, फिर उसकी भुजा तोड़ दी। न्यायालय की इस विलोकन शक्ति को सीमित करके, जो कि सामाजिक क्रांति के नाम पर किया गया था।''[10] एक अन्य समीक्षक डी.डी. बसु कहते हैं कि ''उन सब तथ्यों ने जिन्होंने न्यायिक सर्वोच्चता की प्रक्रिया को अमेरिका जैसे कई देशों में बढ़ाया था। वे हमारे संविधान में उतनी प्रमुखता नहीं प्राप्त कर पाये।[11]

भारतीय संविधान–निर्माता न्यायपालिका को स्वतंत्र और निष्पक्ष रखना चाहते थे। कुछ सदस्य पूर्ण स्वायत्तता देना चाहते थे व कुछ सदस्य सीमित स्वायत्तता के पक्ष में थे।

भारतीय संविधान का प्रवर्तन 26 जनवरी, 1950 से किया जाना तय हुआ था। मुख्य न्यायाधीश हीरालाल केनिया, न्यायाधीश फजल अली, पतंजलि शास्त्री, मेहरचंन्द महाजन, वी.के. मुखर्जी और एस.आर. दास उपस्थित थे। एटॉर्नी जनरल सीतलवाड़ और विभिन्न राज्यों के एडवोकेट जनरल उपस्थित थे। भारत के प्रथम

प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू भी अपने मंत्रिमण्डल सहयोगियों और कूटनीतिक प्रतिनिधियों के साथ उपस्थित थे।

मुख्य न्यायाधीश केनिया और एटॉर्नी जनरल सीतलवाड़ ने अपने भाषण में पूरे देश को नये स्थापित सर्वोच्च न्यायालय की भावी भूमिका के बारे में बताया। वे इस संस्था को उत्तम और महान बनाने के प्रति चिंतित थे। इसलिए सीतलवाड ने मंतव्य दिया कि ''यह कार्य हमारे समक्ष राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों से एक जीवित राष्ट्र का निर्माण करने का है जो सुदृढ केन्द्रीय सत्ता और संघीय इकाईयों से मिलकर बना है और प्रत्येक को उन्नत जनता के हित के लिए पर्याप्त शक्ति दी गई है। इस उत्तम कथन के साथ हम आशा और विश्वास करते है कि न्यायालय एक महान और एकल भूमिका निभायेगा और भारतीय जनता की आत्मा का प्रतिनिधित्व करेगा।''

स्पष्टतः भारतीय संविधान ने अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता और इंग्लैण्ड के संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धांत के बीच आश्चर्यजनक रूप से एक मध्यम मार्ग खोज निकाला है। इसके लिए न्यायपालिका को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी विधि को असंवैधानिक घोषित कर दे। यदि वह संविधान में उपबन्धित शक्तियों के वितरण के अनुसार विधानमण्डल की शक्ति के बाहर है अथवा यदि वह संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है अथवा वह संविधान के किसी आज्ञापक उपबन्ध का, उदाहरणार्थ अनुच्छेद 286, 299, 301, 304 आदि का अतिक्रमण करती है किन्तु साथ ही न्यायपालिका को विधायिका की नीति के प्रज्ञान का (अर्थात् नीति के औचित्य का) या न्यायिक समीक्षा की शक्ति नहीं है। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान में समाहित आशय को पण्डित नेहरू के शब्दों में अभिव्यक्त करना श्रेयस्कर हैं।

''संसद की प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा के ऊपर कोई उच्चतम न्यायालय, कोई न्यायपालिका अपना निर्णय नहीं लाद सकती क्योंकि संसद की इच्छा समस्त जन की इच्छा है। वह इस प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा को रोक सकती है। यदि वह गलत राह पर है, किन्तु अंतिम विश्लेषण में जब समाज के भविष्य का प्रश्न है तब न्यापालिका मार्ग में बाधा नहीं पहुंचा सकती। अन्ततोगत्वा तथ्य तो यह है कि विधानमण्डल ही

सर्वोच्च है और सामाजिक सुधार के मामलों में न्यायालयों को हस्तक्षेप नही करना चाहिए।[12]

न्यायालयों का समूहः-

कुछ परिसंघों में न्यायालयों के दो समूह होते हैं एक परिसंघ विधियों के प्रशासन के लिए और दूसरे राज्य विधियों के लिए। परिसंघ न्यायालयों और उनके न्यायाधीशों की नियुक्ति परिसंघ द्वारा की जाती हैं। अमेरिका में न्यायालयों की दो धाराएँ है। भारतीय संविधान में भारत शासन अधिनियम, 1935 का अनुसरण किया गया है। हमारे यहाँ न्यायालयों की एक धारा है। संसद द्वारा बनाए गए अधिनियमों के और राज्य द्वारा बनाए गई विधियों के प्रवर्तन के लिए एक ही न्यायालय में जाना पड़ता है। संविधान में उच्चतम न्यायालय और विभिन्न राज्यों के उच्च न्यायालयों की स्थापना, शक्ति और अन्य विषयों के बारे में उपबंध है। सभी राज्यों के अपने–अपने प्रथम उच्च न्यायालय नहीं है। राज्यों की संख्या 29 हैं तेलगांना 1 जून 2014 किन्तु उच्च न्यायालय केवल हैं। गुवाहाटी उच्च न्यायालय की अधिकारिता में असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, अरूणाचल प्रदेश और मिजोरम आते है। चंडीगढ़ स्थित न्यायालय पंजाब और हरियाणा राज्यों के लिए और चंडीगढ़ संघ राज्य क्षेत्र के लिए है। महाराष्ट्र और गोवा का एक ही सम्मिलित न्यायालय है। दिल्ली एकमात्र संघ राज्य क्षेत्र है जिसका अपना एक अलग न्यायालय है।

अधीनस्थ न्यायालयः-

संविधान में अधीनस्थ न्यायालयों के लिए भी एक रूपरेखा दी गई है। अनुच्छेद 233 में यह कहा गया है कि किसी राज्य में जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पद स्थापना और प्रोन्नति सरकार द्वारा ऐसे राज्य के सम्बन्ध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय के परामर्श करके की जाएगी।

अनुच्छेद 234 में यह कहा गया है कि जिला न्यायाधीशों से भिन्न अन्य व्यक्तियों की न्यायिक सेवा में नियुक्ति राज्यपाल द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग और ऐसे राज्य के सम्बन्ध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय में परामर्श करने के पश्चात की जाएगी। उच्च न्यायालय, जिला न्यायालय और उनके

अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण रखता है। जिला न्यायाधीश के न्यायालय को और सोपानक्रम में उनसे निचले न्यायालयों को अधीनस्थ न्यायालय कहा जाता है। दूसरे शब्दों में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालय अधीनस्थ न्यायालय हैं। इन न्यायालयों की शक्तियों और कृत्य साधारणतया सिविल प्रक्रिया संहिता और दण्ड प्रक्रिया संहिता में दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त संसद द्वारा बनाए गए अनेक अधिनियम हैं जिनके द्वारा इन न्यायालयों को अधिकारिता दी गई है। उदाहरण के लिए, **हिन्दू विवाह अधिनियम, प्रेसीडेंसी नगर दिवाला अधिनियम, प्रांतीय दिवाला अधिनियम, मोटरयान अधिनियम, औद्योगिक विवाद अधिनियम आदि।** राज्य विधियां मुख्यतया किराया नियंत्रण, कृषि या नगरपालिकाओं आदि से संबंधित है।

अधीनस्थ न्यायपालिका का गठन पूरे देश में आधारित रूप से एक सा है। किंतु कुछ छोटे–छोटे अंतर है। कुछ महानगरों में नगर सिविल और सेशन न्यायालय है। कुछ थोड़े से राज्यों में लघुवाद न्यायालय हैं। अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीशों के पदनाम में बहुत अधिक समानता है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करणः–

संविधान के अनुच्छेद 50 में यह लिखा है कि राज्य न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए कदम उठाएगा। इस निर्देश के अनुसरण में संसद ने विधि बनाकर न्यायिक कृत्य अनन्य रूप से न्यायापालिका को सौंप दिए है। इस पृथक्करण से पहले कुछ राज्यों में कार्यपालिका के अधिकारी भारतीय दंड संहिता के अधीन मामले निपटाते थे। वे जमानत के आवेदनों की सुनवाई करते थे। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधिनियमित किए जाने के पश्चात न्यायिक प्रणाली में कार्यपालिका के अधिकारियों को कोई काम नहीं सौंपा गया है। न्यायपालिका को पूरी तौर से कार्यपालिका से अलग कर दिया गया है।

प्रिवी कौंसिल और उच्चतम न्यायालयः–

कोलकत्ता, मुम्बई और चैन्नई के उच्च न्यायालय एक राजकीय चार्टर द्वारा 1860 अस्तित्व में आए। इसके ठीक एक वर्ष बाद उच्च न्यायालय अधिनियम बना और अधिनियम के अधीन सबसे पहले इलाहाबाद उच्च न्यायालय गठित किया

गया। इसके पश्चात ब्रिटिश भारत में प्रत्येक प्रांत में एक उच्च न्यायालय बनाया गया जो प्रांतों में अपील की सुनवाई के लिए सर्वोच्च न्यायालय था।

उच्च न्यायालयों के निर्णयों से अपील इंग्लैण्ड में प्रिवी कौंसिल में होती थी। भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिसंघ न्यायालय की स्थापना की। इस न्यायालय को प्रांतों के बीच तथा प्रांत और परिसंघ के बीच विवाद के मामलों में आरंभिक आधिकारिता प्रदान की गई। उसे संविधान से संबंधित विषयों का निर्णय करने की शक्ति दी गई। केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति दी गई की वह उच्च न्यायालयों द्वारा विनिश्चत सिविल मामलों से अपील सुनने की अधिकारिता परिसंघ न्यायालय को दे। 1949 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक अधिनियम पारित करके प्रिवी कौंसिल की अधिकारिता समाप्त कर दी।

सिविल अधिकारिता:-

न्यायिक अधिक्रम में सबसे नीचे की सीढ़ी पर मुंसिफ न्यायालय है। इन न्यायालयों को सिविल और दांडिक अधिकारिताएं है। पीठासीन अधिकारी का पदनाम मुंसिफ मजिस्ट्रेट है। कुछ स्थानों पर बड़े नगरों में मुंसिफ केवल सिविल मामले निपटाता है। दांडिक मामले मजिस्ट्रेट के सामने जाते है। अधीनस्थ न्यायाधीशों से अपील पहली बार में जिला न्यायाधीश के समक्ष होता है। जिला न्यायाधीश की सिविल अधिकारिता असीमित है। दिल्ली में उसकी अधिकारिता ऐसे मामलों तक सीमित है जो 20 लाख रूपये मूल्य तक के है। मुम्बई, चैन्नई और कोलकत्ता में नगर सिविल न्यायालय सीमित मूल्य के बाद ग्रहण करता है। उस मूल्य से अधिक के वाद उच्च न्यायालय के समक्ष आते हैं। इस प्रकार चार उच्च न्यायालय ऐसे हैं, जिन्हे आरंभिक सिविल अधिकारिता हैः— मुम्बई, चैन्नई, कोलकता और दिल्ली हैं।

दांडिक अधिकारिता:-

एक समय में कोलकत्ता, चैन्नई और मुम्बई उच्च न्यायालय को दांडिक मामलों मे आरंभिक अधिकारिता थी। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 द्वारा इसका उत्पादन कर दिया गया। इस संहिता के अधिनियमित होने के पश्चात् जिले में सबसे नीचे स्तर का दांडिक न्यायालय उपखंड मजिस्ट्रेट का न्यायालय होता है।

जिले में दांडिक न्यायालय का शीर्षस्थ मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट होता है। महानगरों में उसका अधिकारी मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट होता है।

जिला न्यायाधीश और मुख्य मजिस्ट्रेट से अपील राज्य के उच्च न्यायालय को होती है। संविधान के निर्वचन से संबंधित कोई विषय जिला न्यायालय में ग्रहण नही किया जा सकता। संविधान से संबंधित विषय उच्च न्यायालय में ही आरम्भ हो सकता है। कुछ राज्यों और प्रेसीडेंसी नगरों में लघुवाद न्यायालय स्थापित किए गए हैं जिनमें संक्षिप्त विचारण पद्धति से सिविल मामले निपटाए जाते है। इन न्यायालयों से पुनरीक्षण उच्च न्यायालय में होता है।

अधिकरण :-

कुछ विनिर्दिष्ट क्षेत्रों के लिए विशेष अधिकरणों की स्थापना की गई है। जैसे मोटर दुर्घटना प्रतिकर अधिकरण, किराया नियंत्रण अधिकरण, आय–कर अपील अधिकरण, सीमा–शुल्क, स्वर्ण नियंत्रण और उत्पाद शुल्क अधिकरण, विक्रय कर अधिकरण, राज्य प्रशासनिक अधिकरण, केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण आदि। इन अधिकरणों की अपील उच्च न्यायालयों में सुनी जाती हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

संविधान द्वारा सन् 1950 में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या एक मुख्य न्यायाधीश तथा सात अन्य न्यायाधीशों निश्चित की गई थी। साथ ही संसद को आवश्यकतानुसार इस संख्या को बढ़ाने का अधिकार दिया गया था। संसदीय अधिनियम 1957 में यह संख्या 7 से 10 तथा 1960 में 10 से 13 कर दी गई। 1976 तक इस प्रकार उच्चतम न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित 14 न्यायाधीश थे। सन् 1977 में सम्बन्धित कानून में पुनः परिवर्तन कर यह व्यवस्था की गई कि उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और अधिक से अधिक 17 अन्य न्यायाधीश होंगे अर्थात् मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर कुल 18 न्यायाधीश हो सकते हैं। सन् 1986 में इस संख्या को पुनः बढ़ाकर 26 कर दिया गया जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति सम्मिलित है।''[13] यह उपबंधित करता है कि संविधान के निर्वचन के प्रयोजन के लिये बैठने वाले न्यायाधीशो की न्यूनतम संख्या 5 होगी।

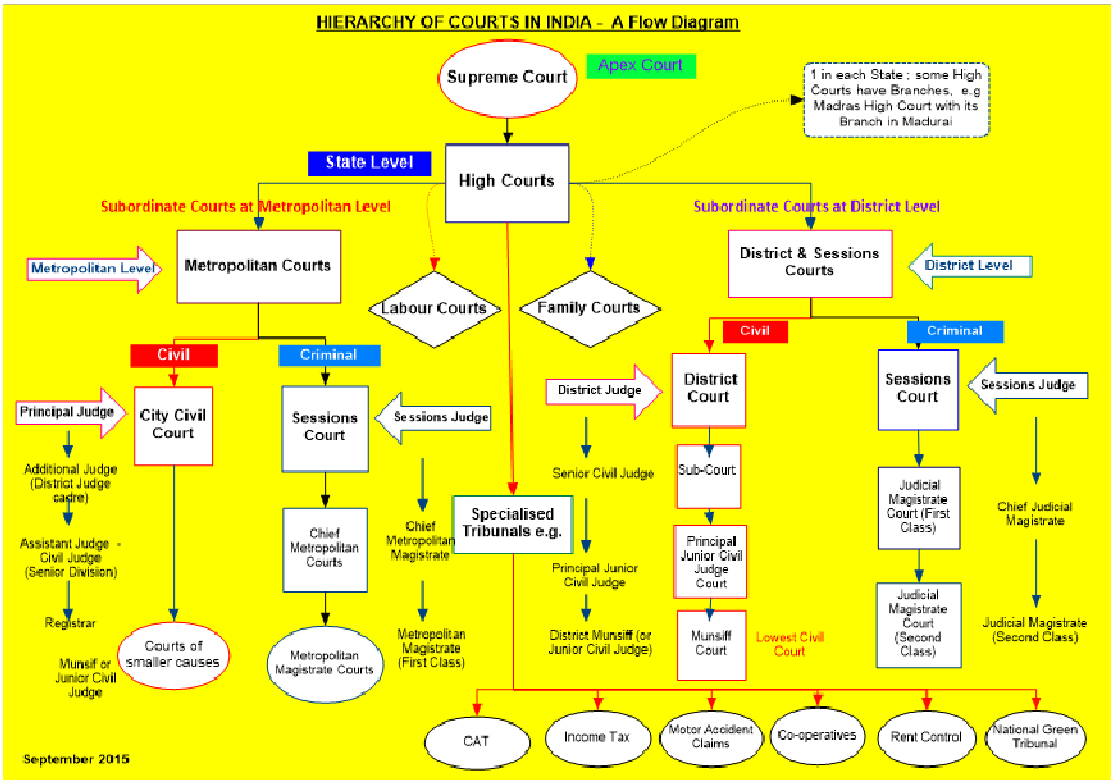

नियुक्तिः-

संविधान के अनुच्छेद 124 के अनुसार (i) भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा, जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और जब तक संसद विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती है तब तक सात से अनाधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा।

(ii) उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्ति करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह 65 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है। परंतु मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायालय की नियुक्ति की दशा में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जायेगा। परंतु यह और कि–

(क) कोई न्यायाधीश, राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) किसी न्यायाधीश को खण्ड (4) में उपबन्धित रीति से उसके पद से हटाया जा सकेगा।

(2क) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की आयु ऐसे प्राधिकारी द्वारा ऐसी रीति से अवधारित की जायेगी, जिसका संसद विधि द्वारा उपबन्ध करें।

इस प्रकार हम देखते है कि न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की प्रक्रिया बहुत कठिन है। कोई भी न्यायाधीश उस समय तक अपने पद से नहीं हटाया जा सकता जब तक कि वह वास्तविक रूप से अयोग्य तथा दुराचारी न हो और ये आरोप उसके विरूद्ध सिद्ध न कर दिये गये हों। संविधान इस उपबन्ध द्वारा न्यायाधीशों की पदावधि को संरक्षण प्रदान करता हैं।

'के.वीरा स्वामी बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया'[14] के महत्वपूर्ण निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम 1947 के अधीन अपराधों के लिये अभियोजन चलाया जा सकता है। अनुच्छेद 124 (4) में प्रयुक्त 'सिद्ध कदाचार' शब्दावली का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और इसमें भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम 1947 की धारा 5 (1) में वर्णित अपराधिक दुराचरण भी सम्मिलित हैं। इस मामले में अपीलार्थी के वीरास्वामी को 1960 में मद्रास उच्च न्यायालय में न्यायाधीश सन् 1969 में उन्हें मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। दिनांक 24 फरवरी 1976 में सी.बी.आई. ने उनके विरूद्ध दिल्ली के एक न्यायालय में फाइल किये गये। प्रथम सूचना रिपोर्ट के आधार पर एक भ्रष्टाचार का मामला दर्ज किया जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि मुख्य न्यायाधीश के रूप में उन्होंने अपने उपलब्ध आय स्त्रोतों से अधिक धन एकत्र किया था। जिसका उपयुक्त लेखा प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे थे और इस प्रकार वे भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम 1947 की धारा 5(1) में वर्णित अपराधों के लिए दोषी थे। इसकी जानकारी होने पर अपीलार्थी ने लम्बा अवकाश ले लिया था। अन्ततः वे दिनांक 8 अप्रैल 1976 को सेवा निवृत हो गये। सी.बी.आई. ने विशेष न्यायालय में उनके विरूद्ध चार्ज शीट फाइल की। अपीलार्थी ने मद्रास उच्च न्यायालय में अभियोजन को रद्द करने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका फाईल की। उच्च न्यायालय ने उनकी याचिका को खारिज कर दिया। इस निर्णय के विरूद्ध अपीलार्थी ने उच्चतम

न्यायालय में अपील दायर की। अपीलार्थी ने यह अभिकथन किया कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशगण भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम 1947 के अधीन नहीं है। अतः उनका अभियोजन असंवैधानिक है। उच्चतम न्यायालय ने 4–1 के बहुमत से (श्री वी.सी.राय, श्री के. जगन्नाथ शेट्टी, श्री एल.एम. शर्मा और श्री जे.एस. वर्मा का विसम्मत) यह अभिनिर्धारित किया गया कि भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम 1947 की धारा 5 और 6 उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर भी लागू होती है। धारा–6 में प्रयुक्त ''लोकसेवक'' शब्द में उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश भी आते हैं। अनुच्छेद 124 (5) के अधीन संसद द्वारा बनाए गये न्यायाधीश (जाँच) अधिनियम 1968 और न्यायाधीश (जाँच) नियम 1969 केवल ''सिद्ध कदाचार'' या ''असमर्थता'' के आधार पर न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने का उपबंधन करते हैं। उक्त अधिनियम भ्रष्टाचार निवारण, अधिनियम 1947 की धारा–5 (1) के अधीन वर्णित अपराधों के लिए अभियोजन उपलब्ध नहीं करते हैं।

उच्चतम न्यायालय का उपर्युक्त निर्णय निस्संदेह रूप से उच्चतम न्यायपालिका में भ्रष्टाचार रोकने में सहायक होगा और इस प्रकार न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा निष्पक्षता को और अधिक सशक्त बनायेगा।

मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति व तत्संबंधी विवाद

सर्वोच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में संविधान की व्यवस्था यह है कि ''सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अपने आदेश के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय व राज्यों के उच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों से परामर्श करने के बाद की जायेगी, जिनसे परामर्श करना राष्ट्रपति इस कार्य के लिए आवश्यक समझे।[15]

राष्ट्रपति न्यायाधीशों की औपचारिक नियुक्तियाँ करता हैं, जबकि उनके बारे में निर्णय प्रधानमंत्री अपने गृह तथा विधिमंत्री से गुप्त विचार विमर्श द्वारा लेता है। 'विचार–विमर्श' का उपबन्ध यह है कि राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से जैसा वह जरूरी समझे। वास्तव में यह दिखाया जाता है कि राष्ट्रपति उन व्यक्तियों की सिफारिशें मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। अन्तिम

शब्द तो प्रधानमंत्री के पास है, किन्तु उसे उन व्यक्तियों की राय लेने का लाभ प्राप्त हो सकता है, जो इस बारे में बोलने की क्षमता रखते हों।[16]

राष्ट्रपति उस किसी भी व्यक्ति को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है जिसमें निर्धारित योग्यताएं हों। परंतु संविधान के लागू होने से सन् 1972 तक यह परम्परा चली आ रही थी कि किसी मुख्य न्यायाधीश के सेवानिवृत्त होने पर दूसरे मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के विषय में राष्ट्रपति द्वारा सेवानिवृत्त होने वाले न्यायाधीश से परामर्श अवश्य लिया जाता था तथा उसकी नियुक्ति सामान्यतः वरिष्ठता के आधार पर की जाती थी। केवल एक बार सन् 1964 में श्री जफर इमाम को उनकी वरिष्ठता के बावजूद नियुक्त नहीं किया गया था। किन्तु यह नियुक्ति बहुत कुछ उनके स्वास्थ्य की दशा के कारण नहीं की गई थी।

परन्तु सन् 1973 में जब मुख्य न्यायाधीश श्री सीकरी सेवानिवृत्त हुए तो नए मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में पूर्व परम्परा को तोड़ते हुए श्री रोलट, श्री हेगड़े और श्री ग्रोवर तीनों न्यायाधीशों की वरिष्ठता का उल्लघंन करते हुए श्री अजीतनाथ रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति के विषय में सेवा निवृत्त होने वाले मुख्य न्यायाधीश श्री सीकरी से परामर्श नहीं लिया गया।

श्री अजीतनाथ रे की नियुक्ति का निर्णय चूंकि पूर्व परम्परा के विपरीत था, अतः उसके विरूद्ध देशव्यापी प्रतिक्रिया हुई। **श्री नानीपालखीवाला ने कहा कि 'यह आदेशानुसार निर्मित कार्यपालिका हैं।'**[17] अवकाश प्राप्त उच्च न्यायाधीश **श्री सीकरी ने कहा कि 'सरकारी निर्णय राजनीतिक था।'**[18] **श्री छागला ने कहा कि 'न्यायिक इतिहास का यह एक सबसे अधिक अंधेरा दिन हैं।'** सर्वोच्च न्यायालय की बार एसोसिएशन ने इस निर्णय को पूर्णतया राजनीतिक तथा योग्यता से असम्बद्ध बताया। इस नियुक्ति के विरोध में उन तीनों न्यायाधीशों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, जिनकी वरिष्ठता की उपेक्षा की गई थी। सरकारी पक्ष का प्रतिपादन करते हुए मंत्री श्री कुमार मंगलम ने संसद में कहा कि मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति केवल वरिष्ठता के आधार पर ही नहीं की जा सकती है तथा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के मुख्य आधार न्यायाधीश का दृष्टिकोण, उसका सामाजिक दर्शन, हवा के रूख को पहचानने की उसकी

शक्ति और संसद की सर्वोच्चता की मान्यता से सम्बन्धित उसकी विचारधारा होनी चाहिए।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति वरिष्ठता के आधार पर पूर्व परम्परा के अनुसार होती रहनी चाहिए अथवा उनकी नियुक्ति शासन व शासनरूढ़ दल की मान्यताओ ंकी अनुरूपता के अनुसार होनी चाहिए। यह विवाद देशभर में विधि क्षेत्रों में उठता रहा। सरकारी स्पष्टीकरण की यह कहकर आलोचना की गई कि इस प्रकार परम्परा डाले जाने का अर्थ न्यायपालिका को शासन की दासी बना देना होगा तथा इससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा प्रतिष्ठा पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। समस्त स्थिति पर विचार करने के लिए अगस्त 1973 में दिल्ली में सर्वोच्च न्यायालय अधिवक्ता संघ के तत्वाधान में 'अखिल भारतीय अधिवक्ता सम्मेलन' हुआ। सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास किया गया कि उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति अधिवक्ता संघ और न्यायाधीशों का प्रतिनिधित्व करने वाली समितियों की सिफारिश पर होनी चाहिये और उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर सर्वाधिक वरिष्ठ न्यायाधीश को ही नियुक्त किया जाना चाहिए।

जनवरी 1977 में मुख्य न्यायाधीश श्री अजीतनाथ रे के कार्यकाल की समाप्ति पर वरिष्ठता के आधार पर श्री एच.आर. खन्ना को मुख्य न्यायाधीश के पद पर पदोन्नत किया जाना चाहिये या लेकिन जस्टिस खन्ना की नियुक्ति के स्थान पर जस्टिस मिर्जा हमीदुल्ला बेग को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। अपनी वरिष्ठता का उल्लंघन किये जाने के विरोध में न्यायाधीश श्री एच.आर. खन्ना के द्वारा त्यागपत्र दे दिया गया।

वर्ष 1977 में शासक वर्ग न्यायपालिका की स्वतंत्रता उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये वचनबद्ध था। अतः मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के संबंध में वरिष्ठता के सिद्धान्त को पुनः स्वीकार करते हुए फरवरी 1978 में श्री वाई.सी. चन्द्रचूड को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। शासन का यह कार्य न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा उसके सम्मान को बनाए रखने की दृष्टि से उचित था। वस्तुतः मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबध में सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिये, जिससे न्यायिक क्षेत्र की इन सर्वोच्च नियुक्तियों में इस प्रकार की स्थिति

निर्मित न हो सकें। विधि आयोग ने अपनी 80 वीं रिपोर्ट में कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का पालन कड़ाई से किया जाना चाहिए।[19] न्यायापालिका की स्वतंत्रता की रक्षा तथा लोकतंत्र के सुचारू संचालन हेतु यह अत्यावश्यक है।

'एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ'[20] के मामले में उच्चतम न्यायालय की 7 न्यायाधीशों की पूर्ण पीठ ने यह निर्धारित किया कि अनुच्छेद 124 में प्रयुक्त परामर्श शब्द से तात्पर्य 'पूर्ण एवं प्रभावी परामर्श' है अर्थात् संबंधित न्यायाधीश के समक्ष सम्पूर्ण तथ्य रखे जाने चाहिए, जिसके आधार पर किसी व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त करने के लिए वह राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश भेजेगा। बहुमत ने यह स्पष्ट किया है कि उक्त 'परामर्श' मानने के लिये राष्ट्रपति बाध्य नहीं है। राष्ट्रपति अपना निर्णय स्वतंत्र रूप से ले सकता है। संक्षेप में, न्यायालय के अनुसार मुख्य न्यायमूर्ति और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में सरकार को पूर्ण शक्ति प्राप्त है। न्यायालय ने यह निर्णय देकर अपनी स्वतंत्रता तथा निष्पक्षता को कार्यपालिका को सौंप दिया था। जिसके हस्तक्षेप से बचने का सर्वदा प्रयास किया जाता रहा। न्यायमूर्ति श्री भगवती ने इस स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए आस्ट्रेलिया की भाँति न्यायमूर्तियों की नियुक्ति के लिए एक न्यायिक समिति की नियुक्ति की सलाह दी थी।

न्यायाधीशों की नियुक्ति में न्यायालय की प्रमुखताः एस.सी. एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिएशन का निर्णय– उच्चतम न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक महत्व के निर्णय 'एस.सी. एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ'[21] के मामले में 'एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ' के निर्णय को उलट दिया, जिसमें यह निर्धारित किया गया कि न्यायधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में सरकार को पूर्ण शक्ति प्राप्त है और अभिनिर्धारित किया कि उक्त मामलों में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति का निर्णय अंतिम होगा। न्यायालय ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीयों की नियुक्ति और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों के स्थानांतरण के मामले में विस्तृत मार्गदर्शन विहित किया।

न्यायालय ने 9 न्यायाधीशों की पीठ ने 7–2 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में उच्चतम न्यायालय के मुख्य

न्यायाधिपति के मत को सर्वोच्च महत्व देना चाहिये, जो यह अपने सहयोगियों से परामर्श करके व्यक्त करता है और कार्यपालिका को केवल अयोग्य नियुक्तियों को रोकने की अनुमति होगी जो वे मुख्य न्यायाधिपति को कारण बताकर ही कर सकती है। कार्यपालिका की भूमिका तक सीमित होगी।

न्यायाधिपति श्री वर्मा ने अपनी ओर से और न्यायाधिपति श्री योगेश्वर दयाल, श्री जी.एन. राय, श्री ए.एस. आनंद और श्री एस.पी. वरूचा की और से बहुमत का निर्णय सुनाते हुए जिसके साथ न्यायाधीश श्री पाण्डियन और श्री कुलदीप सिंह ने अपने अलग निर्णय में सहमति व्यक्त की। यह कहा कि उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के ''किसी न्यायाधीश की नियुक्ति तब तक की जा सकती है। जब तक कि वह उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के अनुरूप न हो।'' केवल अपवादिक मामलों में और पर्याप्त कारण होने पर ही जिसे प्रकट किया जायेगा। किसी व्यक्ति की, जिसके निर्णय की सिफारिश की गई हैं, अयोग्यता के आधार पर नियुक्ति नहीं की जा सकेगी, किन्तु यदि न्यायाधीश प्रकट किये गये कारणों को स्वीकार नहीं करते हैं और अपने सिफारिश को पुनः दोहराते हैं तो स्वस्थ परम्परा के रूप में उसी व्यक्ति की नियुक्ति की जायेगी। बहुमत ने निर्णय दिया कि भारत के मुख्य न्यायाधिपति के पद पर उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठता न्यायाधीश की ही नियुक्ति की जायेगी।

बहुमत ने कहा कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में संवधिानिक योजना अर्थात् अनुच्छेद –124 में ''परामर्श'' शब्द का प्रयोग देखते हुए किसी को विवेकीय शक्ति नहीं दी जा सकती। चाहे वह भारत का मुख्य न्यायाधिपति हो या प्रधानमंत्री हो। 'परामर्श शब्द इसी बात को स्पष्ट करने के लिये समाविष्ट किया गया है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति में सरकार को नहीं वरन् भारत के मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय को प्राथमिकता दी जायेगी। वह एक व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि न्यायपालिका के अध्यक्ष के रूप में निर्णय लेता है। नियुक्ति प्रक्रिया एक भागीदारी की प्रक्रिया है। बहुमत ने यह कहा कि न्यायाधीशों की नियुक्तियों और स्थानांतरण के मामले में केवल सीमित आधारों पर ही न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी अर्थात् यदि सांविधानिक प्राधिकारियों से परामर्श का अभाव या नियुक्ति के लिए विहित अर्हता का अभाव पाया जायेगा। इसके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर

न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार नहीं होगा। न्यायाधिपति श्री अहमदी और श्री पंछी ने अपने विसम्मत निर्णय में यह कहा कि यद्यपि भारत के मुख्य न्यायाधिपति के मत को पर्याप्त महत्व देना चाहिये, किन्तु वह राष्ट्रपति के मत को अस्वीकार नहीं कर सकता।

बहुमत द्वारा दिया गया निर्णय प्रशंसनीय है और यह न्यायापालिका की खोई हुई स्वंतत्रता और निष्पक्षता को पुनः कायम रखने में सहायक होगा। इस निर्णय ने 'एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ' के मामले में दिये गये निर्णय के फलस्वरूप न्यायपालिका की प्रतिष्ठा तथा गरिमा को पहुंची हानि को समाप्त कर दिया है और अब न्यायपालिका कार्यपालिका के दबाव से मुक्त होकर देश के असंख्य नागरिकों को स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्याय देकर अपने संवैधानिक दायित्व का भलीभाँति निर्वाह कर सकेगी। आशा है सरकार भी इस निर्णय का खुलेपन से स्वीकार करेगी।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सिफारिश मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नहीं : नौ सदस्यी संविधान पीठ का निर्णय–[22]

उच्चतम न्यायालय की नौ सदस्यीय संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में वर्ष–1993 के निर्णय में प्रतिपादित परामर्श प्रक्रिया का पालन किये बिना मुख्य न्यायाधीश द्वारा की गई सिफारिशों को मानने के लिए कार्यपालिका बाध्य नहीं है। राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय से 9 प्रश्नों पर अपनी सलाह देने के लिए कहा था। राष्ट्रपति ने यह पूछा था कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में क्या वह मुख्य न्यायाधीश द्वारा अन्य न्यायाधीशों से परामर्श किए बिना भेजी गई सिफारिश मानने के लिए बाध्य है? सन् 1993 में ए.सी. एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड के मामले में यह निर्णय दिया गया था। उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश की सिफारिश को प्रमुखता दी जायेगी, किन्तु यह सिफारिश वह अन्य न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् ही सरकार को भेजेगा। इस निर्णय के पश्चात् यह आरोप लगाया जाने लगा कि मुख्य न्यायाधीश अपनी सिफारिशें मनमाने ढंग से अन्य न्यायाधीशों के परामर्श बिना भेज रहे हैं। यह प्रश्न तब और गंभीर रूप में आया, जब पिछले मुख्य न्यायाधीश श्री एम.एम. पुंछी ने भाजपा सरकार को न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए

अपनी सिफारिश को भेजा। ऐसा पता चला है कि उन्होंने मनमाने ढंग और अन्य न्यायाधीशों से परामर्श किये बिना अपनी सिफारिश भेजी थी। सरकार ने उसे रोक दिया और इस पर उच्चतम न्यायालय की सलाह माँगी। उच्चतम न्यायालय की 9 सदस्यीय संविधान पीठ ने परामर्श प्रक्रिया को और अधिक विस्तृत कर दिया और यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 217 (1) और 222 के अंतर्गत मुख्य न्यायाधीश द्वारा अपनाई जाने वाली परामर्श प्रक्रिया का तात्पर्य अनेक न्यायाधीशों से परामर्श है। मुख्य न्यायाधीश का अकेले का मत परामर्श नहीं है। सरकार ने 1993 के निर्णय पर पुनर्विचार के लिए नहीं कहा था। केवल उसमें कुछ अस्पष्ट बिन्दुओं पर ही सलाह देने के लिए कहा था। संविधान पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानांतरण के मामले में मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठ न्यायाधीशों से परामर्श करना चाहिये किन्तु उच्च न्यायालयों की नियुक्ति के मामले में मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् ही सरकार को अपनी सिफारिश भेजनी चाहिये। परामर्श संबंधी प्रक्रिया के बारे में प्रतिपादित दिशा निर्देशों का पालन किये बिना ही मुख्य न्यायाधीश द्वारा दी गई सिफारिशों को मामने के लिए कार्यपालिका बाध्य नहीं है। परामर्श प्रक्रिया पर विवाद के कारण उच्चतम न्यायालय में 6 और उच्च न्यायालयों में 150 न्यायाधीशों के रिक्त स्थानों को भरने का मामला अधर में लटक गया था। इस मामले में निर्णय के पश्चात् अब रिक्त स्थानों पर नियुक्तियों की प्रक्रिया को अंतिम रूप देने का रास्ता साफ हो गया है।

न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि न्यायाधीशों की नियुक्तियों और तबादले के बारे मे अन्य न्यायाधीशों से की गई सलाह लिखित में होनी चाहिए और मुख्य न्यायधीश को अपनी सिफारिश के साथ अन्य न्यायाधीशों की सलाह को भी सरकार के पास भेजना चाहिये। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि मुख्य न्यायाधीश की व्यक्ति सलाह अनुच्छेद 217 (1) और 222 (1) के अधीन परामर्श नहीं मानी जायेगी। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि यदि सरकार सिफारिश किये गये किसी व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त न करने के बारे में मुख्य न्यायाधीश के पास आवश्यक सामग्री और सूचना भेजती है तो, मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय के

अन्य न्यायाधीशों की सलाह के बना उस पर स्वयं कोई कार्यवाही नहीं कर सकते हैं। न्यायालय ने कहा कि न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में आम राय के आधार पर ही मुख्य न्यायाधीश सिफारिश करेंगें। यदि परामर्श प्रक्रिया में शामिल दो न्यायाधीश भी किसी व्यक्ति के नाम की सिफारिश का विरोध करते हैं, तो ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति के लिए मुख्य न्यायाधीश दबाव नहीं डालेंगे।

न्यायालय ने कहा कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति का न्यायिक पुनरावलोकन केवल उस स्थिति में हो सकता है, जब मुख्य न्यायाधीश इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श किए बिना तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तर के बारे में उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीश तथा सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श किए बिना ही सरकार को सिफारिश भेजता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उच्चतम न्यायालय का उक्त निर्णय समीचीन है। यद्यपि न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में वर्ष 1993 के निर्णय के अनुसार न्यायपालिका की ही सर्वोच्चता बनी रहेगी, किन्तु अब वह और अधिक लोकतान्त्रिक पारदर्शी तथा निष्पक्ष होगी। मुख्य न्यायाधीश अपनी मनमानी नहीं कर सकेगा। उसे उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम सदस्यों के समूह से परामर्श करके ही नियुक्ति संबंधी सिफारिश भेजनी होगी। उक्त प्रक्रिया लोकतान्त्रिक है तथा इसके दुरूपयोग की संभावना कम है।

दिनांक 28 नवम्बर 1998 को राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन ने उच्चतम न्यायालय के चार न्यायाधीशों की नियुक्ति संबंधी फाइल में टिप्पणी की कि यदि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति जैसे समाज के पिछड़े वर्गो जो कुल जनसंख्या के 25 प्रतिशत है तथा महिलाओं का समुचित ध्यान रखा जाता है तो वह संविधान के सिद्धान्तों और देश के सामाजिक लक्ष्य के अनुकूल होगा। राष्ट्रपति ने यह भी कहा कि उच्चतम न्यायालय में कामकाज की अधिकता तथा समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व की जरूरत को देखते हुए पदों को रिक्त रखना वांछनीय नहीं है। नवम्बर 98 के मध्य मुख्य न्यायाधीश ने विधिमंत्री श्री थंबी दुरई के पास न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक फाईल भी भेजी थी, जिसमें

न्यायाधीश श्री एम.बी.शाह, श्री डी.पी. महापात्र, श्री बेनर्जी और श्री आर.सी. लाहोटी के नाम थे।[23]

न्यायाधीशों की योग्यताः-

संविधान के अनुच्छेद 124 (3) के अधीन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए व्यक्ति में निम्नलिखित अर्हताओं का होना आवश्यक हैः—

(1.) कोई भी व्यक्ति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिये तभी अर्हित होगा, जब तक वह भारत का नागरिक है और—

(क) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम पांच वर्ष तक न्यायाधीश रहा है, या

(ख) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम दस वर्ष का अधिवक्ता रहा हो, या

(ग) राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता है।

स्पष्टीकरण – 1:

इस खण्ड में 'उच्च न्यायालय' से वह उच्च न्यायालय अभिप्रेत है जो भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में अधिकारिता का प्रयोग करता है या इस संविधान के प्रारंभ से पहले किसी भी समय प्रयोग करता था।

स्पष्टीकरण – 2:

इस खण्ड के प्रयोजन के लिए, किसी व्यक्ति के अधिवक्ता रहने की अवधि की संगणना करने में वह अवधि भी सम्मिलित की जायेगी, जिसके दौरान किसी व्यक्ति ने अधिवक्ता होने के पश्चात् ऐसा न्यायिक पद धारण किया है। जो जिला न्यायाधीश के पद से ऊपर नहीं है। उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिये नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति या उसके द्वारा इस निमित्त नियुक्त व्यक्ति के समक्ष तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिये गये प्रारूप के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा। संविधान में यह स्पष्ट रूप से लिखित है कि सर्वोच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश भारत राज्य क्षेत्र में किसी न्यायालय अथवा किसी अन्य पदाधिकारी के

न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता है और न वह किसी न्यायालय में किसी अन्य रूप में कार्य कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल तथा महाभियोगः-

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवा निवृत्ति आयु 65 वर्ष है। कोई भी न्यायाधीश स्वयं अपने पद से कभी भी त्यागपत्र दे सकता हैं। संविधान के अनुच्छेद 124 (4) के अधीन उच्चतम न्यायालय के सभी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जाएगा, जब तक साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर ऐसे हटाये जाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्पित समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दिया हों।

संसद खण्ड (4) के अधीन किसी समावेदन के रखे जाने की तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता के अन्वेक्षण और साबित करने की प्रक्रिया का विधि द्वारा विनियम कर सकेगी।

(1) न्यायाधिपति श्री वी.रामास्वामी का मामलाः-

यह मामला उच्चतम न्यायालय में कार्यरत न्यायाधीश श्री वी. रामास्वामी में सम्बन्धित है। श्री रामास्वामी सन् 1971 में मद्रास उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किये गये थे। 1987 में उन्हें पंजाब तथा हरियाणा के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के रूप में स्थानांतरित कर दिया था। दिनांक 6 अक्टूबर 1989 को उन्हें उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया गया है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री वी. रामास्वामी पर अपने कार्यकाल के दौरान करीब 15 लाख रूपये के आर्थिक दुरूपयोग और गंभीर कदाचार के आरोप लगाये गये। आरोपों की जाँच के लिये 108 लोकसभा सदस्यों का एक ज्ञापन स्वीकार कर तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष श्री रवि राय द्वारा इसे स्वीकार कर लिया गया तथा न्यायाधीश जाँच अधिनियम 1988 के अधीन एक समिति गठित की। यह समिति दिनांक 12 मार्च 1991 को गठित की गई। यह समिति तीन सदस्यों की थी। संविधान के अनुच्छेद 124 के अंतर्गत गठित इस समिति में सर्वोच्च न्यायालय

के न्यायाधीश श्री पी.बी. सावंत, बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पी. डी. देसाई और सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री ओ. चिनप्पा रेड्डी शामिल थे। जाँच समिति द्वारा श्री रामास्वामी को दिये गये आरोप पत्र के जवाब में श्री रामास्वामी ने दिनांक 21 जनवरी 1992 को एक पत्र लिखकर समिति की कानूनी वैधता तथा सदस्यों की निष्पक्षता, योग्यता तथा ईमानदार छवि को भी चुनौती दे डाली। दिनांक 19 जुलाई 1990 को सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री सव्यसाची मुखर्जी ने भरी अदालत में कहा कि कानूनी और सवैंधानिक रूप से मुख्य न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी अन्य न्यायाधीश के व्यवहार के बारे में जाँच करने का कोई अधिकार नहीं है लेकिन न्यायपालिका परिवार का मुखिया होने के नाते उनका यह कर्तव्य और जिम्मेदारी है कि वे न्यायिक शुद्धता बनाये रखे। मुख्य न्यायाधीश का यह कर्तव्य है कि वे न्यायिक प्रक्रिया में जन आस्था प्राप्त करें। उन्होंने श्री रामास्वामी को सलाह दी कि वे तब तक कोई न्यायिक कार्य न करें, जब तक वे आरोपों से मुक्त न हों। फलस्वरूप न्यायाधीश रामास्वामी 23 जुलाई 1991 से छुट्टी पर चले गये। लेकिन कुछ समय बाद श्री स्वयंसाची मुखर्जी का लंदन में अचानक देहांत हो गया और उसके स्थान पर बने मुख्य न्यायाधीश श्री रंगनाथ मिश्र के कार्यकाल में श्री रामास्वामी दोबारा काम पर लौट आए क्योंकि इस बीच सर्वोच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की एक रिपोर्ट के आधार पर मुख्य न्यायाधीश श्री मिश्र ने उन्हें मामले सुनने की इजाजत दे दी थी। दिनांक 4 फरवरी 1992 को 114 वकीलों ने मुख्य न्यायाधीश श्री एम.एच. केनिया को ज्ञापन दिया कि श्री रामास्वामी को कोई न्यायिक कार्य नहीं दिया जाये। अगले दिन 208 वकीलों ने दूसरा ज्ञापन दिया कि पहले ज्ञापन पर मुख्य न्यायाधीश ध्यान न दें, क्योंकि वह सर्वोच्च न्यायालय के सभी वकीलों की राय नहीं है। इससे पहले भी इस मामले पर वकीलों के बीच काफी मदभेद रहें।

राजनैतिक क्षेत्र में भी इसे लेकर काफी सरगर्मी रही। दिनांक 12 मार्च 1991 को 108 सांसदों की माँग पर लोकसभा अध्यक्ष ने जाँच के लिये तीन न्यायाधीशों की समिति का गठन किया, ताकि उनकी रिपोर्ट के आधार पर न्यायाधीश को हटाये

जाने की आगे की संसदीय कार्यवाही हो सके। दिनांक 13 मार्च 1991 को लोकसभा भंग कर दी जिससे इस जाँच समिति का काम खटाई में पड़ गया।

संसदीय जाँच समिति द्वारा तैयार आरोप पत्र में श्री रामास्वामी पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने करीब 13 लाख रूपये का फर्नीचर, कालीन व अन्य सामान निर्धारित नियमों से अधिक खरीदा तथा वह भी एक ही व्यापारी से खरीदा। कुछ कोटेशन तो साफ साफ बकवास है। 18 सूटकेसों में सिर्फ 13 ही मिले तथा वे भी नए खरीदे हुए नहीं लगते थें। मद्रास निवास पर लगे व्यक्तिगत फोन के बिलों (76150 रूपये) और चण्डीगढ़ निवास पर लगे टेलीफोन का दो वर्ष का बिल 9.10 लाख रूपया था जो किसी भी स्थिति में बहुत अधिक था। दो कारें, चण्डीगढ़ से मद्रास से ले जायी गई, उनका व्यक्तिगत उपयोग किया गया और पेट्रोल का खर्च भी उच्च न्यायालय से वसूल किया गया। उच्च न्यायालय में अपने चहेते अफसरों को गैर कानूनी तरीके से प्रमोशन तथा लाभ पहुंचाया गया। कुछ अफसरों को अपने व्यक्तिगत तथा गुप्त कार्यों के लिए मद्रास, कुल्लू, मंसूरी, देहरादून, शिमला, हरिद्वार, आगरा तथा मथुरा भेजा, जिसका खर्च उच्च न्यायालय ने वहन किया।

इस बीच सुप्रीम कोर्ट में कई बार एसोसिएशन तथा सब कमेटी फॉर ज्यूडिशियल एकाउण्टेबिलिटी के प्रतिनिधियों व कुछ व्यक्तियों ने सर्वोच्च में एक जनहित याचिका दायर की जिसमें बहुत से संवैधानिक प्रश्न उठाये गये। मुख्य प्रश्न यह था कि क्या लोकसभा भंग हो जाने से न्यायाधीश को हटाए जाने के लिए बनाई जाँच समिति भी समाप्त हो गई? याचिका में यह भी माँग की गई कि जाँच समिति को जाँच के लिए कहा जाय और इस बीच न्यायाधीश रामास्वामी को कोई न्यायिक कार्य न सौंपा जाय। दूसरी तरफ कुछ कैदियों की प्रार्थना इसके ठीक विपरीत थी। इस जनहित याचिका की सुनवाई के लिए पाँच न्यायाधीशों की एक संवैधानिक पीठ का गठन हुआ, जिसमें न्यायाधीश श्री वी.सी.राय, श्री एन.एस. शर्मा, श्री एन.एन. शर्मा, श्री एम.एन. वेंकंट चलैया, श्री जे.एस. वर्मा तथा श्री एस.सी. अग्रवाल शामिल थे। वकीलों की तरफ से श्री शांतिभूषण, श्री रामजेठ मलानी, श्री आर.के. गर्ग और श्री इंदिरा जयसिंह थे तो दूसरी तरफ श्री जी. रामास्वामी, श्री कपिल सिब्बल थें। श्री एल.एस.शर्मा के अलावा अन्य सभी न्यायाधीशों ने 'सब कमेटी ऑन जूडिशियल एकाउण्टेबिलिटी बनाम भारत संघ' के मामले में उच्चतम

न्यायालय ने 4–1 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि 9वीं लोकसभा के स्पीकर द्वारा न्यायाधीश पर महाभियोग लगाने वाला संकल्प लोकसभा भंग हो जाने से निरसित नहीं हो जाता। दसवीं लोकसभा इस पर कार्यवाही कर सकती है, अर्थात् सावंत समिति न्यायाधीश पर लगाये गये आरोप की जाँच कर सकती है, लेकिन श्री रामास्वामी को न्यायिक कार्य न देने के बारे में न्यायाधीशों ने एक बार फिर निर्णय मुख्य न्यायाधीश पर छोड़ दिया।

दोषी पाये जाने पर भी न्यायाधीश न हटे तो उसे कोई काम न दो– क्या सिर्फ इससे समस्या हल हो जाती है? न्यायाधीश गबन करे या रिश्वत खाये, शोर मचे तो आयोग सालों जाँच करता रहें। आरोप सही सिद्ध हो जाये और न्यायाधीश को सुधारने या रिटायर होने के लिए कहे तो वह मना कर दे और हम बेबसी से उससे कहें कि अब तुम्हें कोई काम नहीं देंगे, यही सजा है तुम्हारी, फिर काम न देने के लिये मुख्य न्यायाधीश मना भी करेंगे तो आखिर संविधान के कौन से प्रावधान के अंतर्गत?

संविधान के अनुच्छेद 124 (4) में प्रावधान है कि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जायेगा। तब तक कदाचार या असमर्थता के आधार पर ऐसे हटाये जाने के लिये संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन के समक्ष उसी सत्र में रख जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दिया हैं। अनुच्छेद 124 (5) में उल्लेख है संसद खण्ड (4) के अधीन किसी समावेदन के रखे जाने की तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता की जाँच और साबित करने की प्रक्रिया का विधि द्वारा विनियमन कर सकेगी।

संविधान के उपर्युक्त प्रावधानों के अंतर्गत जाँच प्रक्रिया के लिये न्यायाधीश जाँच अधिनियम 1968 बनाया गया है, जिसकी धारा–3 में प्रावधान है कि न्यायाधीश को हटाने के लिए कम से कम 100 संसद सदस्यों द्वारा नोटिस दिना जाना जरूरी है। नोटिस व अन्य सामग्री देखने के बाद स्पीकर ऐसी माँग को स्वीकृत या रद्द कर सकते है। यदि नोटिस स्वीकृति कर लिया जाय तो धारा 3 (2) के अनुसार जाँच हेतु तीन सदस्यीय समिति बनायी जायेगी, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय का एक

न्यायाधीश दूसरा किसी भी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश और तीसरा अध्यक्ष के विचार से प्रसिद्ध न्यायविद् होना जरूरी हैं। यदि जाँच कमेटी की रिपोर्ट में न्यायाधीश पर लगाये गये सिद्ध हो, तो उसे संसद के समक्ष रखा जा सकता है और यदि संसद सदस्य बहुमत से चाहें तो न्यायाधीश को हटाने का प्रस्ताव पास कर सकते हैं। इसके बाद भी राष्ट्रपति न्यायाधीश को हटा सकते हैं।

संविधान के अनुसार न्यायाधीश पर महाभियोग दुराचरण और अक्षमता के आधार पर ही चलाया जा सकता है। घूसखोरी, भ्रष्टाचार, सरकारी धन का दुरूपयोग इसमें सम्मिलित है या नहीं?[24]

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री वी. रामास्वामी के विरूद्ध लोकसभा में प्रस्तुत महाभियोग प्रस्ताव आवश्यक मतो के अभाव में पारित नहीं हो सका। न्यायमूर्ति रामास्वामी संसद की प्रतिनिधि सभा में जीत गये। इस प्रकरण में लोक सभा अध्यक्ष द्वारा नियुक्ति की गई समिति ने अपना फैसला दिया तथा 14 में से 10 आरोप को सही पाया। सदन में कांग्रेस के सांसदों ने महाभियोग के प्रस्ताव पर मतदान नहीं किया। पक्ष में 196 वोट पड़े, लेकिन विरोध में एक भी वोट नहीं पड़ा।

न्यायमूर्ति श्री रामास्वामी ने दोषमुक्ति के अहसास के साथ अदालत की सर्वोच्चता ने फैसला लेकर संसदीय जनभावना की रक्षा की। जस्टिस रामास्वामी ने यह बड़प्पन दिखाकर जनभावना का जनतंत्र का तथा जनतन्त्र की न्याय आस्था का सम्मान तथा स्वाभिमान बचा दिया।

(2) सौमित्र सेन का मामला

फरवरी, 2009 में कलकता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सौमित्र सेन के विरूद्ध राजसभा के सदस्यों द्वारा संसद में उसे पद से हटाए जाने हेतु प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। भारत के संवैधानिक इतिहास में दूसरी बार किसी न्यायाधीश को उसके पद से हटाने के लिए संसद में कार्यवाही इसलिए आगे नहीं नहीं बढ़ सकी, क्योंकि न्यायधीश ने अपना इस्तीफा राष्ट्रपति को सौंप दिया।

न्यायाधीशों के वेतन तथा विशेषाधिकार:-

संविधान के अनुच्छेद 125 में न्यायाधीशों के वेतन आदि बाबत् उपबन्ध किये गये हैं:—

1. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतनों का संदाय किया जायेगा, जो संसद विधि द्वारा अवधारित करे और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता है तब तक वेतनो का संदाय किया जायेगा जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट है।

54 वें संविधान संशोधन 1986 द्वारा संविधान की दूसरी अनुसूची के भाग (घ) में संशोधन करके न्यायाधीशों के वेतन को बढ़ा दिया गया था। इस संशोधन के प्रश्चात भारत के मुख्य न्यायाधीश को 10000 रूपये तथा अन्य न्यायाधीश को 9000 रूपये वेतन मिलता था। अब संसद ने उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों (सेवा की शर्तो) संशोधन अधिनियम 1998 पारित करके न्यायाधीशों के वेतन में तीन गुना वृद्धि कर दी है। इस संशोधन द्वारा उच्चतम न्यायाधिपति का वेतन प्रतिमास 10,000 से बढ़ाकर 33,000 रूपये प्रतिमास तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन 9000 से बढ़ाकर 30,000 रूपये कर दिया गया है।

(2) प्रत्येक न्यायाधीश ऐसे विशेषाधिकारों और भत्तों का तथा अनुपस्थिति छुट्टी और पेंशन के सम्बन्ध में ऐसे अधिकारों का, जो संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन समय–समय पर अवधारित किये जाय और जब तक इस प्रकार अवधारित नहीं किये जाते है। तब तक ऐसे विशेषाधिकारों, भत्तों और अधिकारों का जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट है, हकदार होगा।

परन्तु किसी न्यायाधीश के विशेषाधिकारों और भत्तों में तथा अनुपस्थिति छुट्टी या पेंशन के सम्बन्ध में उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिये अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जायेगा।

उन्मुक्तियाँ

न्यायाधीशों को अपने न्यायिक कार्यो और निर्णय के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गई है तथापि न्यायालय के किसी निर्णय अथवा किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता। संसद भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नही कर सकती। न्यायालय को अधिकार है कि वह अपने सम्मान की

रक्षा के लिए किसी तथाकथित अपराधी के विरूद्ध न्यायालय अवमान की कार्यवाही कर सके। वर्ष 1953 में टाईम्स ऑफ इण्डिया द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय पर टिप्पणी के कारण उस समाचार पत्र के सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक के विरूद्ध न्यायालय अवमान की कार्यवाही की गई थी। यह उन्मुक्ति इसलिए प्रदान की गई है कि न्यायाधीश अपना कार्य बिना किसी बाहरी दबाव व प्रभाव के कर सके। न्यायालय के विचाराधीन मामलों पर अन्य कहीं किसी प्रकार की कोई राय व्यक्त नहीं की जा सकती।

कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्तिः-

संविधान के अनुच्छेद 126 में यह प्रावधान है कि जब भारत में मुख्य न्यायमूर्ति का पद रिक्त है या जब मुख्य न्यायमूर्ति के कारण या अन्यथा अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से ऐसा एक न्यायाधीश जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करें, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा।

तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति (एड हाँक जज)

संविधान के अनुच्छेद 127 में तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है–

(1) यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय के सत्र की आयोजित करने या चालू रखने के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्ति प्राप्त न हो तो भारत का मुख्य न्यायमूर्ति राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से और सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश से, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए सम्यक रूप से अर्हित है और जिसे भारत का मुख्य न्यायमूर्ति नामार्दिष्ट करें, न्यायालय की बैठकों में उतनी अवधि के लिए जितनी आवश्यक हो, तदर्थ न्यायाधीश के रूप में उपस्थित रहने के लिए लिखित रूप में अनुरोध कर सकेगा।

(2) इस प्रकार नामोर्दिष्ट न्यायाधीश का कर्तव्य होगा कि वह अपने पद के अन्य कर्तव्यों पर ध्यान देकर उस समय और उस अवधि के लिए जिसके लिए

उसकी उपस्थिति अपेक्षित है, उच्चतम न्यायालय की बैठकों मे उपस्थित हो और जब वह इस प्रकार उपस्थित होता है, तब उसको उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियों और विशेषाधिकार होंगे और वह उक्त न्यायाधीश के कर्तव्यों का निर्वहन करेगा।

उच्चतम न्यायालय की बैठकों में सेवानिवृत न्यायाधीशों की उपस्थितिः-

संविधान के अनुच्छेद 128 में यह उपबन्ध किया गया है कि इस अध्याय में किसी बात के होते हुए भी भारत का मुख्य न्यायमूर्ति, किसी भी समय, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी व्यक्ति से, जो उच्चतम न्यायालय या फैडरल न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है,[25] या जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है और उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये सम्यक रूप से अर्हित है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध कर सकेगा और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिससे इस प्रकार अनुरोध किया जाता है। इस प्रकार बैठने और कार्य करने के दौरान ऐसे भत्तों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करें और उसको उस न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार होंगे, अन्यथा उसे न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जायेगा।

परन्तु जब तक यथापूर्वोक्त व्यक्ति उस न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने की सहमति नहीं दे देता है, तब तक इस अनुच्छेद की कोई बात उससे ऐसा करने की अपेक्षा करने वाली नहीं समझी जायेगी।

सर्वोच्च न्यायालय का अवस्थापनः-

सर्वोच्च न्यायालय को अपनी स्थापना का प्रबंधन स्वयं करने का अधिकार है। यह व्यवस्था इस कारण की गई कि सर्वोच्च न्यायालय के कर्मचारी उसके अधीन रहकर ही कार्य करें तथा वे प्रशासन के प्रभाव से मुक्त रहकर स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके। सर्वोच्च न्यायालय के पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति व पदच्युति का अधिकार इस न्यायालय को ही होता है तथा यह कार्य मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा नियुक्त अन्य किसी पदाधिकारी द्वारा किया जाता है यद्यपि कुछ मामलों में नियुक्ति के सम्बन्ध में लोक सेवा आयोग का परामर्श

आवश्यक होता है तथा सेवा की अन्य शर्तों से सम्बन्धित नियमों के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है। सर्वोच्च न्यायालय के अवस्थापन पर होने वाला व्यय भारत की संचित निधि से किया जाता है, जिस पर संसद को कोई अधिकार प्राप्त नही है।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार

भारतीय संविधान निर्माता एक ऐसा अखिल भारतीय अपीलीय न्यायालय बनाने के लिए दृढ़ संकल्प थे, जिसे फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के क्षेत्राधिकार हो, सर्वोच्च न्यायालय इसी संकल्प की पूर्ति करता है। हमारी न्याय व्यवस्था के शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय है, जो भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। उसका क्षेत्राधिकार अत्यन्त व्यापक है। वह ''अभिलेख न्यायालय'' है और उसके क्षेत्राधिकार में प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय सभी प्रकार के मामले आ जाते है।[26]

पायली के अनुसार– ''विश्व के अन्य किसी संघ के सर्वोच्च न्यायालयों की अपेक्षा भारत के सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ अधिक व्यापक है।[27]

अभिलेख न्यायालयः-

संविधान के अनुच्छेद 129 में इस बाबत् उपबन्ध किया गया है। जिसमें उसको अपने अवमान के लिये दण्ड की शक्ति सहित ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियाँ होंगी। अभिलेख न्यायालय एक ऐसा न्यायालय होता है, जिसके सभी कृत्य और जिसकी सभी कार्यवाहियाँ सदैव के लिए प्रमाण स्वरूप सुरक्षित रखी जाती है। कोई भी न्यायालय इन अभिलेखों के विरूद्ध नहीं जा सकता। अभिलेख न्यायालय को अपने अवमान के लिये दण्ड देने की शक्ति होती है। संसद ने न्यायालय अपमान अधिनियम 1971 पारित करके न्यायालय, अवमान की एक निश्चित परिभाषा कर दी है। न्यायालय अवमान के लिये छह माह की सजा तथा 2000 रूपया जुर्माना या दोनों किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार व्यापक है। इसके क्षेत्राधिकार को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैः–

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

संविधान के अनुच्छेद 131 के अनुसार निम्नलिखित विवादों के संबंध में उच्चतम न्यायालय को प्रारंभिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैः—

(क) भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच या

(ख) एक ओर भारत सरकार और किसी राज्य या राज्यों और दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच या

(ग) दो या अधिक राज्यों के बीच।

किसी विवाद में यदि और जहाँ तक उस विवाद में (विधि का या तथ्य का) ऐसा प्रश्न अन्तर्निहित है, जिस पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है, तो वहाँ तक अन्य न्यायालयों का अपवर्जन करके उच्चतम न्यायालय को आरंभिक अधिकारिता होगी परन्तु उक्त अधिकारिता का विस्तार उस विवाद पर नहीं होगा, जो किसी ऐसी संधि, करार, प्रंसविदा, वचनबद्ध, या वैसी ही अन्य लिखित विवाद से उत्पन्न हुआ है, जो इस संविधान के प्रारंभ से पहले की गई थी या निष्पादित की गई थी और ऐसे आंरंभ के पश्चात् प्रवर्तन में है या जो यह उपबन्ध करती है कि उक्त अधिकारिता का विस्तार ऐसे विवाद पर नहीं होगा।

प्रारंभिक क्षेत्राधिकर के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय सरकार के विरूद्ध नागरिकों द्वारा प्रस्तुत मुकदमें स्वीकार नहीं करता। कुछ विवाद उच्चतम न्यायालय के प्रारंभिक क्षेत्राधिकर के बाहर रखे गये हैं। उदाहरणार्थ दिनांक 26 जनवरी 1950 के पूर्व जो संधियां या करार भारत संघ और देशी राज्यों के बीच हुए थे और जो अब भी लागू हैं उन पर उत्पन्न हुए विवाद उच्चतम न्यायालय के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार के बाहर है। इसी प्रकार वित्त आयोग को सौंपे गये विषयों से संबंधित विवाद भी उच्चतम न्यायालय के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार के अंतर्गत नहीं आते।

संविधान द्वारा नागरिक को जो मौलिक अधिकार दिये गये हैं, उन्हें लागू करने के संबंध में उच्चतम न्यायालय के साथ साथ न्यायालय को भी अधिकार प्रदान किया गया है। मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के विरूद्ध नागरिक उच्चतम न्यायालय में शरण ले सकते हैं। मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के द्वारा भी आवश्यक कार्यवाही की जा सकती

है। संविधान के 44 वें संशोधन अधिनियम द्वारा नागरिकों के जीवन तथा स्वतंत्रता सम्बन्धी अधिकारों को सुरक्षित बना दिया गया है। इस अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय में जाने के अधिकार को निलम्बित नहीं किया जा सकता। यह सुरक्षात्मक उपाय आपातकाल के प्रावधान के दुरूपयोग की रोकथाम के उद्देश्य से दिया गया है।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार

राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है।

(अ) संवैधानिकः-

संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की सिविल, दाण्डिक या अन्य कार्यवाही में दिये गये किसी निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में होगी।[28] (यदि वह उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 के अधीन प्रमाणित कर देता है) कि उस मामले में इस संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान प्रश्न अंर्तवलित है।

जहाँ ऐसा प्रमाण पत्र दे दिया गया है[29] वहाँ उस मामले में कोई पक्षकार इस आधार पर उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकेगा कि पूर्वोक्त किसी प्रश्न का विनिश्चय गलत किया गया है।

इस अनुच्छेद के प्रयोजन के लिये 'अंतिम आदेश' पद के अंतर्गत ऐसे विवाद का विनिश्चय करने वाला आदेश है जो यदि अपीलार्थी के पक्ष में विनिश्चय किया जाता है, तो उस मामले के अंतिम निपटारे के लिये पर्याप्त होगा।

यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण पत्र देना अस्वीकार किया है तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है। यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है।

श्री पायली के अनुसार– ''यह मानना ही पड़ेगा कि इस अनुच्छेद द्वारा न्यायालय को बहुत भारी सत्ता मिली है। समाजवादी ढंग से समुदाय की स्थापना करने के लिए संघ तथा राज्यों द्वारा जो विभिन्न प्रशासकीय प्राधिकरण स्थापित

किये गये हैं उनके स्वेच्छाकारी तथा अन्यायपूर्ण नियमों की रोकथाम करने के लिए न्यायालय के पास इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त अधिकार एक उत्तम एवं सुलभ उपकरण बन गये हैं।[30]

(ब) दीवानी मामलेः-

संविधान के अनुच्छेद 133 के अनुसार 3 (1) भारत के राज्यक्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की सिविल कार्यवाही में दिये गये किसी निर्णय डिक्री या अंतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में होगी।[31] यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 (क) के अधीन प्रमाणित कर देता है किः—

(क) उस मामले में विधि का व्यापक महत्व का कोई सारवान प्रश्न अंतर्वलित है और

(ख) उच्च न्यायालय की राय में उस प्रश्न का उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चय आवश्यक है।

(1) अनुच्छेद 132 की किसी बात के होते हुए भी उच्चतम न्यायालय में खण्ड (1) के अधीन अपील करने वाला कोई पक्षकार ऐसी अपील के आधारों में यह आधार भी बता सकेगा कि इस संविधान के निर्वचन के बारे में विधि के किसी सारवान प्रश्न का विनिश्चय गलत किया गया है।

(2) इस अनुच्छेद की किसी बात के होते हुए भी उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के निर्णय डिक्री या अंतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में तब तक नहीं होगी, जब तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करें।[32]

(स) फौजदारी मामलेः-

संविधान के अनुच्छेद 134 में यह उपबन्ध किया गया है किः—

(1) भारत के राज्य क्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की दाण्डिक कार्यवाही में दिये गये किसी निर्णय, अंतिम आदेश या दण्डादेश की अपील उच्चतम न्यायालय में होगी यदिः—

(क) उस उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की दोषमुक्ति के आदेश को उलट दिया है और उसकी मृत्यु दण्डादेश दिया है, या

(ख) उस उच्च न्यायालय ने अपने अधिकार के अधीनस्थ किसी न्यायालय से किसी मामले को विचारण के लिये अपने पास मंगा लिया है और ऐसे विचारण में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्धदोष ठहराया है और उसको मृत्यु दण्डादेश दिया है, या

(ग) वह उच्च न्यायालय (1) (अनुच्छेद 134 क के अधीन प्रमाणित कर देता है) कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किये जाने योग्य है।

परन्तु उपखण्ड (ग) के अधीन अपील ऐसे उपबन्धों के अधीन रहते हुए होगी जो अनुच्छेद 145 के खण्ड 1 के अधीन इस निमित्त बनाये जाये और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए होगी, जो उच्च न्यायालय नियत या अपेक्षित करें।

(2) संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को भारत राज्यक्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की दाण्डिक कार्यवाही में दिये किसी निर्णय अंतिम आदेश या दण्डादेश की अपील ऐसी शर्तों और परिसीमाओं के अधीन रहते हुए, (जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट को जाय) ग्रहण करने और सुनने की अतिरिक्त शक्ति दे सकेगी।

उच्चतम न्यायालय में अपील के लिए प्रमाण पत्र:-

अनुच्छेद 134 क के अधीन प्रत्येक उच्च न्यायालय जो अनुच्छेद 134 के खण्ड (1) या अनुच्छेद 133 के खण्ड (1) अनुच्छेद 134 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट निर्णय, डिक्री, अंतिम आदेश या दण्डादेश पारित करता है इस प्रकार पारित किये जाने के पश्चात् शीघ्र इस प्रश्न की अवधारणा कि उस मामले के सम्बन्ध में यथास्थिति अनुच्छेद 132 के खण्ड (1) या अनुच्छेद 133 के खण्ड (1) या अनुच्छेद 134 के खण्ड (1) के उपखण्ड ग में निर्दिष्ट प्रकृति का प्रमाण दिया जाए या नहीं।

(क) यदि वह ऐसा करना ठीक समझता है तो स्वप्रेरणा से कर सकेगा और

(ख) यदि ऐसा निर्णय, डिक्री, अंतिम आदेश या दण्डादेश पारित किये जाने या दिये जाने के ठीक पश्चात व्यथित पक्षकार द्वारा या उसकी ओर से मौखिक आवेदन किया जाता है, तो करेगा।

विशिष्ट पुनर्विचार-

संविधान के अनुच्छेद 136 में यह उपबन्ध किया गया है कि–

1. इस अध्याय में किसी बात के होते हुए भी उच्चतम न्यायालय अपने विवेकानुसार भारत के राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किये गये या दिये गये किसी निर्णय, डिक्री अवधारणा, दण्डादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकेगा।
2. खण्ड (1) की कोई बात सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि द्वारा या उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा पारित किये गये या दिये गये किसी निर्णय, अवधारणा, दण्डादेश या आदेश को लागू नहीं होगी।

सर्वोच्च न्यायालय को अब तक भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव संबंधी विवादों पर निर्णय देने अधिकार प्राप्त था। 31 वें संवैधानिक संशोधन (अगस्त 1975) के आधार पर व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोक सभा अध्यक्ष और प्रधानमंत्री इन चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 44 वें संविधान संशोधन अप्रैल 1979 द्वारा 39 वे संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया और अब सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय उपर्युक्त चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव विवादों की उसी प्रकार सुनवाई कर सकता है जिस प्रकार से उसके द्वारा यह कार्य 42 वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व किया जाता था।

(3) परामर्श सम्बन्धी क्षेत्रधिकारः-

"भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी विचित्र शक्ति प्राप्त है, जो न तो अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट के पास है और न इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ लॉर्डस् के पास है।[33] इस संबंध में न्यायालय को दी गई शक्ति कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि वह औपचारिक रूप से अपने पास भेजे हुए मामले या प्रतिवेदन की सुनवाई करें, बल्कि यह तो सर्वोच्च न्यायालय की विवेकशील शक्ति है जिससे वह लोक महत्व के किसी विषय पर अपना परामर्श दे सकता है, जो सर्वोच्च न्यायालय के पास राष्ट्रपति द्वारा भेजा जाय।"[34]

संविधान के अनुच्छेद 143 में यह उपबन्धित किया गया है किः–

यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है जो ऐसी प्रकृति का और

ऐसे व्यापक महत्व का है कि उस पर उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त करना समुचीन है तो वह उस प्रश्न को विचार करने के लिए उस न्यायालय को निर्देशित कर सकेगा और वह न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो वह ठीक समझे राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय प्रतिवेदित कर सकेगा।

राष्ट्रपति अनुच्छेद 132 (2)[35] के परन्तुक मे ंकिसी बात के होते हुए भी, इस प्रकार के विवाद को जो (3)[36] (उस परन्तुक) में वर्णित है, राय देने के लिये उच्चतम न्यायालय को निर्देशित कर सकेगा और उच्चतम न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो वह ठीक समझता है, राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय प्रतिवेदित करेगा।

परामर्श सम्बन्धी अधिकार के अंतर्गत राष्ट्रपति किसी प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय से संदर्भित करने को बाध्य नहीं है और न ही उच्चतम न्यायालय बाध्य है कि वह राष्ट्रपति को अपना मत प्रदान करे।[37] मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गढकर ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि ''उच्चतम न्यायालय विनम्रतापूर्वक अपना परामर्शकारी मत व्यक्त करने के लिए मना कर सकता है। उच्चतम न्यायालय के समक्ष अनेक मामले आए। 'इन दी देहली लाज एक्ट वर्ष 1951'[38] इन दी केरल एजुकेशनल बिल वर्ष 1958[39] 'इन दी बेल्वारी वर्ष 1960,'[40] 'इन दी कस्टम एक्ट वर्ष 1962,'[41] 'केशवसिंह वर्ष 1965,'[42], 'इन दी प्रेसिडेंशियल पोल वर्ष 1974,'[43] उच्चतम न्यायालय को कौन से प्रश्न सौंपे जाय इसका निर्धारण राष्ट्रपति करता हैं एवं न्यायालय सलाह देने को बाध्य नहीं है परंतु' दी स्पेशल कोर्ट बिल वर्ष 1978'[44] में उच्चतम न्यायालय ने अपने उपर्युक्त मत को बदल दिया और निर्धारित किया कि न्यायालय राष्ट्रपति को सलाह देने को बाध्य है, परंतु यदि प्रश्न अस्पष्ट है तो न्यायालय बाध्य नहीं है।

स्पेशल कोर्ट बिल के बारे में न्यायालय से सलाह माँगी गई थी कि क्या संसद को आपातकाल में किये गये अपराधों के परीक्षण के लिये विशेष न्यायालयों की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त है? उच्चतम न्यायालय ने 6:1 के बहुमत से यह निर्धारित किया कि संसद को ऐसे अपराधों के परीक्षण के लिये विशेष न्यायालयों को स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है। बशर्ते कि ऐसे विधेयक में प्रक्रियात्मक संरक्षक के लिए समुचित व्यवस्था की गई है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया

कि यदि विधेयक में तीन बातें सम्मिलित कर ली जाय, तो विधेयक विधिमान्य होगा।

(1) विशेष न्यायालयों में उच्च न्यायालयों में कार्यरत न्यायाधीशों की नियुक्ति की जायेगी, निवृत्तमान न्यायाधीश की नहीं।

(2) ऐसी नियुक्ति मुख्य न्यायाधिपति की सहमति से ही की जायेगी, केवल परामर्श से नहीं। अभियुक्त को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में अपने मामले को हस्तान्तरित करने के लिए उच्चतम न्यायालय में आवेदन देने का अधिकार होना चाहिये।

'कावेरी जल विवाद अधिकरण' के मामले में[45] कावेरी नदी के जल के बंटवारे के सम्बन्ध में कर्नाटक तथा तमिलनाडु राज्य में विवाद था। केन्द्र सरकार ने इस विवाद को निपटाने के लिए एक अधिकरण की नियुक्ति की थी। अधिकरण ने जून 1991 में कर्नाटक को एक निश्चित मात्रा में नदी का जल तमिलनाडु को देने बाबत् आदेश दिया। कर्नाटक राज्य ने इस आदेश का विरोध किया तथा एक अध्यादेश जारी करके सरकार को यह शक्ति प्रदान की कि वह अभिकरण के निर्णय का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। तमिलनाडु ने इस कार्यवाही का कड़ा विरोध किया। बढ़ते हुए विवाद को देखकर राष्ट्रपति ने मामले को संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय की सलाह के लिये सौंप दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कर्नाटक राज्य द्वारा प्रस्थापित अध्यादेश अविधिमान्य हैं क्योंकि वह केन्द्रीय अधिनियम (अन्तर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम 1956) के अधीन नियुक्त किया गया है, जिसे अनुच्छेद 262 के अधीन बनाया गया है। उक्त अध्यादेश विधि शासन के विरूद्ध है और वह अपने मामले में स्वयं एक न्यायाधीश की भूमिका धारण कर लेता है जो विधि शासन और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत का अतिक्रमण करने के कारण अब अवैधानिक है।

अयोध्या के मामले (इस्माइल फारूकी बनाम भारत संघ)[46] में उच्चतम न्यायालय के 5 सदस्यों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से अयोध्या विवाद पर राष्ट्रपति को अपनी सलाह देने से इंकार कर दिया कि जहाँ ढहाई गई बाबरी मस्जिद थी वहाँ मूलरूप में एक मंदिर था। अयोध्या में 6 दिसम्बर 1992 को विवादित ढाँचा ढहाये जाने के बाद केन्द्र सरकार ने इस विवाद को सुलझाने का

प्रयास किया। इसके अनुसार विवादित क्षेत्र के आसपास की 67 एकड़ भूमि का अधिग्रहण कर लिया और विवादित ढाँचे के निर्माण से पूर्व कोई हिन्दू मंदिर था या नहीं इस पर राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 143 (1) के अधीन उच्चतम न्यायालय से दो बातों पर परामर्श देने को कहाः–

(1) यह कि क्या विवादित ढांचे के निर्माण के पूर्व वहाँ कोई हिन्दू मंदिर था और
(2) केन्द्र द्वारा 67 एकड़ भूमि का अधिग्रहण वैध था या नहीं।

संविधान पीठ ने पहले प्रश्न पर सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि उच्चतम न्यायालय इस प्रश्न को विचारार्थ स्वीकार नहीं कर सकता। बहुमत के तीन न्यायाधीशों (मुख्य न्यायमूर्ति श्री एन वेंकट चलेया, श्री जे.एस. वर्मा और श्री जी.एन.राय) का यह मत था कि यह प्रश्न 'असंगत और अनावश्यक है', जबकि दो अन्य न्यायाधीशों (न्यायमूर्ति श्री ए.एम. अहमदी और श्री एम.पी. भरूचा) ने कहा कि यह प्रश्न असंवैधानिक ही नहीं, बल्कि धर्म निरपेक्षता का विरोध करता है।

किन्तु 67 एकड़ भूमि के अधिग्रहण के मामले में न्यायालय ने 3:2 (मुख्य न्यायाधीश श्री एन.वैकट चलैया, श्री जे.एस. वर्मा तथा जी.एन. राय) के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि अधिग्रहण वैध है, किन्तु इसकी धारा 3 तथा 4 अवैध है। इसका परिणाम यह है कि विवादित ढाँचे और उस क्षेत्र के बारे में संस्थित सभी मामलों पर पहले की भाँति सम्बन्धित न्यायालय में सुनवाई की जा सकेगी। भूमि अधिग्रहण अधिनियम उन मामलों को समाप्त नहीं करता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार की भूमिका एक रिसीवर की होगी और उसका यह दायित्व होगा कि जब तक विवादित भूमि पर अन्तिम निर्णय नहीं आ जाता, वहाँ यथास्थित बनाये रखा जाये। सरकार उक्त भूमि को किसी को हस्तांतरित नहीं कर सकती।

संविधान लागू होने के बाद से अभी तक राष्ट्रपति ने अनेक बार उच्चतम न्यायालय से परामर्श माँगा है और न्यायालय ने कभी भी असहमति व्यक्त नहीं की। विधिक सिद्धांत में उच्चतम न्यायालय का मत केवल परामर्शकारी होता है। राष्ट्रपति उस पर आचरण करने के लिए बाध्य नहीं है परंतु वास्तव में यदि देखा जाये तो ये

मत विधिक दृष्टिकोण से प्रमाणिक होते हैं। यदि किसी कारण से न्यायालय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, तो भी उसका आदर व सम्मान होता है।

सर्वोच्च न्यायालय के उक्त परामर्श संबंधी अधिकार की व्यवस्था के संबंध में एक मत यह है कि कानूनी विषयों में सर्वोच्च न्यायालय की सलाह लेने के बाद जब शासन द्वारा कोई कार्य किया जाता है तो उससे अनावश्यक मुकदमेबाजी की संभावना कम हो जाती है। श्री पायली ने कहा कि सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श संबंधी न्यायाधिकार मुकदमेबाजी को रोकने तथा उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होता है परंतु इस संबंध में एक मत यह भी है कि कानूनी प्रश्नों पर शासन को मत देने के लिए अब एक पूरे विधि विभाग तथा महान्यायवादी के पद की व्यवस्था है तो सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श संबंधी न्यायाधिकार अनावश्यक सा प्रतीत होता है। आलोचकों का मत है कि जब किसी विषय पर सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को अपनी सम्मति प्रदान कर देगा और जब वही विषय किसी वाद में उसके समक्ष फिर प्रस्तुत किया जावेगा तो ऐसी दशा में न्यायालय अपने उस पूर्व निर्णय से प्रभावित हुए बिना सामान्यतः नहीं रह सकेगा जो उसने दूसरे पक्ष को सुने बिना पहले दिया है। श्री राघवाचारी ने कहा था कि न्यायालय तब भी स्वयं को उसी मत से बाध्य समझेगा, जो उसने दूसरे पक्ष के तर्कों को सुने बिना राष्ट्रपति के समक्ष प्रकट कर दिया था। क्या पहले दिये गये परामर्श से प्रभावित हुए बिना उस पक्ष के तर्क को सुना जा सकेगा? क्या उस पक्ष की यह शंका विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत नहीं होगी कि उसे न्यायालय में अपना पक्ष रखने का मौका प्राप्त नहीं हुआ? तब क्या यही उत्तम नहीं होता कि संविधान में इस प्रकार की किसी धारा को स्थान ही प्रदान किया जाता हो।

(4) अन्य शक्तियाँ :-

सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित अन्य शक्तियाँ प्राप्त हैं:—

(1) पुनर्विचार की शक्तिः- सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों, अपीलों के आदेशों के पुनर्विचार का अधिकार है। देश का सर्वोच्च न्यायालय होने के कारण वह अपने निर्णयों से बँधा नहीं है। यदि सर्वोच्च न्यायालय को यह संदेह हो कि निर्णय से

किसी पक्ष के साथ अन्याय हुआ है या कोई नवीन तथ्य प्रकाश में आया है तो वह आवश्यकतानुसार अपने निर्णयों पर अनुच्छेद 137 के अंतर्गत विचार कर सकता है।

(2) सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में विस्तारः- संविधान के अनुसार संसद को विधि द्वारा न्यायालय के क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने का अधिकार है। अनुच्छेद 138 के अनुसारः—

(1) उच्चतम न्यायालय को संघसूची के विषयों में से किसी के सम्बन्ध में ऐसी अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियाँ होगी, जो संसद विधि द्वारा प्रदान करें।

(2) यदि संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसी अधिकारिता और शक्तियों के प्रयोग का उपबन्ध करती है तो उच्चतम न्यायालय को किसी विषय के संबंध में ऐसी अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियाँ होगी, जो भारत सरकार और किसी राज्य की सरकार विशेष करार द्वारा प्रदान करे।

संविधान के अनुच्छेद 139 के अधीन उच्चतम न्यायालय को कुछ रिट निकालने की शक्तियाँ प्रदान की गई है। संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 32 के खण्ड—2 में वर्णित प्रयोजनों से भिन्न किन्हीं प्रयोजनों के लिये ऐसे निर्देश आदेश या रिट जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेक्ष, अधिकार—पृच्छा और उत्प्रेषण रिट है या उनमें से कोई निकालने की शक्ति प्रदान कर सकेगी।

अनुच्छेद 139 'क' के अधीन कुछ मामलों का अंतरणः-

यदि ऐसे मामले, जिनमें विधि के समान या सारतः समान प्रश्न अंतर्वलित है। उच्चतम न्यायालय के और एक या अधिक उच्च न्यायालयों के अथवा दो या अधिक उच्च न्यायालयों के समक्ष लम्बित है और उच्चतम न्यायालय का स्वप्रेरणा से अथवा भारत के महान्यायवादी द्वारा या ऐसे किसी मामले के किसी पक्षकार द्वारा किये गये आवेदन पर यह समाधान हो जाता है कि ऐसे प्रश्न व्यापक महत्व के सारवान प्रश्न है तो उच्चतम न्यायालय उस उच्चतम न्यायालय या उन उच्च न्यायालय के समक्ष लम्बित मामले या मामलों को अपने पास मंगा सकेगा और उन सभी मामलों को स्वंय निपटा सकेगा।''[47] परन्तु उच्चतम न्यायालय इस प्रकार मंगाये गये मामले को उक्त विधि के प्रश्नों का अवधारण करने पश्चात् ऐसे प्रश्नों पर अपने निर्णय की

प्रतिलिपि सहित उस उच्च न्यायालय को, जिससे मामला मंगा लिया गया है, लौटा सकेगा और वह उच्च न्यायालय उसके प्राप्त होने पर उस मामले को ऐसे निर्णय के अनुरूप मिटाने के लिये आगे कार्यवाही करेगा।

(2) यदि उच्चतम न्यायालय के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा करना समुचीन समझता है, तो वह किसी उच्च न्यायालय के समक्ष किसी लंबित मामले, अपील या अन्य कार्यवाही का अंतरण किसी अन्य उच्च न्यायालय को कर सकेगा।

उच्चतम न्यायालय की अनुषांगिक शाक्तियाँ–

संविधान के अनुच्छेद 140 के अंतर्गत संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को ऐसी अनुपूरक शक्तियाँ प्रदान करने के लिए उपबन्ध कर सकेगी, जो इस संविधान के उपबन्धों में से असंगत न हो और जो उस न्यायालय को इस संविधान द्वारा या इसके अधीन प्रदत्त अधिकारिता का अधिक प्रभावी रूप से प्रयोग करने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों।

उच्चतम न्यायालय की डिक्रीयों और आदेशों का प्रवर्तन और प्रकटीकरण आदि के बारे में आदेशः–

संविधान के अनुच्छेद 142 अंतर्गत (1) उच्चतम न्यायालय अपनी अधिकारिता को प्रयोग करते हुए ऐसी डिक्री पारित कर सकेगा या ऐसा आदेश कर सकेगा जो उसके समक्ष लंबित किसी वाद या विषय में पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक हो और इस प्रकार पारित डिक्री या किया गया आदेश भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र ऐसी रीति से जो संसद द्वारा बनायी गयी। किसी विधि द्वारा या उसके अधीन विहित की जाये और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता, तब तक ऐसी रीति से जो राष्ट्रपति आदेश[48] द्वारा विहित करे, प्रवर्तनीय होगा।

(2) संसद द्वारा इस निमित्त बनाई गई। किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, उच्चतम न्यायालय को भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र के बारे में किसी व्यक्ति को हाजिर कराने के किन्ही दस्तावेजों के प्रकटीकरण या पेश कराने के अथवा अपने किसी अवमान का अन्वेषण करने या दण्ड देने के प्रयोजन के लिए कोई आदेश करने की समस्त और प्रत्येक शक्ति होगी।

उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि का सभी न्यायालयों पर आबद्ध होना:-

उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होगी।

सर्वोच्च न्यायालय और न्यायिक पुनरावलोकन :-

इंग्लैंड के विपरीत भारत में एक लिखित संविधान है, जो देश की मौलिक विधि है और सरकार के समस्त अंगों की शक्तियों तथा अधिकारों का स्रोत है। इस बात की प्रतिभूति करने के लिए कि सरकार का कोई भी अंग संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण न करने पाए और सरकार संचालन संविधान की व्याख्या करने तथा विधान सभा मंडल द्वारा बनाए जाने वाले कानूनों और केंद्र तथा राज्य सरकारों के कार्यों की संवैधानिकता के परीक्षण का अधिकार दिया है। इन अधिकारों का प्रयोग करके सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या करता है तथा यह देखता है कि संसद कोई ऐसा कानून न पारित करें, जिसका अधिकार संविधान में उसे नहीं दिया गया और यदि कोई कानून संविधान किसी धारा का अतिक्रमण करता है तो उसे लागू होने से रोक सकता है। दूसरी ओर नागरिकों को दिए गए मूल अधिकारों की रक्षा का उत्तरदायित्व भी सर्वोच्च न्यायालय का है। विधानमंडल द्वारा बनाए गए कानूनों और कार्यकारिणी द्वारा दिए गए आदेशों की वैधता का परीक्षण सर्वोच्च न्यायालय दो आधारों पर करता है।

1. क्या संविधान ने एक कानून विशेष बनाने अथवा कोई आदेश विशेष देने की शक्ति संबंधित संस्था अथवा व्यक्ति को दी है?

2. क्या वह कानून अथवा आदेश नागरिकों को दिए गए मूल अधिकारों के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कानूनों की संवैधानिकता के परीक्षण करने के अधिकार को ही न्याय पुनरावलोकन का अधिकार कहा जाता है? और इसी अधिकार का स्वाभाविक परिप्रेक्ष्य में न्यायिक सर्वोच्चता की स्थापना होती है। यद्यपि अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार का क्षेत्र स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया, लेकिन संविधान के अनुच्छेद 13 व 251 में न्यायिक पुनरावलोकन के सिद्धांत को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता दी गई है। संविधान का अनुच्छेद 13 इस बात की घोषणा करता है कि कोई कानून जो संविधान के

भाग 3 अर्थात् नागरिकों को दिए गए मूल अधिकारों के सिद्धांत है। इसमें कहा गया है कि यदि समवर्ती सूची में दिए गए किसी विषय केन्द्र सरकार तथा कोई राज्य विधानमंडल का कानून बनाते हैं और उन कानूनों में विभिन्नता के बीच टकराव है तो केन्द्र सरकार द्वारा बनाया हुआ कानून मान्य होगा। इस प्रश्न का निधान स्वभावतः न्यायपालिका द्वारा ही किया जायेगा संविधान 132, 133 तथा 228 में संविधान व्याख्या को दिया गया है, और उच्च न्यायालय से ऐसे मुकदमों को जिनमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित हो, सर्वोच्च न्यायालय में निहित हेतु भेजे जाने की व्यवस्था की गई है।

''मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय''

सर्वोच्च न्यायालय संविधान में उल्लेखित मौलिक अधिकारों का संरक्षक है। संविधान के अनुच्छेद 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को मूल अधिकारों की रक्षा करने के लिए रिट या आदेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय परमादेश, बन्दी प्रत्यक्षीकरण, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार पृच्छा जारी कर सकता है। यदि किसी नागरिक के मूल अधिकारों का हनन होता है, तो वह सर्वोच्च न्यायालय की सहायता ले सकता है। अनुच्छेद 32 द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों का अतिक्रमण होने की स्थिति में नागरिकों के लिए उपचार की व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार कोई भी कानून यदि मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है, तो उसे अवैध माना जायेगा। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका ऐसे कानून बनाये, जो मूल अधिकारों का हनन करते हैं तो ऐसे कानूनों एवं आदेशों को अवैध घोषित करने की अंतिम जिम्मेदारी सर्वोच्च न्यायालय की हैं।

मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिये सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य के मामले' में सर्वोच्च न्यायालय का यह मत था कि अनुच्छेद 32 द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करने के लिए एक उपचार दिया गया है और उस उपचार के अधिकार को संविधान में एक मूल अधिकार माना गया है। इसमें न्यायालय मौलिक अधिकारों को संरक्षक बन जाता है। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने निवारक

निरोध अधिनियम के खण्ड 14 को अवैध माना। 'ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के मामले' में सर्वोच्च न्यायालय ने समाचार पत्रों की स्वतंत्रता का समर्थन किया और कहा कि ''सामान्य शांतिकालीन स्थिति में प्रेस को नियंत्रित करना अनुचित है। 'बम्बई राज्य बनाम शिक्षा समाज' मुकदमे में न्यायालय ने अल्पसंख्यकों– के सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए निर्णय दिया। 'रशीद अहमद बनाम केन्द्रीय सरकार' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवसाय करने की स्वतंत्रता की रक्षा की। 'श्ब्बनलाल बनाम उत्तरप्रदेश' राज्य नामक विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि निवारक निरोध के अंतर्गत बंदी व्यक्ति की शीघ्रातिशीघ्र अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाय। 'लोकनाथ बनाम पंजाब राज्य' के प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि मूल अधिकारों से संबंधित अनुच्छेदों में संशोधन नहीं किया जा सकता। 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण संबंधी कानून को भी सर्वोच्च न्यायालय ने इसलिए अवैध घोषित किया कि उससे सम्पत्ति के नागरिक अधिकार का हनन होता था। 'केशवानंद भारती के मामले' में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 31 (सी) के दूसरे खण्ड को अवैध घोषित कर दिया, क्योंकि इसके द्वारा नागरिकों के अधिकारों पर चोट होती थी। इस मामलें में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कहा कि मूल अधिकारों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता, जिससे संविधान का बुनियादी ढाँचा प्रभावित हो।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने इसी निर्णय को दोहराते हुए 'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य बनाम भारत सरकार' के विवाद में दिनांक 9 मई 1980 को निर्णय देते हुए 42 वें संविधान संशोधन की धारा–4 और 55 को अवैध घोषित किया गया। 'केशवानंद भारती' और 'मिनर्वा मिल्स' दोनों ही विवादों में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने इस स्थिति में अपनाया कि निर्देशक तत्वों को मौलिक अधिकारों पर वरीयता की स्थिति प्रदान नहीं की जा सकती और मौलिक अधिकारों से संबंधित प्रावधानों में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जिससे संविधान का मूल ढांचा प्रभावित होता है। दिनांक 20 जनवरी 99 को[50] उच्चतम न्यायालय द्वारा कामकाजी महिलाओं के यौन उत्पीड़न को मौलिक अधिकारों के हनन का करार देने के ऐतिहासिक फैसले ने महिलाओं की अस्मिता सम्मान संरक्षण सुनिश्चित करने की दिशा में नई आशा जगाई है। प्रधान न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री ए.एस.आनंद और

न्यायमूर्ति श्री बी.एम. खरे की खण्डपीठ ने यौन उत्पीड़न की प्रवृत्ति को समूल नष्ट करने पर जोर दिया। उनके अनुसार महिलाओं के सम्मान पर आघात के मामले में कोई समझौता नहीं किया जा सकता। संविधान द्वारा प्राप्त लैंगिक समानता और जीवन तथा स्वतंत्रता सम्बन्धी अधिकार बहुमूल्य है तथा न्यायालयों द्वारा इनकी रक्षा की जानी चाहिए।

सुप्रीम कोर्ट ने यह फैसला दिल्ली के वस्त्र निर्यात संवर्द्धन परिषद के एक अधिकारी द्वारा एक कनिष्ठ महिला क्लर्क और टाइपिस्ट के साथ दुर्व्यवहार के मामले में दिया था। सर्वोच्च न्यायालय ने लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व कामकाजी महिलाओं को कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से बचाने और दूसरे सहयोगियों के समान अधिकार दिलाने के उद्देश्य से ग्यारह दिशा निर्देश दिये थे। एक सरकारी रिपोर्ट के आकलन के अनुसार कारखानों, बाजारों और कार्यालयों में महिलाओं के साथ होने वाले अपराध पिछले दशक के दौरान दो गुना बढ़ गये थे। उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय से कामकाजी महिलाओं का आत्मबल बढ़ेगा। समाज में व्याप्त इस कुरीति को विराम दिये जाने की आवश्यकता है और इसके लिए सरकार स्तर पर चल रहे प्रयासों को हर प्रकार से सहयोग मिलना चाहिए। सुप्रीम कोर्ट ने महिला टाइपिस्ट के साथ हुए इस दुर्व्यवहार के मामले में अपनी व्यवस्था देकर कार्यस्थलों पर होने वाले यौन उत्पीड़न को हतोत्साहित करने का प्रयास किया, जो प्रशंसनीय है।

''संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय''

भारतीय संविधान और शासन व्यवस्था के स्वरूप में सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक है। संविधान ने केन्द्रीय शासन तथा राज्य शासन को सीमित शक्तियाँ प्रदान की है और यह अपेक्षा की है कि कोई भी शासन संविधान द्वारा निश्चित सीमाओं का उल्लंघन न करें। यदि कोई सरकार संविधान की सीमाओं से बाहर रहकर कार्य करती है, तो उससे संविधान का उल्लंघन होता है। सर्वोच्च न्यायालय का यह कार्य है कि वह देखे कि संविधान का उल्लंघन न हों।

सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या के क्षेत्र में अंतिम शक्ति प्राप्त है, अतः उसे संविधान का रक्षक कहा जाता है। संविधान के अनुच्छेद 141 में लिखा है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारत राज्य क्षेत्र में स्थित सभी न्यायालयों

को मान्य होगा। जहाँ तक संविधान में निहित मूल अधिकारों का प्रश्न है, उनकी सुरक्षा का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। संविधान के अनुच्छेद 13 में लिखा है कि राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनायेगा, जिससे संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण होता हो। इसका तात्पर्य यह है कि संविधान के 13 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय को कानून की वैधता की जाँच करने का अधिकार प्राप्त है। संविधान निर्माताओं ने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि कहीं सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका का तीसरा सदन न बन जाये। इसलिये उन्होंने संविधान में इस प्रकार व्यवस्था की है जिससे सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों को मर्यादित किया जा सकें।

हमारा संविधान लिखित है उसकी रचना संघात्मक व्यवस्था वाले राज्य के लिए हुई है जिसमें संघीय एवं राज्यों के विधानमण्डलों की विधायी क्षमता का स्पष्ट उल्लेख है। इसका तात्पर्य यह है कि विधानमण्डलों द्वारा निर्मित कानून संविधान की सातवीं सूची में उल्लेखित शक्तियों के अनुरूप होना चाहिए। संविधान के 246 अनुच्छेद में विधायी क्षमता के क्षेत्र परिभाषित किये गये हैं। विधानमण्डलों को अपने क्षेत्राधिकार के संदर्भ में सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है। अपने अपने क्षेत्र मे संघ तथा राज्य दोनों प्रकार के विधानमण्डल सर्वोच्चता का उपयोग करते है। इस सीमा तक भारत की सांविधिक प्रणाली ब्रिटेन से मिलती जुलती है। इससे भिन्न अमेरिका में शक्तियों के विभाजन की प्रणाली ने वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की है। अमेरिका के एक प्रचलित लोकोक्ति है– ''अमेरिका में हम संविधान के अधीन रहते है और संविधान वह है, जो हम न्यायाधीश बनाते है। भारत में न्यायापालिका के लिए यह संभव नहीं है। यहाँ दोनों प्रकार के विधानमण्डलों का क्षेत्राधिकार सुस्पष्ट परिभाषित है, ऐसी स्थिति में शक्तियों को वितरण के बारे में सर्वोच्च न्यायालय को कुछ भी करने का नहीं है। भारत मे न्यायिक समीक्षा संविधान के 246 वें अनुच्छेद के अंतर्गत है।

संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों के संबंध में प्रत्येक भारतीय नागरिक को संवैधानिक उपचारों का अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 12 एवं 13 कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के अतिक्रमण के विरूद्ध मूल अधिकारों को उनकी सुरक्षा का आश्वासन देते हैं। इसके अंतर्गत न्यायालयों को यह अधिकार है कि

वह यह देखे कि कोई भी कानून मूल अधिकारों के प्रतिकूल तो नहीं हैं। न्यायालयों को न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 32 के अंतर्गत है। जिसमें नागरिकों को संवैधानिक उपचारों के अधिकार को मान्यता प्रदान करके उन्हें यह शक्ति प्रदान की है कि वे मूल अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय में आवेदन दे सकते हैं तथा न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा, तथा उत्प्रेषण लेख जारी कर सकता है। यह अधिकार राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी प्रदान किया गया है। न्यायालयों की इस शक्ति के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री कानिया ने 'ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के मुकदमे में अपना निर्णय देते हुए कहा कि – संविधान में अनुच्छेद 13 (1) (2) के अत्यन्त सावधानी के कारण शामिल किया गया है, उनकी अनुपस्थिति में भी यदि किसी कानून के द्वारा मूल अधिकारों का उल्लंघन होता, तो न्यायालय को उसे उस सीमा तक अवैध घोषित करने का अधिकार था जिस सीमा तक उससे मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता हो। भारत में मूल अधिकार संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति प्राकृतिक अधिकारों के सिंद्धात पर आधारित नहीं हैं, उन्हें निरपेक्ष घोषित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः उन अधिकारों की सीमाएँ है तथा इन सीमाओं को संसद द्वारा निर्मित कानून द्वारा आरोपित किया जा सकता है। यहाँ तक कि जीवन और वैयक्तिक स्वाधीनता के अधिकारों का नियमन भी कानून की प्रक्रिया द्वारा नहीं होता, अपितु कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के द्वारा होता है और सर्वोच्च न्यायालय ने कानून उसे बताया है, जिसकी रचना व्यवस्थापिका द्वारा हुई है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह इस बात की जाँच करे कि कानून द्वारा आरोपित सीमाएँ संविधान में निहित प्रावधानों से मेल खाती है अथवा नहीं, जिनमें सीमाओं का उल्लेख किया गया है।

इंग्लैण्ड ने संसद की शक्ति सर्वोच्च हैं तथा उसकी विधायी शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। संसद द्वारा निर्मित कानून को किसी न्यायालय ने चुनौती नहीं दी जा सकती। ब्रिटिश न्यायालय उस कानून की व्याख्या करने तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए बाध्य है। उन्हें उसे अवैध तथा असंवैधानिक घोषित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। अमेरिका में संविधान द्वारा संघ की विधायी शक्ति कांग्रेस में निहित की गई है। कांग्रेस द्वारा निर्मित कानून संविधान के प्रावधानों के

अनुकूल होना चाहिये। यदि ऐसा नही है तो सर्वोच्च न्यायालय हस्तक्षेप करके उस कानून को असंवैधानिक तथा अवैध घोषित कर देगा।

भारत में न्यायपालिका की स्थिति ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच की है। मोटे तौर पर, जहाँ संसद तथा राज्यों के विधानमण्डलों को उनके क्षेत्र में सर्वोच्चता प्रदान की गई है, वहाँ संविधान में कुछ ऐसे भी अनुच्छेद है जो व्यवस्थापिकाओं पर कुछ निश्चित सीमाएँ आरोपित करते हैं। जहाँ तक विधायी शक्ति की कोई सीमा है, न्यायालय शिकायत प्राप्त करने की स्थिति में इस बात की जाँच कर सकता है कि क्या उससे सीमा का उल्लंघन हुआ है? और यदि ऐसा है तो न्यायालय साहस के साथ उस कानून को अंसवैधानिक घोषित कर सकता है, क्योंकि न्यायालय शपथ के द्वारा संविधान की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध है।

परंतु विधायी शक्ति पर आरोपित सीमाओं के बाहर हमारी संसद और राज्यों के विधानमण्डल अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च है तथा न्यायालय को उपयुक्त व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों में निहित नीति की बुद्धिमत्ता की जाँच करने का कोई अधिकार नहीं है।[51]

भारत में न्यायपालिका को व्यवस्थापिका का तीसरा सदन नहीं माना गया है। अतः उससे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह कानून की रचना करेगा। कानून बनाना व्यवस्थापिका का काम है और ऐसा होना उचित भी है। आखिर व्यवस्थापिका के सदस्य जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते है। इसलिए उनकी इच्छा के ऊपर न्यायपालिका द्वारा आरोपित इस प्रकार का अंकुश उचित नहीं है। न्यायपालिका को संविधान के संरक्षक का उत्तरदायित्व दिया गया है, इसलिये उसे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार भी दिया गया है।

भारत में संविधान और लोकतंत्र की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय का ही है। स्वाधीन भारत में सर्वोच्च न्यायालय का कार्यकरण बहुत गौरवमय रहा है तथा साधारण जनमत से व्यक्ति से संवैधानिक अधिकारों तथा स्वाधीनता के प्रहरी के रूप में उसके प्रति अटूट श्रद्धा और सम्मान है।[52]

उच्च न्यायालय

संविधान द्वारा राज्य में उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। संसद दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय की व्यवस्था कर सकती है।

संगठन

न्यायाधीशों की संख्याः– उच्च न्यायालय के संगठन के विषय में संविधान के अनुच्छेद 216 में कहा गया है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा वे अन्य न्यायाधीश होंगें, जिन्हें नियुक्त करना समय–समय पर राष्ट्रपति आवश्यक समझे। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या निश्चित नहीं है और वह समय समय पर आवश्यकतानुसार बदल सकती है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं पद की शर्तें:-

भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से, उस राज्य के राज्यपाल और मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश (अपर या कार्यकारी न्यायाधीश की दशा में अनुच्छेद 224 में उपबंधित रूप से पद धारण करेगा और किसी अन्य दशा में तब तक पद धारण करेगा, जब तक वह 62 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता।

परन्तु (क) कोई न्यायाधीश, राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) किसी न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने के लिए अनुच्छेद 124 के खण्ड (4) में उपबंधित रीति से उसके पद से राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकेगा।

(ग) किसी न्यायाधीश का पद राष्ट्रपति द्वारा उसे उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किये जाने पर राष्ट्रपति द्वारा उसे भारत के राज्यक्षेत्र में किसी अन्य उच्च न्यायालय से अंतरित किये जाने पर रिक्त हो जायेगा।

(2) कोई व्यक्ति, किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति (1) के लिये तभी अर्हित होगा, जब वह भारत का नागरिक है और–

(क) भारत के राज्यक्षेत्र में कम से कम दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण कर चुका है, या

(ख) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम दस वर्ष अधिवक्ता रहा है।

स्पष्टीकरण: इस खण्ड के प्रयोजनों के लिए:-

(क) भारत के राज्य क्षेत्र में न्यायिक पद धारण करने की अवधि की संगणना करने में वह अवधि भी सम्मिलित की जायेगी। इसके दौरान कोई व्यक्ति न्यायिक पद धारण करने के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा है या उसने किसी अधिकरण के सदस्य का पद धारण किया है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण किया है जिसके लिये विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित है।

(क) किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहने की अवधि की संगणना करने में वह अवधि भी सम्मिलित की जायेगी, जिसके दौरान किसी व्यक्ति ने अधिवक्ता होने के पश्चात् न्यायिक पद धारण किया है या किसी अधिकरण के सदस्य का पद धारण किया है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण किया है जिसके लिए विधि का विशेष ध्यान अपेक्षित है।

(ख) भारत के राज्यक्षेत्र में न्यायिक पद धारण करने या किसी न्यायालय का अधिवक्ता रहने की अवधि की संगणना करने में इस संविधान के प्रारंभ से पहले की वह अवधि भी सम्मिलित की जायेगी। जिसके दौरान किसी व्यक्ति ने यथास्थिति ऐसे क्षेत्र में जो 15 अगस्त 1947 से पहले भारत शासन अधिनियम 1935 में, परिभाषित भारत में समाविष्ट था, न्यायिक पद धारण किया है या वह ऐसे किसी क्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा है।

(3) यदि उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई प्रश्न उठता है तो उस प्रश्न का विनिश्चय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा किया जायेगा और राष्ट्रपति का विनिश्चय अंतिम होगा।

उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों द्वारा शपथ या प्रतिज्ञान:-

उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति अपना पद ग्रहण करने से पहले, उस राज्य के राज्यपाल या उसके द्वारा इस निमित्त

व्यक्ति के समक्ष तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिये गये प्रारूप के अनुसार शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।

न्यायाधीशों का विधि व्यवसाय पर निर्बन्धनः-

कोई व्यक्ति जिसने इस संविधान के प्रारंभ के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश के रूप में पद धारण किया है। उच्चतम न्यायालय और अन्य उच्च न्यायालयों के सिवाय भारत में किसी न्यायालय या किसी प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य नहीं करेगा।

न्यायाधीशों के वेतनः-

संविधान के अनुच्छेद 221 के अधीन न्यायाधीशों के वेतन का उपबन्ध किया गया है–

1. प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतनों का संदाय किया जायेगा जो संसद विधि द्वारा अवधारित करे और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता है जब तक ऐसे वेतनों का किया जायेगा जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट है।

2. प्रत्येक न्यायाधीश ऐसे भत्तों का तथा अनुपस्थिति, छुट्टी और पेंशन के सम्बन्ध में ऐसे अधिकारों का जो संसद द्वारा बनायी गयी विधि द्वारा या उसके अधीन समय समय पर अवधारित किये जाय और जब तक इस प्रकार अवधारित नहीं किये जाते है। तब तक ऐसे भत्तों और अधिकारों का जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट है, हकदार होगा।

परंतु किसी न्यायाधीश के भत्तों में और अनुपस्थिति, छुट्टी या पेंशन के सम्बन्ध में उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिये अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जायेगा। प्रत्येक न्यायाधीश को ऐसे भत्ते तथा अनुपस्थिति, छुट्टी तथा पेंशन प्रदान की जायेगी, जिसे संसद विधि बनाकर अवधारित करें। जब तक ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जाती, उनके भत्ते वहीं होंगे जो दूसरी अनुसूची में अन्तर्विष्ट है। वर्ष 1998 के पूर्व उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का वेतन 9000 रूपये प्रतिमास तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन 8000 रूपये प्रतिमाह था। वर्ष

1998 में उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय न्यायाधीशों (सेवा की शर्तों) संशोधन अधिनियम 1998 पारित करके संसद ने उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि कर दी है। अब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 9000 के स्थान पर 30000 रूपये प्रतिमास और अन्य न्यायाधीश को 8000 के स्थान पर 26000 रूपये प्रतिमास वेतन मिलेगा। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के मामले में न्यायालय ने कहा कि उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह के अतिरिक्त मुख्य न्यायाधिपति दोनों उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों जिससे स्थानान्तरण किया जाता है ओर जिसमें किया जाता है, उससे भी सलाह लेंगे।

किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में अंतरणः-

1. राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को अंतरण कर सकेगा।

2. जब कोई न्यायाधीश इस प्रकार अंतरित किया गया है या किया जाता है तब वह उस अवधि के दौरान वह संविधान (15वां संशोधन) अधिनियम 1963 के प्रारंभ होने के पश्चात दूसरे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में सेवा करता है, अपने वेतन के अतिरिक्त ऐसा प्रतिकारात्मक भत्ता, जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा नियत करें, प्राप्त करने का हकदार होगा।

कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश की नियुक्तिः-

जब किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति का पद रिक्त है या जब ऐसा मुख्य न्यायमूर्ति के कारण या अन्यथा अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है, तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से ऐसा एक न्यायाधीश, जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिये नियुक्त करें, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा।

उच्च न्यायालय की बैठकों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्तिः-

किसी राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति किसी भी समय राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी व्यक्ति से जो उस उच्च न्यायालय या किसी अन्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उस राज्य के उच्च न्यायालय

के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध किया जाता है। इस प्रकार बैठने और कार्य करने के दौरान ऐसे भत्तों का हकदार होगा, जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करे और उसको उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार होंगें, किन्तु उसे अन्यथा उस उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जायेगा।

परंतु जब तक यथापूर्वोक्त व्यक्ति उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने की सहमति नहीं देता है। तब तक इस अनुच्छेद की कोई बात उससे ऐसा करने की अपेक्षा करने वाली नही समझी जायेगी।

''उच्च न्यायालय- अधिकारिता और अवस्थान''

क्र.स.	नाम	स्थापना की तारीख	राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता	अवस्थान
1.	इलाहाबाद	1866	उत्तरप्रदेश	इलाहबाद, (लखनऊ में खण्डपीठ)
2.	आन्ध्रप्रदेश	1954	आन्ध्रप्रदेश	हैदराबाद
3.	बम्बई	1862	महाराष्ट्र, दादर व नागर हवेली और गोवा, दमन और दीव	बम्बई (नागपुर, पणजी और औरंगाबाद में खण्डपीठ)
4.	कोलकाता	1862	पश्चिमी बंगाल तथा अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	कोलकाता (पोर्ट प्लेयर में खण्डपीठ)
5.	दिल्ली	1966	दिल्ली	दिल्ली
6.	गुवाहाटी	1948	असम, नागालैण्ड, मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश	गुवाहाटी (कोहिया में खण्डपीठ)
7.	गुजरात	1960	गुजरात	अहमदाबाद
8.	हिमाचल प्रदेश	1971	हिमाचल	शिमला
9.	जम्मू कश्मीर	1957	जम्मू कश्मीर	श्रीनगर तथा जम्मू
10.	कर्नाटक	1884	कर्नाटक	बंगलौर

11.	केरल	1956	केरल, लक्षद्वीप	एर्नाकुलम
12.	मध्यप्रदेश	1956	मध्यप्रदेश	जबलपुर (ग्वालियर और इंदौर में खण्डपीठ)
13.	चेन्नई	1862	तमिलनाडु व पाण्डिचेरी	चेन्नई
14.	उड़ीसा	1948	उड़ीसा	कटक
15.	पटना	1916	बिहार	पटना
16.	पंजाब व हरियाणा	1966	पंजाब, हरियाणा व चण्डीगढ़	चण्डीगढ़
17.	राजस्थान	1950	राजस्थान	जोधपुर (जयपुर में खण्डपीठ)
18.	सिक्किम	1975	सिक्किम	गंगटोक
19.	छतीसगढ़	2000	छतीसगढ़	बिलासपुर
20.	उत्तराखण्ड	2000	उत्तराखण्ड	नैनीताल
21.	झारखण्ड	2000	झारखण्ड	रांची
22.	त्रिपुरा	2013	त्रिपुरा	अगरत्तला
23.	मेघालय	2013	मेघालय	शिलांग
24.	मणिपुर	2013	मणिपुर	इम्फाल

उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की उन्मुक्तियाँः-

न्यायाधीश अपना कार्य बिना किसी बाहरी दबाव व प्रभाव के कर सकें, इसके लिए उन्हें कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई है। न्यायालय के विचाराधीन मामलों पर अन्य किसी के द्वारा किसी प्रकार की कोई राय व्यक्त नहीं की जा सकती और न उसके निर्णयों की कोई आलोचना ही की जा सकती है। न्यायाधीशों के कार्य व आचरण की आलोचना केवल उस समय की जा सकती है या उन पर विचार केवल तभी किया जा सकता है, जब संसद के सदन उनके विरूद्ध दुराचार या अयोग्यता के आरोप की जाँच करें। अपना सम्मान बनाये रखने के लिये

तथा आलोचना से अपनी रक्षा करने की दृष्टि से उच्च न्यायालय को अपनी अवमानना के लिए दण्ड देने का अधिकार है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की पदमुक्तिः-

उच्च न्यायालयों के किसी न्यायाधीश को राष्ट्रपति द्वारा सभी उसके पद से हटाया जा सकता है, तब पूर्णतया सिद्ध दुराचार या उसकी अयोग्यता के आधार पर संसद का प्रत्येक सदन अपनी पूरी सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से इस आशय का सम्बोधन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करे। इस संबंध में यह भी आवश्यक है कि पदमुक्ति सम्बन्धी संबोधन का प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में पारित किया जाये तथा सम्बन्धित न्यायाधीश को संसद के समक्ष अपना बचाव प्रस्तुत करने का उचित अवसर दिया जाय।

उच्च न्यायालय की शक्तियाँ एवं क्षेत्राधिकार

किसी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार अपने राज्य तक सीमित होता है। संसद के कानून द्वारा एक उच्च न्यायालय का क्षेत्र दो या अधिक राज्यों में संघीय क्षेत्रों में भी फैल सकता है। उच्च न्यायालयों की शक्तियाँ व उनके न्यायाधिकार क्षेत्र का विवरण निम्नानुसार है–

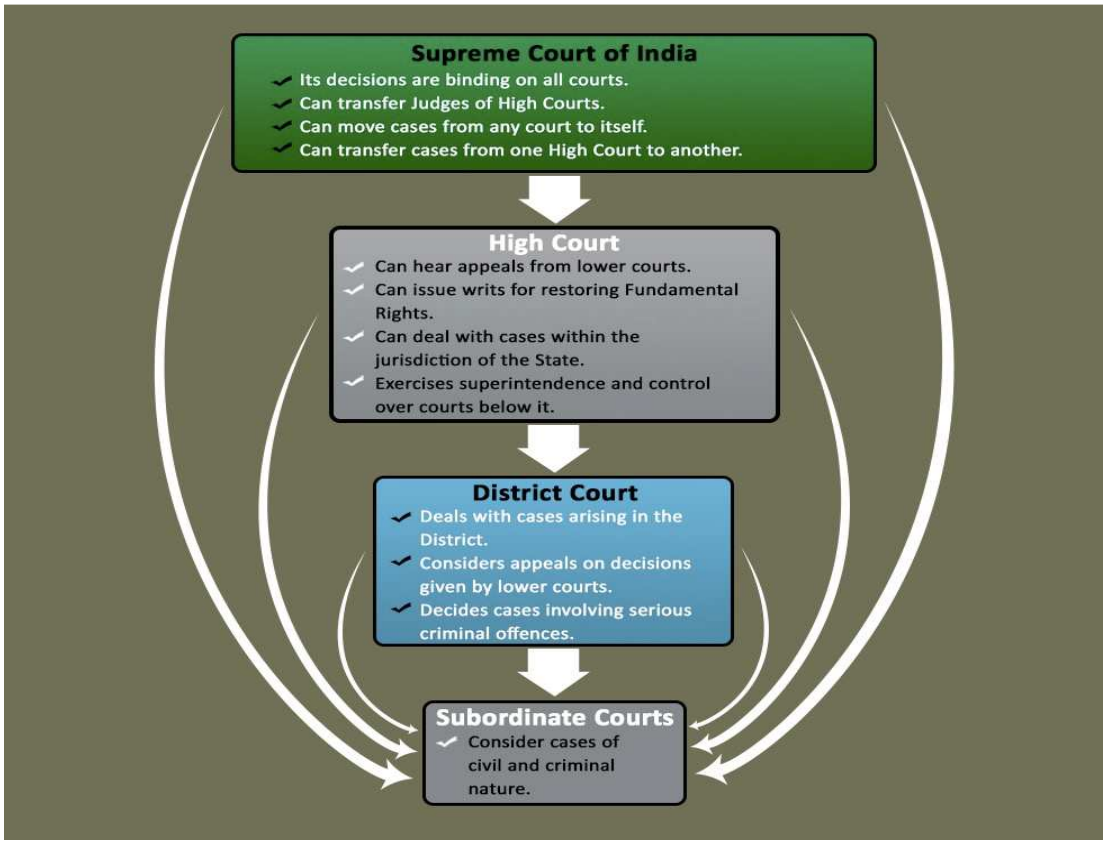

(1) प्रारंभिक क्षेत्राधिकार–

उच्च न्यायालय को लगभग वहीं शक्तियाँ प्राप्त है जो नये संविधान के लागू होने से पूर्व प्राप्त थी, इनमें केवल थोड़ा ही परिवर्तन किया गया है। अब उन्हें राजस्व संबंधी शक्तियाँ तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा संबंधी शक्तियाँ भी प्रदान की गई है। मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्च न्यायालय को बंदी प्रत्यक्षीकरण लेख, परमादेश, प्रतिषेध लेख, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण लेख जारी करने का अधिकार है–

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार–

उच्च न्यायालयों के अपीलीय न्यायाधिकार में निम्न प्रकार के मुकदमे आते हैं–

(क) अपराधिक अपीलें:

अपने अपीलीय न्यायाधिकार के अंतर्गत उच्च न्यायालय जिला न्यायालयों के उन निर्णयों के विरूद्ध अपील व पुनरीक्षण सुनते हैं जिनमें सात वर्ष या उससे अधिक के कारावास का दण्ड दिया गया हो। उन मामलों में जिनमें जिला न्यायालयों ने मृत्यु दण्ड दिया हो, उच्च न्यायालयों द्वारा मृत्यु दण्ड की पुष्टि होने पर ही मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है।

(ख) विमुक्ति के विरूद्ध अपील:

अपने इस अधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय उन मुकदमों की अपील सुन सकते हैं जिसमें कोई अपराधी अपराध से मुक्त कर दिया गया हो। ऐसे मुकदमें में अपील पीड़ित पक्ष को ओर से की जाती है।

(ग) दीवानी अपीलें:

अपने अपीलीय न्यायाधिकार के अंतर्गत उच्च न्यायालय जिला न्यायालयों के उन दीवानी मुकदमों के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनते हैं, जिनकी मालियत 20000 रूपयें से अधिक हों। उच्च न्यायालय पेटेन्ट, डिजाइन, संरक्षकर्ता, हिन्दू–विवाह संबंध आदि वादों में जिला न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध भी अपीलें

सुनते है। उच्च न्यायालयों की पूरी पीठ अपने यहाँ के एक न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध भी अपील सुन सकती है।

(घ) रेवेन्यू अपीलें:

संविधान लागू होने के पहले उच्च न्यायालय रेवेन्यू के मुकदमों की अपील नहीं सुनते थे। लेकिन संविधान लागू होने के बाद से उच्च न्यायालय माल के मुकदमों में राजस्व परिषद के विरूद्ध अपीलें सुन सकते हैं।

उच्च न्यायालय की लेख जारी करने की शक्ति:-

संविधान के अनुच्छेद 226 में इस बाबत् उपलब्ध किया गया है कि:—

1. अनुच्छेद 32 में किसी बात के होते हुए भी प्रत्येक उच्च न्यायालय को उन राज्यक्षेत्रों में सर्वत्र, जिनके सम्बन्ध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है (भाग—3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में किसी को प्रवर्तित कराने के लिये और किसी अन्य प्रयोजन के लिए) उन राज्य क्षेत्रों के भीतर किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को या समुचित मामलों में किसी सरकार को ऐसे निर्देश, आदेश या रिट जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा, और उत्प्रेषण रिट है या उनमें से कोई निकालने की शक्ति होगी।
2. किसी सरकार, प्राधिकारी या व्यक्ति को निदेश, आदेश या रिट निकालने की खण्ड (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग उन राज्यक्षेत्रों के सम्बन्ध में जिनके भीतर ऐसी शक्ति के प्रयोग के लिए वाद हेतु पूर्णतः या भागतः उत्पन्न होता है। अधिकारिता का प्रयोग करने वाले किसी उच्च न्यायालय द्वारा भी इस बात के होते हुए भी किया जा सकेगा कि ऐसी सरकार या प्राधिकारी का स्थान या ऐसे व्यक्ति का निवास स्थान उन राज्यक्षेत्रों के भीतर नहीं है।
3. जहाँ कोई पक्षकार जिसके विरूद्ध खण्ड—1 के अधीन किसी याचिका पर या उससे सम्बन्धित किसी कार्यवाही में न्यायादेश के रूप में या रोक के रूप में या किसी अन्य रीति से कोई अंतरिम आदेश, किसी ऐसे पक्षकार को ऐसी याचिका की और अंतरिम आदेश के लिए अभिभावक के समर्थन में सभी दस्तावेज की प्रतिलिपियां और ऐसे पक्षकार को सुनवाई का अवसर दिये

बिना ऐसे आदेश को रद्द कराने के लिए उच्च न्यायालय को आवेदन करता है और ऐसे आवेदन की एक प्रतिलिपि उस पक्षकार को जिसके पक्ष में ऐसा आदेश किया गया है या उसके कांउसिल को देता है। वहाँ उच्च न्यायालय उसकी प्राप्ति की तारीख से या ऐसे आवेदन की प्रतिलिपि इस प्रकार दिये जाने की तारीख से दो सप्ताह की अवधि के भीतर, इनमें से जो भी पश्चातवर्ती हो या जहाँ उच्च न्यायालय उस अवधि के अंतिम दिन बंद है वहाँ उसके ठीक बाद वाले दिन की समाप्ति से पहले जिस दिन उच्च न्यायालय खुला है, आवेदन को निपटाएगा और यदि आवेदन इस प्रकार नहीं निपटाया जाता है तो अंतरिम आदेश, यथास्थिति उक्त अवधि की या उक्त ठीक बाद वाले दिन की समाप्ति पर रद्द हो जायेगा। इस अनुच्छेद द्वारा उच्च न्यायालय को प्रदत्त शक्ति से अनुच्छेद 32 के खण्ड 2 द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रदत्त शक्ति का अल्पीकरण नहीं होगा।

उच्च न्यायालय का प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार:-

संविधान के अनुच्छेद 227 में सभी न्यायालयों के अधीक्षण की शक्ति उच्च न्यायालय को प्राप्त है:–

प्रत्येक उच्च न्यायालय उन राज्यक्षेत्रों में सर्वत्र जिनके सम्बन्ध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है। सभी न्यायालयों और अधिकरणों का अधीक्षण करेगा। पूर्वगामी उपबंध की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना उच्च न्यायालयों से विवरणी मंगा सकेगा, ऐसे न्यायालयों की पद्धति और कार्यवाहियों के विनियमन के लिये साधारण नियम और प्रारूप बना सकेगा और निकाल सकेगा तथा विहित कर सकेगा। वह किसी ऐसे न्यायालयों के अधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों, प्रविष्टियों और लेखाओं के प्रारूप विहित कर सकेगा। उच्च न्यायालय उन फीसों की सारणियां भी स्थिर कर सकेगा जो ऐसे न्यायालयों के तथा सभी लिपिकों और अधिकारियों को तथा उनमें विधि व्यवसाय करने वाले अटार्नियों, अधिवक्ताओं और लॉडरों को अनुज्ञेय होगी।

परन्तु उपर्युक्त खण्डों के अधीन बनाये गये कोई नियम विहित किये गये कोई प्रारूप या स्थिर की गई सारणी तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के उपबंध से

असंगत नहीं होगी और इनके लिये राज्यपाल के पूर्व अनुमोदन की अपेक्षा होगी। इस अनुच्छेद की कोई बात उच्च न्यायालय को सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि द्वारा या उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण पर अधीक्षण की शक्ति देने वाली नहीं समझी जायेगी।

कुछ मामलों का उच्च न्यायालय को अंतरणः-

यदि उच्च न्यायालय को यह समाधान हो जाता है कि उसके अधीनस्थ किसी न्यायालय में लंबित किसी मामले में इस संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान प्रश्न अन्तर्निहित है, जिसकी अवधारणा के मामले को निपटाने के लिए आवश्यक है, तो यह ऐसे मामले को अपने पास मंगवा लेगा तथा मामले को स्वयं निपटा सकेगा या उक्त विधि के प्रश्न का अवधारण कर सकेगा और उस मामले को ऐसे प्रश्न पर निर्णय की प्रतिलिपि सहित उस न्यायालय को, जिससे मामला इस प्रकार मंगवा लिया गया है, लौटा सकेगा और उक्त न्यायालय उसके प्राप्त होने पर उस मामले को ऐसे निर्णय के अनुरूप निपटाने के लिए आगे कार्यवाही करेगा।

उच्च न्यायालयों का अवस्थापनः-

उच्च न्यायालयों को अपने अवस्थापन का प्रबंध स्वयं करने का अधिकार प्राप्त है। यह व्यवस्था इसलिये की गई कि उच्च न्यायालयों के कर्मचारी उसके अधीन रहते हुए प्रशासन के दबाव से मुक्त रहकर स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकें। उच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति तथा पदच्युति का अधिकार इन्हीं न्यायालयों को होता है तथा यह कार्य मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा नियुक्त किसी अन्य पदाधिकारी द्वारा किया जाता है। यद्यपि नियुक्ति के संबंध में कुछ मामलों में उसे लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक होता है तथा सेवा की अन्य शर्तों से संबंधित नियमों के लिए राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक होती है। उच्च न्यायालयों के अवस्थापन पर होने वाला व्यय भारत की संचित निधि से किया जाता है जिस पर संसद या राज्य विधानमण्डल का कोई अधिकार नहीं होता।

(ग) अधीनस्थ न्यायालयः-

राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय उच्च न्यायालय है। राज्य के दूसरे छोटे न्यायालय उच्च न्यायालय के नियंत्रण तथा देख रेख में कार्य करते है।

जिला न्यायाधीशः-

संविधान के अनुच्छेद 233 के अंतर्गत जिला न्यायाधीश की नियुक्ति का उपबन्ध किया गया है।

1. किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा जिला न्यायाधीश की पदस्थापना और पदोन्नति उस राज्य का राज्यपाल ऐसे राज्य के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके करेगा।
2. वह व्यक्ति, जो संघ की या राज्य की सेवा में पहले से ही नहीं है। जिला न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए केवल तभी पात्र होगा जब वह कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता रहा है और उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने सिफारिश की हैं।

जिला न्यायाधीश की नियुक्तियों का उनके द्वारा किये गये निर्णयों का विधिमान्यकरणः-

किसी न्यायालय का कोई निर्णय डिक्री या आदेश होते हुए भी (i) उस व्यक्ति की जो राज्य की न्यायिक सेवा में पहले से ही है या उस व्यक्ति की जो कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता रहा है उस राज्य में जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति बाबत और (ii) ऐसे व्यक्ति की जिला न्यायाधीश के रूप मे पदस्थापना, पदोन्नति या अंतरण बाबत्, जो संविधान (बीसवां संशोधन) अधिनियम 1966 के आंरभ से पहले किसी समय अनुच्छेद 233 या अनुच्छेद 235 के उपबन्धों के अनुसार न करके अन्यथा किया गया है केवल इस तथ्य के कारण कि ऐसी नियुक्ति पदस्थापना, पदोन्नति या अंतरण उक्त उपबन्धों के अनुसार नहीं किया गया था यह नहीं समझा जायेगा कि वह अवैध या शून्य है या कभी भी अवैध या शून्य रहा था

(iii) किसी राज्यों जिला न्यायाधीश के रूप में अनुच्छेद 233 या अनुच्छेद 235 के उपबन्धों के अनुसार न करके अन्यथा नियुक्त, पदस्थापित, प्रोन्नत या अंतरित किसी व्यक्ति द्वारा या उसके समक्ष संविधान (बीसवां संशोधन) अधिनियम 1966 के आरंभ से पहले प्रयुक्त अधिकारिता की, पारित किये गए या दिये गए निर्णय, डिक्री दण्डावेश या आदेश की और किये गये अन्य कार्य या कार्यवाही बाबत् केवल इस तथ्य के कारण कि ऐसी नियुक्ति, पदस्थापना, पदोन्नति या अंतरण उक्त उपबंधो के अनुसार नहीं किया गया था। यह नहीं समझा जायेगा कि वह अवैध या अविधिमान्य है या कभी भी अवैध या अविधिमान्य रहा था।

अधीनस्थ न्यायालय पर नियंत्रणः-

जिला न्यायाधीश पद से निचले किसी पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों की पदस्थापना और उनको छुट्टी देने सहित जिला न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण उच्च न्यायालय में निहित है। 'शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य' में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीश की नियुक्ति, पदोन्नति, पद से हटाने की राज्यपाल की शक्तियों को छोड़कर उच्च न्यायालय का इन न्यायाधीशों पर पूर्ण नियंत्रण है।

जिला न्यायाधीशः-

संविधान के अनुच्छेद 236 के अनुसार 'जिला न्यायाधीश' पदावलि के अंतर्गत नगर व्यवहार न्यायालय का न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेन्सी का दण्डाधिकारी सत्र न्यायाधीश, अपर सत्र न्यायाधीश और सहायक सत्र न्यायाधीश भी है।

न्यायिक सेवा की परिभाषाः-

संविधान के अनुच्छेद 236 के अनुसार 'न्यायिक सेवा' पदावली मे ऐसी सेवा अभिप्रेत है, जो केवल ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बनी है जो जिला न्यायाधीश के पद जिला न्यायाधीश के पद से निचले अन्य व्यवहार न्यायिक पदों को भरने की दृष्टि से आशायित है।

संवैधानिक विकास का न्यायिक व्यवस्था व कार्यो पर प्रभावः-

आज भारत के संविधान नवम्बर 1949 के मूल पाठ से काफी बदल गया है। अनेकों संविधान संशोधन अधिनियमों से और देश के सर्वोच्च अधिकरण (न्यायपालिका) से प्राप्त होने वाले सैकड़ों निर्णयों द्वारा संविधान के पाठ में या उनके अर्थ में भारी परिवर्तन हो गए हैं। संविधान के 56 वर्षो में 102 संशोधन अधिनियमों का पारित किया जाना स्वतः ही ध्यान आकर्षित करता है। अमेरिकी संविधान में संशोधन के लिए विहित प्रक्रिया कठोर है। इसलिए परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में संविधान का अनुकूलन करने का कार्य न्यायापालिका के हाथों में आ गया है, यद्यपि प्रकटतः वह संविधान का निर्वचन ही करता है। हमारे संविधान में यह शक्ति जनता के प्रतिनिधियों को दी गई है यद्यपि संविधान के निर्वचन की अंतिम शक्ति न्यायालयों में ही है। (कुछ प्रभागों में संशोधन हेतु राज्य विधानमण्डलों का अनुसमर्थन लेकर व अन्य में केवल संसद के विशेष बहुमत द्वारा) यदि संसद संविधायी निकाय के रूप में कार्य करते हुए देश के हित में आवश्यक समझती है, तो वह संविधान का संशोधन कर सकती है।

स्पष्टतः कुछ वांछनीय परिवर्तन, न्यायालय द्वारा निर्वचन के सुस्थापित सिद्धान्तों को लागू करके नहीं किए जा सकते। इस का एक उदाहरण अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) में निर्बन्धन'' शब्द के विशेषण के रूप में ''यक्तियुक्त'' शब्दावली का अंतः स्थापना है। (पहले संशोधन द्वारा) इस विशेषण के बिना अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का उल्लंघन करने वाली विधि को न्यायिक पुनरावलोकन से सर्वथा वर्जित रखा जा सकता था।

कोई भी न्यायालय जब तक कि वह निर्वचन के सिद्धांतों से परे जाने के लिए तैयार न हो, तब तक पुनरावलोकन नही कर सकता क्योंकि वह युक्तियुक्त शब्द को खण्ड (2) अन्तःस्थापित नहीं कर सकता था, यद्यपि इस अनुच्छेद के अन्य खण्डों में वह शब्द विद्यमान था।

यहाँ 42 वें संशोधन अधिनियम अधिनियम 1976 का विशेष उल्लेख करना उचित होगा। इसके द्वारा कांग्रेस सरकार ने संघ और राज्य के विधान मंडलों में अपने एकाधिकारी नियंत्रण का लाभ उठाकर संविधान में विस्तृत परिवर्तन किए

जिनमें कुछ परिवर्तनों से संविधान की आत्मा ही बदलती लगी। इस संशोधन अधिनियम का प्रभाव इतना विस्तृत था कि उसे संशोधन के स्थान पर पुनर्लेखन भी कहा गया।

हमारे संविधान के कार्यकरण के प्रांरभिक पच्चीस वर्षों में मूल अधिकारों की प्रत्याभूति और न्यायिक पुनरावलोकन को पूरा कार्य करने का अवसर नहीं मिला। 1962 व 1965 में बाह्य संकटों के कारण व 1975 में आंतरिक संकटों के कारण आपातकाल लगा। इस बडी अवधि में आपात की उद्घोषणाओं ने मौलिक अधिकारों सम्बन्धी कई एक प्रावधानों को शिथिल कर लिया था।

हमारे संविधान में अनुच्छेद 368 द्वारा संसद को संविधान मे संशोधन करने की शक्ति दी गई है और संशोधन की प्रक्रिया को संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा सरल बनाकर न्यायापालिका का आश्रय लेने की आवश्यकता को कम कर दिया गया है। फिर भी संविधान के प्रावधानों की न्यायिक व्याख्या ने भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का मार्ग कुछ अंशों में उसी प्रकार खोल दिया है, जैसा अमेरिका में है।[53] जैसे 'गोलकनाथ' या 'केशवानंद' भारती के मामलों में संविधान के मूल ढाँचे में बदलाव संसद के लिए निषिद्ध किया जाना एक उदाहरण है। राष्ट्रपति या राज्यापाल द्वारा किन्ही परिस्थितियों में स्वविवेक के प्रयोग को भी परिभाषित करना दूसरा उदाहरण है। इसी प्रकार मूल अधिकारों को सीमित करने वाली आंतरिक सुरक्षा अधिनियम या बैंक राष्ट्रीयकरण व कुछ अन्य कानून सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्णतः या अंशतः निरस्त कर दिये थे या इसके विपरीत यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि कार्यपालिका या विधानमंडल संविधान के उपबन्धों को समयानुसार क्रियान्वित नहीं करता है तो न्यायालय का कर्तव्य है कि वह प्रगतिशील समाज की माँगों के अनुरूप उन्हें समुचित आदेश करे। कई एक समीक्षक मानते है कि आपात परिस्थितियों या विशेष आकस्मिकताओं (जैसे सिक्किम को भारत संघ में प्रवेश 35 वॉ और 36 वॉ संविधान संशोधन) में ही संविधान संशोधन हो केवल अवांछित न्यायिक निर्णयों का अध्यारोहण करने के लिए संविधान–संशोधन प्रक्रिया का आश्रय नहीं लेना चाहिए। इस प्रयोजन से बार–बार संशोधन करने से साधारण जन के मस्तिष्क में शासन के प्रति अनादर का भाव जागेगा। वैसे 100 से ऊपर हुए संशोधनों पर नजर डालें, तो यह स्पष्ट होगा कि अधिकांश संशोधन प्रशासनिक

आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु या राज्य पुनर्गठन, भाषाई मान्यताएँ आदि मसलों को लेकर आये हैं। न्यायपालिका शक्तियों को सीमित करने वाले कम ही संशोधन विधेयक आये हैं, सिवाय कुछ आर्थिक सुधार सम्बन्धी विधेयकों का संविधान की नवीं सूची में उल्लेख।

न्यायिक भूमिका

(क) सामान्य कार्यः-

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के तीन महत्वपूर्ण अंगों, विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में से न्यायपालिका अति महत्वपूर्ण स्थान रखती है। न्यायपालिका के प्रमुख सामान्य कार्यों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता हैः—

1. न्यायपालिकाः व्यक्तियों के आपसी झगडों को कानून के अनुसार निर्णित करती है।
2. अनेक ऐसे विषय, जिनके संबंध में कानून स्पष्ट नहीं होता, न्यायालय औचित्य के आधार पर निर्णय देते है।
3. न्यायालय व्यक्तियों की स्वतंत्रता और अधिकारों की रक्षा करते है।
4. न्यायालय विधानसभा द्वारा पारित किसी ऐसे कानून को जो संविधान की भावना के प्रतिकूल है, रद्द कर सकते है।
5. संवेगात्मक राज्यों और संघ राज्यों में न्याय विभाग का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य इनमें उत्पन्न विवादों का निर्णय करना है।
6. विधायिका द्वारा अनेक कानून ऐसे बन जाते है जो या तो अस्पष्ट होते है और या किसी अन्य कानून के विपरीत होते है। न्यायालय इनके सम्बन्ध में जो मत प्रकट करते है राज्य के कानूनों को पूर्णताः निदोर्षिता को कायम रखने के लिए उनका बहुत उपयोग होता है।
7. अनेक राज्यों जैसे भारत, ब्रिटेन, कनाडा, पनामा, स्वीडन इत्यादि राज्यों में यह भी प्रथा है कि राज्य का शासन विभाग या व्यवस्थापन विभाग न्यायालय से कानून विषयक किसी प्रश्न पर परामर्श ले सके।

8. न्यायालय अन्य भी अनेक प्रकार के कार्य करते है। वे अपने अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं करते है। ऐसे मत व्यक्तियों की, जिनकें उत्तराधिकारी अभी बालिग न हों, जायदाद की व्यवस्था करते हैं और वसीयतनामों को पजीकृत भी करते हैं।

(ख) विशिष्ट कार्यः– न्यामिक समीक्षाः–

न्यायालय का एक प्रमुख दायित्व कानून के अर्थ को स्पष्ट करना तथा उसकी व्याख्या करना है। **एम.वी.** पायली ने लिखा है कि 'विधायी नियम को संवैधानिक या असंवैधानिक घोषित करने की न्यायालय की क्षमता ही न्यायिक पुनरावलोकन का सार तत्व है।[54]

किसी न्यायालय की शक्ति और महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि उसे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है या नहीं? और यदि है तो उसकी मात्रा क्या है? इस शक्ति के आधार पर न्यायालय संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा कर सकता है, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियंत्रित कर सकता है उनके अधिकार क्षेत्र की सीमाओं को निश्चित कर सकता है तथा कार्यपालिका की निरंकुशता और विधानमंडलों के अत्याचार से नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

सुप्रीम कोर्ट का फैसला : कॉलेजियम पर जताया भरोसा पर सुधार के लिए होगी सुनवाई

देश की अदालतों में लगे मुकदमों के अंबार और उच्च न्यायालयों में जजों के खाली पदों की समस्या जस की तस है। इस बीच संविधान के 99 वें संशोधन के जरिए बनाए गए न्यायिक नियुक्ति आयोग को लेकर सुप्रीम कोर्ट के फैसले ने कार्यपालिका व न्यायपालिका के बीच टकराव के हालात बना दिए हैं। सुप्रीम कोर्ट की नजर में न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिए पुराना कॉलेजियम सिस्टम ही ठीक है। उसने संविधान संशोधन के बाद बने आयोग को ही असंवैधानिक करार दिया है।

क्या कहता है संविधान

संविधान के अनुच्छेद 124 के तहत सुप्रीम कोर्ट के जजों की नियुक्ति की जाती है। इसके अनुसार राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश की सलाह पर अन्य जजों की नियुक्ति करते है। संविधान के अनुच्छेद 217 के तहत हाईकोर्ट के जजों की नियुक्तियां की जाती है। इसके अनुसार, राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश और राज्य के गवर्नरों की सलाह पर जजों की नियुक्ति करते है।

क्या है कॉलेजियम

कॉलेजियम सिस्टम सुप्रीम कोर्ट के तीन अलग–अलग फैसलों का परिणाम है। इसमें उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और सुप्रीम कोर्ट के चार अन्य वरिष्ठतम न्यायाधीशों का फोरम जजों की नियुक्ति स्थानांतरण की सिफारिश करे है। हालांकि भारतीय संविधान में इसका कोई प्रावधान नहीं है। सरकार कॉलेजियम की तरफ से भेजे गए नामों को मंजूरी देकर सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्ट में जजों की नियुक्ति करती है। इस पूरी प्रक्रिया में सरकार का कोई दखल नहीं होता। इसके पहले ये नियुक्तियां संविधान सम्मत तरीके से सरकार करती थी।

यह था एनजेएसी

'नेशनल ज्यूडिशियल अपॉइंटमेंट्स कमीशन' (एनजेएसी) को ही सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश नियुक्ति करनी थी। इसमें भारत के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में छह सदस्य होने थे। इसमें सर्वोच्च न्यायालय के अन्य दो वरिष्ठतम न्यायाधीश सदस्य केंद्रीय कानून एवं न्याय मंत्री, पदेन सदस्य थे। प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के अन्य दो वरिष्ठतम न्यायाधीश सदस्य, केंद्रीय कानून एवं न्याय मंत्री, पदेन सदस्य थे। प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीश और लोकसभा में विपक्ष के नेता की समिति शेष दो सदस्यों का मनोनयन करने वाली थी।

सरकार नियुक्ति आयोग अधिनियम इसलिए लेकर आई थी कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में पारदर्शिता हो। पारदर्शिता की बात इसलिए उठी, क्योंकि कॉलेजियम व्यवस्था के कारण कई बार ऐसे जजों की नियुक्तियां हुई, जिनके बारे में सवाल खड़े हो गए थे।

कॉलेजियम पर सवाल

यह गौरव की बात है कि हमारे देश में न्यायपालिका पर आमजन का विश्वास बना हुआ है। लेकिन कॉलेजियम व्यवस्था के माध्यम से कुछ ऐसे न्यायाधीशों की नियुक्ति हुई जिनके बारे में प्रश्न उठे। एक जज को लेकर तो भले ही सुप्रीम कोर्ट ने मामले की सिफारिश कर दी, लेकिन संसद में जरूरी दो तिहाई बहुमत नहीं जुट पाया और उन पर महाभियोग नहीं चलाया जा सका। ऐसे में न्यायिक अधिकारी को मिलने वाली संवैधानिक सुरक्षा और कॉलेजियम व्यवस्था को लेकर सवाल खड़े किए जाने लगे।

एनजेएसी के जरिए यदि न्यायाधीशों की नियुक्ति होती तो समझ में नहीं आता क्या परेशानी खड़ी हो जाती? अमरीका में भी वहाँ के संघीय न्यायालय में न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति के हाथ में होती है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि फैसले राष्ट्रपति के पक्ष में जाने की आशंका बढ़ जाएगी।

सर्वोच्च न्यायालय ने एनजेएसी को असंवैधानिक करार दिया हो लेकिन उसने कॉलेजियम व्यवस्था में सुधार के लिए या इसे फुलप्रूफ बनाने के लिए 3 नवंबर की तारीख निश्चित की है। इसका अर्थ है यह निकला, सुप्रीम कोर्ट भी मानती है कि कॉलेजियम फुलप्रूफ व्यवस्था नहीं है। इसमें संशोधन की आवश्यकता हैं। इसी पर विचार किया जाएगा।[55]

फेल नहीं हुई है कॉलेजियम प्रणाली

सुप्रीम कोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायधीश आर.एम. लोढ़ा का मानना है कि न्यायपालिका संविधान की आत्मा होती है। इसमें किसी का दखल होता है, तो उसे संवैधानिक कतई नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को लेकर सुप्रीम कोर्ट का जो फैसला आया है, इसके उलट कोई फैसला आया है, इसके उलट कोई फैसला आता, तो सचमुच आश्चर्य होता। यह फैसला तो न्यायपालिका की स्वतंत्रता का पक्षधर है और न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए उचित भी है। इसका स्वागत किया जाना चाहिए।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता

संविधान के इस मूल ढांचे को ध्यान में रख कर ही न्यायालय ने यह निर्णय दिया है। हमारे यहाँ कॉलेजियम प्रणाली फेल नहीं हुई है। सरकार जो नया कानून लेकर आई, उसके तहत प्रस्तावित न्यायिक नियुक्ति आयोग में बाहर से शामिल किए जाने वाले लोगों के बारे में प्रतिष्ठित शब्द का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन विडंबना यह है कि इसमें प्रतिष्ठित (Amendment) शब्द की ठीक से व्याख्या ही नहीं की गई। यह भी नहीं बताया गया कि इनकी क्या शक्तियाँ होंगी? इनका मत कितना प्रभावी होगा? अधिनियम में इनकी शक्तियाँ आदि चीजों की व्याख्या नहीं की गई। यह भी तय नहीं कि इनका मत कितना प्रभावी होगा? इन परिस्थितियों में न्यायपालिका की निजता क्या रहेगी? जजों की नियुक्ति के बारे में मौजूदा सिस्टम में ही सुधार किया जा सकता है। इसी से तंत्र और पारदर्शी बनेगा। सुप्रीम कोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश रहते हुए आर.एम.लोढ़ा ने भी कॉलेजियम प्रणाली में सुधार के प्रयास शुरू किए थे। मौजूदा तंत्र में सुधार के लिए संभावित प्रयासों पर काम करने से पूर्व बार का दृष्टिकोण जानना चाहिए। इसमें न्यायाधीशों की सहभागिता भी हो सकती है। मेरा स्वयं का यह भी मानना है कि कुछ और सदस्य भी कॉलेजियम में शामिल किए जा सकते है। इसके लिए नए सिरे से मानदंड तय करने पड़ेंगे। अब यह देखने की बात होगी कि न्यायालय इस प्रणाली में सुधार के लिये आगे क्या कदम उठाता है? फिलहाल इस मामले में सुनवाई के लिए कोर्ट ने 3 नवंबर की तारीख को तय कर रखा है।

कॉलेजियम में चाहिए ये सुधार

- **पारदर्शिता :** जजों के लिए चयन में भेदभाव की शिकायतें आती रहती हैं। इसके लिए प्रक्रिया में पारदर्शिता लाई जाए।
- **मेरिट :** चयन में भाई–भतीजावाद, जातिवाद या जजों के जूनियरों को ही मौके के आरोप। मेरिट के मापदंड सार्वजनिक हों।
- **विशेषता :** विभिन्न क्षेत्रों को विधि विशेषज्ञों का चयन हो। संविधान या रिट के जानकारों को ही तवज्जों न मिले। अन्य मामलों के विशेषज्ञों को भी मौका मिले।

- **जवाबदेही :**कॉलेजियम की जवाबदेही तय हो ताकि गलत चयन पर कॉलेजियम में शामिल जजों की जिम्मेदारी तय की जा सके।
- **भागीदारी :** अभी कॉलेजियम सदस्य ही चयन में होते है। अधिक भागीदारी के लिए कॉलेजियम द्वारा चयनित नामों पर पूर्ण पीठ में भी विचार हों।

कॉलेजियम की सिफारिश के बाद भी सरकार को नियुक्ति नहीं करने का अधिकार है। सरकार व्यवस्था ही नियुक्त किए जा रहे व्यक्ति की स्क्रूटनी करती है। कॉलेजियम की सिफारिश के बाद भी सरकार को नियुक्ति नहीं करने का अधिकार है। आयोग बनाकर नियुक्तियाँ करने की मंशा कुछ भी रही हो। लेकिन यह तय है कि पक्षपात की गुंजाइश बनी रहती। सुप्रीम कोर्ट ने खारिज कर अच्छा कदम उठाया है।

आयोग की व्यवस्था लागू होती तो, नियुक्तियों में गैर न्यायिक सदस्यों का हस्तक्षेप होता। प्रश्न यही उठ रहे थे, क्या आयोग से पारदर्शी व निष्पक्ष प्रक्रिया का पालन हो सकेगा?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऑस्टिन, ग्रेनविल; ''इण्डियन कांस्टीट्यूशन, कार्नर स्टोन ऑफ ए नेशन'', पृष्ठ–135
2. हेडगे, के.एस.; ''क्राइसिज इन जूडिसीयरी''
3. शर्मा, एम.पी.; ''दी गवर्नमेन्ट ऑफ दी इण्डियन रिपब्लिक'' पृष्ठ 263
4. ब्राइस, लार्ड; ''माडर्न डेमोक्रेसी'' खण्ड–2, पृष्ठ 384
5. वही, पृष्ठ 388
6. गार्नर, जे. डब्ल्यू; ''पोलीटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट'' पृष्ठ–637
7. लास्की, हेराल्ड; ''इन साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस'' खण्ड–8, पृष्ठ 540
8. अम्बेडकर, भीमराव; ''कोंस्टीट्यूएट एसेम्बली डिबेट्स''
9. मुंशी, के.एम. व अय्यर ए. कृष्णा ''कॉस्टीट्यूष्ट एसेम्बली डिबेट्स''
10. ऑस्टिन, ग्रेनविल; ''दी इण्डियन कांस्टीट्यूशनः कोर्नरस्टान ऑफ ए नेशन'' ऑक्सफोर्ड, देहली, 1985
11. बसु, डी.डी.; ''भारतीय संविधान का परिचय'' प्रेक्टिस हॉल, दिल्ली, 1999
12. बसु, डी.डी.; ''पंडित जवाहर लाल नेहरू–एक जीवन परिचय''
13. दी सुप्रीम कोर्ट नवम्बर ऑफ जजेस एमेण्डमेन्ट एक्ट, 1986
14. एस.सी.सी. 655, $(1991)_3$
15. संविधान पंद्रहवा संशोधन अधिनियम, 1963 धारा 2
16. बसु, डी.डी.; ''कमेन्ट्री ऑन दी कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'' वाल्यूम–3, पृष्ठ 83
17. पालखीवाला, ननी; ''हमारा संविधान'', अध्याय–10, पृष्ठ 103
18. हेडगे, के.एस.; दी क्राइसिस इन इण्डिया जूडिसीयरी
19. टाइम्स ऑफ इण्डिया (नई दिल्ली) 30 जनवरी 1980
20. ए.आई.आर.; एस.सी. 149, 1982
21. एस.सी.सी.; 44, 1993 4
22. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, 20 अक्टूबर, 1998

23. नवभारत, 17 जनवरी, 1999
24. नवभारत टाइम्स, 14 फरवरी, 1992
25. संविधान अधिनियम 1963 धारा 3
26. कश्यप सुभाष; ''संवैधानिक विकास और स्वाधीनता'', पृष्ठ 348
27. पायली; ''भारतीय संविधान'' पृष्ठ 211
28. संविधान अधिनियम 1978, धारा 17
29. संविधान अधिनियम 1978, धारा 18
30. पायली; भारतीय संविधान, पृष्ठ 215, 1975
31. संविधान तीसवां संशोधन अधिनियम 1972, धारा 2
32. संविधान अधिनियम 1978, धारा 18
33. संविधान अधिनियम 1978, धारा 19
34. बसु, डी.डी.; ''कमेन्ट्री ऑन दी कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'' वाल्यूम–3, पृष्ठ 218
35. संविधान सातवां संशोधन अधिनियम 1956, धारा 29
36. संविधान सातवां संशोधन अधिनियम 1956, धारा 29
37. ए.आई.आर. 1965; एस.सी. 745
38. ए.आई.आर. 1951; एस.सी. 332
39. ए.आई.आर. 1958; एस.सी. 956
40. ए.आई.आर. 1960; एस.सी. 845
41. ए.आई.आर. 1963; एस.सी. 1760
42. ए.आई.आर. 1965; एस.सी. 745
43. ए.आई.आर. 1979; एस.सी. 1682
44. ए.आई.आर. 1979; एस.सी. 478
45. ए.आई.आर. 1992; एस.सी. 522
46. ए.आई.आर. 1994; एस.सी. 605 (1994) एस.सी.सी. 360
47. संविधान (चवालीसवां संसोधन) अधिनियम 1978, धारा 21
48. उच्चतम न्यायालय; डिक्री और आदेश, प्रवर्तन आदेश 1954
49. उच्चतम न्यायालय; डिक्री और आदेश, प्रवर्तन आदेश 1954

50. नवभारत (भोपाल); 21 जनवरी, 1979
51. सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट; 1950, 286–87
52. देशपाण्डे, बी.एस.; ''जर्नल ऑफ दि इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट'' अक्टू दिस. 1973, पृष्ठ 531
53. बक्शी, उपेन्द; ''इण्डियन सुप्रीम कोर्ट एण्ड पोलिटिक्स'', इस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, 1980
54. पायली, एम.वी.; ''कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इण्डिया'', एस. चाँद प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984
55. राजस्थान पत्रिका, जयपुर, शनिवार, 17.10.2015

अध्याय–चतुर्थ
न्यायिक सक्रियता की अवधारणा एवं न्यायपालिका स्वतंत्रता के पश्चात् बदलती भूमिका

किसी भी देश का संविधान वहाँ की सर्वोच्च विधि होती है। भारतीय संविधान यहाँ की सर्वोच्च विधि है। जिसमें सरकार के तीनों अंगों विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की शक्तियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। जिसमें वे आपस में सामंजस्य से कार्य कर सकें। हमारे संविधान में विधायिका को संसद की संज्ञा दी है। संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका एवं विधायिका का अभिन्न संबंध होता है एवं कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। यहाँ यह स्पष्ट करना भी सम्बन्धित होगा कि भारतीय संविधान में न तो ब्रिटेन के समान संसद की सर्वोच्चता को अपनाया है और न ही अमेरिका की न्यायपालिका की सर्वोच्चता को। बल्कि भारतीय संविधान में अद्भुत ढंग से अमेरिका की न्यायपालिका की तरह न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एवं इंग्लैण्ड के संसदीय प्रभुसत्ता के बीच के मार्ग को अपनाया गया है। फिर भी संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका को विशिष्ट स्थान दिया है। न्यायपालिका का कार्य न केवल संविधान और उसके उद्देश्यों की रक्षा करना है, बल्कि नागरिकों के मूल अधिकारों का भी सजग प्रहरी है। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् से ही न्यायपालिका ने संविधान के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए संविधान के भाग–3 एवं संविधान के भाग–4 में क्रमशः मूलभूत अधिकारों द्वारा व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं दूसरी तरफ समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय द्वारा कल्याणकारी राज्य की अपेक्षा के बीच सामंजस्य का कार्य किया है।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित होगा कि भारत में संविधान सर्वोच्च है, संसद नहीं। संविधान के उपबन्धों के निर्वहन का कार्य न्यायपालिका का है अतः संसद द्वारा बनाया गया कानून संविधान के मूल ढांचे के विरूद्ध है या नहीं। यह देखने का कार्य सर्वोच्च न्यायपालिका का ही है। संसद द्वारा पारित कोई भी कानून

संविधान के असंगत होने पर न्यायपालिका द्वारा असंवैधानिक करार दिया जा सकेगा। स्पष्टतः यदि कोई संस्था संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण करती है तो हमारी सर्वोच्च न्यायपालिका के पास ऐसे कार्यों की जाँच करने का अधिकार है और यही अधिकार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कहलाती है। अतः **न्यायविद् एम सी सितलवाड़ के अनुसार 'सभी प्रश्नों पर संविधान के अंतिम व्याख्याता के रूप में सर्वोच्च न्यायालय के प्रभाव पर बल देना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।'** उच्चतम न्यायालय में निहित न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढांचा है इसे संवैधानिक संशोधन द्वारा भी समाप्त नहीं किया जा सकता।

न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति न्यायिक सक्रियता की जननी है, जो न केवल लोकतंत्र को मजबूत बनाती है। बल्कि विधि के शासन में जनता में विश्वास को सुदृढ़ करती है तथा इस बात में कोई संदेह नहीं है कि न्यायपालिका तभी हस्तक्षेप करती है जब विधायिका और कार्यपालिका अपने कर्तव्यों को पूरा करने में उदासीन रहती हैं या नागरिकों के साथ अनुचित व्यवहार करती है या उनके मूल अधिकारों का हनन करती है। भारतीय संविधान में जहाँ मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है वहीं इन अधिकारों के प्रवर्तन या अतिलंघन की स्थिति में उपचारों का भी समावेश किया है। भारतीय संविधान में अनु0 32 (1) के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता की शक्ति अत्यंत व्यापक है। इस सम्बन्ध में उस पर कोई परिसीमा नहीं है कि वह कौन सी प्रक्रिया अपनाये? अतः न्यायालय परम्परागत प्रतिपक्षी प्रणाली (जिसमें प्रतिवादी का होना आवश्यक हो) का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं है।

संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं दिखाई देता है जिसके अन्तर्गत मूल अधिकारों के प्रवर्तन की विशेष प्रक्रिया विहित हो। शायद संविधान निर्माता जानते थे कि भारत जैसे नव स्वतंत्र देश में निर्धनता, अज्ञानता, अशिक्षा, शोषण, अभाव हो वहाँ मूल अधिकारों के प्रवर्तन में किसी तकनीकी सूत्र या कार्यवाहियों पर जोर देना उपचारों की विफलता ही होगी और देश की स्वतंत्रता व लोकतंत्र का कोई अर्थ हीं नही रह जायेगा।

आंग्ल विधि की परम्परागत संकीर्ण विचारधारा में परिवर्तन कर अनुच्छेद 32 के क्षेत्र का अत्यन्त विस्तृत बना दिया है और विगत तीन दशकों में जनहित वादों की नई पद्धति का पदार्पण हुआ।

सर्वप्रथम उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश कृष्णा अय्यर ने मुम्बई कामगार सभा के मामले में कामगार संगठन द्वारा कामगारों की ओर जाने के अधिकार के प्रति उदार एवं लचीला दृष्टिकोण अपनाते हुए न्यायाधीशों की सृजनात्मक भूमिका पर जोर दिया और इसके पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों द्वारा सामूहिक हित में समाचार पत्र में प्रकाशित समाचार, डाक द्वारा भेजी गई शिकायतों, अधिवक्ताओं, जनसेवी व्यक्तियों, संस्थाओं, समाज सेवी संस्थाओं द्वारा जनहित में याचिका स्वीकार करके नवीन न्यायिक तकनीकी की शुरूआत जनहित वादों के माध्यम से हुई और न्यायिक सक्रियता का बिगुल बज उठा।

अतः जनहित वादों की संकल्पना का उद्‌भव न्यायिक सक्रियता का दूसरा रूप है, जो वर्तमान पारम्परिक न्याय प्रणाली को सामाजिक परिस्थितियों में ढालने की दशा में सही कदम है। इस अध्याय के अन्तर्गत न्याय की परम्परावादी दृष्टिकोण नवीन पद्धति जनहित वादों का पदार्पण, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विकास, संवैधानिक अधिकारिता का विस्तार एवं उद्देश्यों को स्पष्ट करने का प्रयास होगा।

न्याय का परम्परावादी दृष्टिकोण :-

संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, जिसके अन्तर्गत यह विहित हो कि कौन व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का वर्ग, राज्य या लोक प्राधिकारी के विरूद्ध अपनी परेशानियों के प्रतिरोध के लिए रिट प्राप्त कर सकते हैं। अतः अवस्थिति का मामला, कि कौन रिट दाखिल कर सकता है, एक मूल प्रश्न है? इसकी महत्ता को अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि न्यायालय ऐसे पिटीशन को ग्रहण नहीं करेगी, जिसे पीड़ित या सम्बन्धित पक्षकार द्वारा दाखिल नहीं किया है।

परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार पीटिशनर द्वारा तभी याचिका की जायेगी, जब उसके स्वयं के किसी अधिकार का हनन हुआ है तथा उसे क्षति हुई है तथा

वह पीड़ित पक्षकार है। सामान्य नियम यह है कि एक व्यक्ति जिसके मूल अधिकार का अतिलंघन हुआ है, वह अनुच्छेद 32 के तहत उच्चतम न्यायालय को आवेदन कर सकता है। **'चिरंजीत लाल बनाम भारत संघ'** में 'उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि सामान्य रूप से अनुच्छेद 32 के तहत जिस अधिकार को प्रवर्तित करवाया जा सकता है, सामान्यतः पिटीशनर का स्वयं का या व्यक्तिगत अधिकार होना चाहिए। इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद हैं, जैसे बन्दी का प्रत्यक्षीकरण पिटीशन अन्य व्यक्ति द्वारा दाखिल किया जा सकता है,[1] इसी तरह एक अधिवक्ता विचाराधीन कैदियों के मुक्त कराने के लिए पिटीशन दाखिल कर सकता है, अधिकार पृच्छा पिटीशन किसी लोक दफ्तर में की गई नियुक्ति को चुनौती देने हेतु किसी व्यक्ति द्वारा दायर किया जा सकता है, चाहे उसका उसमें कोई निजी हित न हो। अतः पीड़ित पक्षकार का परम्परागत नियम उत्प्रेषण, प्रतिषेध तथा परमादेश रिट में लागू होता है।[2]

लेकिन परम्परागत 'सुने जाने के अधिकार' को लचीला व उदार बनाया गया है। एक व्यक्ति को राज्य या लोक प्राधिकारी की कार्यवाही को चुनौती देने का अधिकार निम्नलिखित आधार पर मिल जाता है[3]–

1. जब लोक प्राधिकारिता द्वारा लोक राशि का दुरूपयोग किया जाता है, तो कोई टैक्स अदाकर्ता, दुरूपयोग को रूकवाने का अधिकार रखता है।
2. जहाँ लोक प्राधिकारी द्वारा कानूनी दायित्व का उल्लंघन किया जाता है तो कोई व्यक्ति जो प्रतिकूलतः प्रभावित हुआ है, पिटीशन दाखिल कर सकता है जैसे म्यूनिसिपलिटी द्वारा गलत लाइसेन्स देने पर चुनौती दी जा सकती है।
3. प्राकृतिक व्यक्ति जैसे निगम भी अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं।
4. जब लोक प्राधिकारी लोक क्षतिकारित करता है, तब कोई व्यक्ति जिसे मामले में पर्याप्त हित है व सद्भावना से कार्य कर रहा है, कार्यवाही करने का अधिकार रखता है।
5. आजकल विधि को संगठित सामाजिक कार्यवाही के माध्यम से सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से अधिकतर प्रयोग में लाया जा रहा है। राष्ट्रीय पुनः संरचना कार्य द्वारा अनेक विकासात्मक क्रियाकलापों में वृद्धि हुई है

तथा विधि को सामाजिक व आर्थिक विकास के उद्देश्य से काम में लिया जा रहा है। जिसके कारण अनेक प्रकार के अधिकार जनता को दिये गये है तथा राज्य व लोक अधिकारियों पर अनेक कर्त्तव्य आरोपित किये गए है ताकि सामाजिक न्याय आम जनता तक पहुँच सके। राज्य के नीति निर्देशक तत्वों ने भी राज्य व लोक प्राधिकारिताओं पर अनेक लोक प्राधिकारिताओं पर अनेक लोक दायित्वों को आरोपित किया है। अतः यदि लोक दायित्वों के उल्लंघन को इसलिए अनुमति दे दी जाए कि किसी को विशिष्ट विधिक क्षति नहीं हुई है, तो इसका परिणाम यह होगा कि लोक दायित्व अनियंत्रित हो जायेगा तथा यह विधि शासन के लिए असम्माननीय होगा। अतः जनता का कोई व्यक्ति लोक दायित्व का उल्लंघन करने पर चुनौती दे सकता है।

6. सरकारी भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कोई व्यक्ति शिकायत कर सकता है।
7. 'जहाँ अधिकार है, वहाँ उपचार भी होना चाहिये' के सिद्धान्त को विस्तृत कर ऐसे व्यक्तियों के हितों के रक्षार्थ काम में लेना चाहिये, जो जनभावना से या संगठनात्मक रूप से लोक स्त्रोतों के संवर्धन में गम्भीर रूप से सम्बन्ध रखते है तथा न्यायालय द्वारा लोक शक्ति को निर्देश व सुधार करना, ताकि सही मामले में न्याय मिल सकें।

जनहित से जुडे अधिवक्ताओं के सामने विवादास्पद प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या अवस्थिति के नियम को उदार बनाया जाना चाहिये? ताकि समाज के गरीब वर्ग को संरक्षित किया जा सकें, लोक स्त्रोतों को उपयोग में लाया जा सकें, लोक शक्ति के प्रयोग तथा लोकहित (सामाजिक हित) कार्यवाही के अन्तर्गत आने वाले मुकदमों मे निर्देश दिया जा सके अथवा आवश्यकता पडने पर उनमें सुधार किया जा सकें। यह बात न केवल न्यायालय तक पहुँचने से सम्बन्धित है, वरन् यह न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से सम्बन्धित है, अर्थात् वह सीमा जिस हद तक न्यायालय को विधायिका व कार्यपालिका के क्रियाकलापों को नियन्त्रित करना चाहिये। यद्यपि यह सही है कि अवस्थिति व न्यायालय के विचार योग्य होना अलग–अलग बात हैं, लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए, कि न्यायालय के विचार योग्य होने का विनिश्चय करने के उपलब्ध अवसर, परम्परागत अवस्थिति (सुने जाने

का अधिकार उसी व्यक्ति का है, जिसके स्वयं के किसी विधिक अधिकार का हनन् हुआ है) द्वारा प्रभावित किया जा सकता है।

'एम.पी. जैन एवं एस.एस. जैन'[4] ने पिटीशनर्स को अवस्थिति के दृष्टिकोण से तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। **पहली श्रेणी** मे वे व्यक्ति है जिनके अधिकार प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते है, निःसन्देह रूप से ऐसे व्यक्तियों को परम्परागत नियमानुसार न्यायालय द्वारा 'सुने जाने का अधिकार' है। **दूसरी श्रेणी** में वे व्यक्ति आते है, जो कोई क्षति या नुकसान होने का दावा नहीं करते, लेकिन वे समाज के सदस्य के रूप में हुई क्षति होने का दावा करते हैं। उनके अधिकार व हित ऐसे है, जिन्हें समाज के प्रत्येक सदस्य द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। **तीसरी श्रेणी** में ऐसे व्यक्ति आते है, जो बिल्कुल अजनबी है अर्थात् विघ्न डालने वाले, हस्तक्षेप करने वाले, बिना अधिकार के प्रवेश करने वाले। यह स्पष्ट है कि **तीसरी श्रेणी** में आने वाले व्यक्तियों को 'सुने जाने का अधिकार' नहीं मिलना चाहिए।

द्वितीय श्रेणी में आने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध मे न्यायमूर्ति देशपाण्डे ने कहा है कि लोकहित का प्रतिनिधित्व करने पिटीशनर को समाज के अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त मामले में कुछ हित होना चाहिए। अतः उन्होंने मुकदमा में कुछ व्यक्तिगत दाव पर लगे हुए मामले के विद्यमान होने के लिए कहा जिस समय सुने जाने का अधिकार का विनिश्चय किया जा रहा है जो उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग करेगा। अमेरिका में भी बेकर बनाम कैर में भी न्यायमूर्ति ब्रेनेन ने व्यक्तिगत दाव पर लगे हुए विवादग्रस्त मामले की बात कही। अतः ऐतिहासिक रूप से यह कहा जा सकता है कि कामन लॉ पद्धति में न्यायालयों का मुख्य कार्य उन व्यक्तियों को उपचार देना था, जिनके अधिकार प्रभावित हुए है तथा किसी प्रकार से प्रभावित न हुए व्यक्ति द्वारा न्यायालय तक पहुँच कर उसके क्षेत्राधिकार को प्रयोग में लाने की बात की कल्पना कभी भी नहीं की गई थी।

एक प्रमुख वाद में लार्ड डिपलोक ने कहा कि न्यायालय अपना क्षेत्राधिकार तब तक काम में नहीं ले सकता, जब तक कि विधि द्वारा मान्य न्यायिक उपचार के लिये हकदार कोई व्यक्ति न्यायालय की सहायता लेने के लिए उस तक नहीं पहुँचता। हाऊस ऑफ लार्ड ने अभिनिर्धारित किया कि किसी व्यक्ति को यदि मामले में व्यक्तिगत हित नहीं है, सिवाय 'सामान्य हित' के, जो समाज का प्रत्येक व्यक्ति

रखता है कि वह देखे कि विधियों की पालना की जाए, उसे विधि की अवहेलना करने पर, दूसरे व्यक्ति को रोकने के लिए 'सुने जाने का अधिकार' नहीं है।[5] **लार्ड विलविरफोर्स** ने कहा कि ''यह अंग्रेजी विधि का मूल सिद्धान्त है कि प्राईवेट अधिकार व्यक्तियों द्वारा प्राख्यान किए जा सकते है, लेकिन लोक अधिकार लोक प्रतिनिधि होने के कारण अटार्नी जनरल द्वारा प्राख्यान किए जा सकते है। **लार्ड डनिंग** हाऊस ऑफ लार्ड के इस निर्णय से प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने कहा कि ''प्रशासनिक विधि में 'सुने जाने का अधिकार' एक ज्वलंत प्रश्न है। मैं स्वीकृत करता हूँ, कि जब कभी भी कोई नागरिक कोर्ट ऑफ अपील के सामने यह शिकायत लेकर आता है कि सरकारी विभाग या लोक प्राधिकारी या व्यवसाय संघ ने अपनी शक्तियों का दुरूपयोग या गलत उपयोग किया है, तो मैं हमेशा उसे सुनना पसन्द करूंगा कि उसे क्या कहना हैं।''[6]

न्यायालय में सुने जाने का अधिकार या अवस्थिति का कार्यवाहियों का शुभारम्भ की समस्या लोक विधि मुकदमा में अत्यन्त महत्वूपर्ण बनी हुई है क्योंकि राज्य को अनेक सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रो में महत्वपूर्ण कार्य करने का दायित्व दिया गया है तथा राज्य को अनेक लोक प्रकृति के दायित्वों का निर्वाह करना होता है। परम्परागत प्राईवेट विधि मुकदमा, जो सम्पत्ति संविदा अथवा अपकृत्य विधि में प्राईवेट अधिकारों से सम्बन्धित होते थे, उनकें प्रवर्तन में कोई परेशानी नहीं होती थी, क्योंकि जिस व्यक्ति के विधिक या विधिक संरक्षित अधिकारों के हनन् से हुई क्षति या हानि के लिये वह न्यायालय में जा सकता था। लेकिन समस्या वहाँ आती है, जहाँ लोक क्षति कारित की जाती है, अर्थात् विधि का निर्माण किया गया जिसकी संवैधानिकता संदिग्ध है या प्रशासनिक कार्य को अवैध तरीके से किया जाना या गलत तरीके से किया जाना या लोक रिष्टियां क्षति जो किसी प्राईवेट अधिकार या हित को प्रभावित नहीं करती। क्या ऐसे अवैध कृत्यों को जारी रहने दिया जाय? यदि नहीं तो किस व्यक्ति को न्यायालय मे चुनौती देने का अधिकार दिया जाय? यह प्रश्न संख्या की सभी विधिक व्यवस्थाओं व उच्च न्यायिक संस्थाओं में समय–समय पर वाद–विवाद का विषय रहा है।

नवीन पद्धति : जनहित वादों का पदार्पण एवं उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि –

वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से जूझते हुये भारतीय न्याय प्रणाली मे सन् 1975 के लगभग आशा की किरण दिखाई दी। जब उच्चतम न्यायालय के कुछ सक्रिय और क्रियाशील न्यायाधीशों ने परम्परागत सुनवाई के अधिकार सम्बन्धी नियम को उदार बनाते हुये जन साधारण को लोकहित के मामलों द्वारा न्याय दिलाना प्रारम्भ किया। भारतीय न्यायपालिका के इस प्रयास से प्रोत्साहित होकर कुछ जनसेवी व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने भी प्रशासकीय अधिकारियों के कर्तव्य के पालन न करने अथवा उपेक्षा बरतने के विरूद्ध न्यायालयों मे जनहित की याचिका दायर कर जन साधारण को न्याय दिलाने का सिलसिला प्रांरभ किया। इस प्रकार न्यायिक क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप समाज के दलित, उपेक्षित और साधनहीन लोगों को उचित न्याय प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ। आज लोकहित मामलों की पद्धति समस्त भारत में पूर्णतः स्थापित हो चुकी हैं।[7]

मानव जीवन की सामाजिक एवं आर्थिक जटिलताओं के साथ वर्तमान में जनहित मामलों के नये–नये आयाम सामने उभरकर आ रहे है तथा अब इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक हो गया है। उल्लेखनीय है कि लोकहित कार्यवाही के आंदोलन के कारण शासन–तंत्र की मनमानी तथा लापरवाही पर उचित अंकुश लगाना सम्भव हो गया है तथा जन साधारण के विधिक अधिकारों के उल्लंघन की दशा में जनसेवी व्यक्ति, संस्था या समूह द्वारा सरकार के विरूद्ध लोकहित की याचिका दायर की जा सकती है, चाहे भले ही अभ्यावेदक का उसमे स्वयं निजी हित न हो।

जनहित मामले के आंदोलन के प्रारंभ का श्रेय वास्तविक रूप से अमेरिका को है, जहाँ वर्तमान सदी के छठवें दशक में लोगों के अप्रतिनिधित्व हितों के लिये लोकहित विधि का शुभारंभ हुआ। यद्यपि उस समय तक प्रशासनिक न्यायाधिकरण अस्तित्व मे आ चुके थे, लेकिन इन अधिकरणों द्वारा जनहितों को उचित संरक्षण न दिये जाने के कारण अनेक मामलों में लोगों को अपने अधिकार से अकारण ही वंचित रह जाना पडता था। फलतः लोकहित विधि के माध्यम से अल्पसंख्यकों, महिलाओं, बच्चों आदि के शारीरिक और मानसिक विकास तथा समाज के उपेक्षित

लोगों के हितों को संरक्षित करने की परिपाटी प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार उपभोक्ता के हितों तथा पर्यावरण प्रदूषण से जन साधारण की सुरक्षा की पहल की गई।

सन् 1956 के आस–पास लोकहित विधि अमेरिका मे पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी, ताकि इसके अन्तर्गत ऐसे मामलों पर सुनवाई को जा सकती थी। जो सार्वजनिक नीतियों से संबंधित होने के कारण किसी व्यक्ति–विशेष की बजाय वृहद जन समुदाय पर विपरीत प्रभाव डाल रहे हो। साथ ही साधनहीन और असहाय लोगों को विधिक सेवाएँ उपलब्ध कराने हेतु एक 'लोकहित विधि परिषदों' की स्थापना भी की गई। शासन तन्त्र के शोषण से या उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण अशिक्षित तथा असंगठित निर्धन व्यक्तियों के हितों के संरक्षण तथा उन्हें सुलभ न्याय उपलब्ध कराने हेतु अधिवक्ताओं की उदार सेवाओं की भी आवश्यकता हुई। फलतः इस हेतु अमेरिका की संघीय सरकार ने आर्थिक अवसरों के कार्यालय की स्थापना की, जिसके द्वारा असंख्य असंगठित निचले तबके के लोगों की ओर से न्यायालय में वाद दायर कर उन्हें न्याय दिलाने की पहल की गई। साथ ही अनेक ऐसे स्वयंसेवी संगठन भी आगे आये, जिन्होंने बाल–संरक्षण, कारागार व्यवस्था, जातीय भेदभाव, प्रदूषण उपभोक्ता संरक्षण जैसे जन–व्यापक मुद्दों को न्यायालय में उठाकर सामाजिक सुरक्षा की दिशा में उल्लेखनीय योगदान दिया।

सन् 1974 में अमेरीकी कांग्रेस ने एक स्वतंत्र विधिक सेवा नियम की स्थापना की। जिसके द्वारा विधिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत भूस्वामियों की मनमानी से गरीबों के संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इस हेतु बेदखली संबंधी कानून में आवश्यक परिवर्तन किये जाने का सुझाव दिया गया। सन् 1975 तक अमेरिका मे लोकहित विधि का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक हो गया कि इसमें प्रायः सभी प्रकार के सामाजिक हितों सम्बन्धी मुद्दों को उठाना संभव था। इनमें उपभोक्ताओं तथा पर्यावरण के संरक्षण के अलावा कर–सुधार स्वास्थ्य और सुरक्षा भूमि और ऊर्जा का प्रयोग, शिक्षा सुधार, नियोजन, लाभ, मानव संसाधन तथा प्रसार माध्यम से होने वाली क्षति जैसी महत्वपूर्ण बातों पर विशेष ध्यान दिया गया। पक्षकारों के अधिकतर प्रकरण कारखानें, खेती, खान, मजदूरी, महिलाओं, बालको तथा कारावासियों और विकलांगो से संबंधित होते थे, जो उचित साधनों के अभाव में अब तक न्याय प्राप्ति से वंचित थे। तदुपरांत अमेरिका में लोकहित विधि के विकास हेतु 'सुनवाई के

अधिकार' नियम को अधिक उदार और व्यापक बनाया गया। सन् 1980 के बाद अमरीकी जनता रूझान लोकहित विधि के प्रति कुछ घटता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि श्रेष्ठतर विधिक सेवा की दृष्टि से इस पद्धति ने अमेरिकी न्याय प्रणाली में अपना स्थान बना लिया है, फिर भी वित्तीय कठिनाइयों, परम्परागत न्यायिक प्रक्रिया तथा जनता की रूचियों मे परिवर्तन के कारण जनहित–विधि पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकी।

इंग्लैड की स्थिति :-

इस शताब्दी के पूर्व इंग्लैंड की न्याय पद्धति के अन्तर्गत वहाँ के महान्यायवादी (अटार्नी जनरल) को ही जनहित का संरक्षक माना जाता रहा है तथा लोकहित से संबंधित कोई भी मामला उसके नाम से ही लाया जा सकता था, जिसे रिलेटर एक्शन कहा जाता था। ऐसे वादों में अनुतोष प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक था कि उसमें जनता या जनता के किसी भाग या समूह के हित अन्तर्निहित हो। तथापि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस पद्धति में परिवर्तन किया गया तथा अब लोकहित वाद में सामान्य व्यक्ति भी न्यायालय में अभ्यावेदन प्रस्तुत कर सकता था, परन्तु उसे यह सिद्ध करना आवश्यक था कि उक्त वाद में उसका पर्याप्त हित निहित था। तत्पश्चात् सुविख्यात न्यायविद् लार्ड डेनिंग ने कोर्ट ऑफ अपील के माध्यम से सुनवाई के अधिकार (लोकस स्टेंडी) के नियम को अधिक व्यापक बनाते हुये जनसेवी व्यक्तियों या संस्थाओं को शासकीय प्राधिकारियों के विरूद्ध मनमानी, उपेक्षा या दुर्व्यवहार के मामले में वाद प्रस्तुत करने के लिये अधिकृत किया। उल्लेखनीय है कि इसी समय से लोकहित के मामलों को 'ब्लेक बर्न मामले' के नाम से संबोधित किया जाने लगा क्योंकि ब्लेक बर्न एक लोकसेवी व्यक्ति था जिसने नागरिकों की ओर से शासन तंत्र की लापरवाही या कर्तव्य विमुखता के विरूद्ध विधिक के प्रवर्तन हेतु न्यायालय में पहल करना प्रारंभ किया। अनुतोष के रूप में उस प्रायः अन्तरिम व्यादेश या घोषणात्मक डिक्री प्राप्त होती थी।[8]

इंग्लैड में लोकहित मामलों को **'एक्शियों पापुलरिस'** या **'सिटीजन एक्शन'** कहा गया है। जिसके अन्तर्गत कोई सामान्य नागरिक भी अन्यों के लाभ के लिये सरकारी प्राधिकारियों के विरूद्ध विधि के प्रवर्तन हेतु न्यायालय में याचिका ला

सकता था किन्तु अमेरिका की तुलना में इंग्लैण्ड की न्याय व्यवस्था में लोकहित मामले का दायरा सीमित ही रहा तथा उसे वांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

भारत में जनहित मामलों का प्रारंभ –

अमेरिका की तर्ज पर भारत में भी जनहित वाद (PIL) का पदार्पण हुआ, किन्तु यहाँ इसे लोकहित कानून के स्थान पर जनहित वाद के नाम से जाना गया, किन्तु भारत के उच्चतम न्यायालय न्यायाधीशों को अपनी तरफ नहीं खींच सका अर्थात् लोकहित वाद के विचार या संकल्पना से उच्चतम न्यायालय के सभी न्यायाधीशों द्वारा न तो स्वीकारा किया गया और न ही पूर्णतः पहचान का दर्जा दिया गया।

जनहित वाद की संकल्पना के पदार्पण के बाद से आज तक सुने जाने के अधिकार (Locus standi) के नियम को उदार बनाते हुए अनेक मामलों में न्यायालय द्वारा पर्याप्त निर्णय दिये। न्यायालय द्वारा ज्यादातर न्यूज पेपर के आधार पर सुने गये।

जनहित मामलों में कार्यवाही सामाजिक संगठन, लोकहित उत्साहित नागरिकों एवं युवा अधिवक्ताओं द्वारा शुरू की गई। जनहित वाद की अवधारणा जनहित एवं सामाजिक हित की भावना से शुरू किया गया। भारत **पी.आई.एल फर्म** नाम से कोई संस्था या व्यवसाय नहीं था।

इस बात का कोई दबाव या नीति नहीं थी कि जनहित वादी के अन्तर्गत कोई विशेष नीतिगत मामलें ही इसके अन्तर्गत आयेंगे और न ही इस तरह का कोई आधार तय किया गया कि एक लोकहित वाद के सम्बन्ध में प्रभावित नागरिक ही कोई नीति निर्धारण करेंगे। फिर भी न्याय में हिस्सेदारी या न्याय सभी को मिले। यह विचार लोकहित वाद की विचारधारा में अन्तर्निहित थी।

अमेरीका में लोकहित मामलों के आंदोलन की सफलता को देखते हुये भारत के न्यायविदों ने भी इसे अपने देश में अपनाने का प्रयास किया। भारत के संविधान की उद्देशिका से प्रेरणा लेते हुये उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने सर्वप्रथम 'मुंबई कामगार सभा बनाम अब्दुल भाई[9] के निर्णय मे कामगार संगठन द्वारा कामगारों की ओर से प्रतिनिधिक याचिका को स्वीकार करते हुये श्रवणाधिकार

के सम्बन्ध मे ंलोकस स्टेडी के नियम के प्रति उदार और लचीला दृष्टिकोण अपनाते हुये न्यायाधीशों की सृजनात्मक भूमिका को महत्व दिया। यहीं से भारत में जनहित मामलों का शुभारंभ हुआ, जिसे कालांतर में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों ने न्यायिक सक्रियता द्वारा अधिक विस्तृत किया।

उल्लेखनीय है कि भारत में जनहित मामलों को विकसित करने का वास्तविक श्रेय जनसेवी व्यक्तियों या संस्थाओं का न होकर न्यायाधीशों की न्यायिक सक्रियता को ही दिया जाना चाहिये। उच्चतम न्यायालय समाचार पत्रों में प्रकाशित या पत्रों द्वारा डाक से भेजी गई शिकायतों को ही याचिका मान कर उन पर सुनवाई के बाद निर्णय दिये गये। यही से सुनवाई के अधिकार के नियम से हटकर एक नवीन न्यायिक तकनीक का सूत्रपात हुआ, जिसे लोकहित मामलों का श्रीगणेश माना जाना चाहिये।[10] अमेरिका की तरह इन मामलों का नीति विषयक होना आवश्यक नहीं था। जनसेवा की भावना रखने वाले व्यक्ति या सामाजिक हित के लिये सक्रिय संगठन भी सार्वजनिक व्यवस्था से संबंधित किसी मामले में वर्ग–विशेष की ओर से लोकहित मामला पेश कर सकते है।

जनहित कार्यवाही को सार्थक बनाने के लिये न्यायमूर्ति बी.आर. कृष्णा अय्यर ने इस बात पर बल दिया था कि लोकहित मामला संस्थित करने के लिये न्यायाधिकार होना अपरिहार्य नहीं माना जाना चाहिये तथा इस सम्बन्ध में 'लोकस स्टेंडी' नियम का उदारतापूर्वक निर्वचन किया जाना चाहिये ताकि गरीब, निर्धन, असहाय तथा साधनहीन व्यक्तियों को राहत पहुंचाई जा सके और उन्हें न्यायालय तक पहुंचने का समुचित अवसर मिल सके। अतः यह स्पष्ट है कि लोकहित न्याय के विकास में श्रवणाधिकार का नियम ही सबसे बडी अड़चन थी, जो दूर हुई।

यद्यपि जनहित के मामलों के प्रारम्भिक विकास में सह–कारावासी, प्राईवेट व्यक्ति या निजी न्यास के सुने जाने के अधिकार को स्वीकार किया गया था परन्तु निजी व्यक्ति की याचिका पर नगरपालिका को जन सुविधा उपलब्ध कराने के न्यायालयी आदेश द्वारा बाध्य करने से भारत में इस पद्धति की जड़े जोर पकडने लगी तथा न्यायिक सक्रियता को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। न्यायाधीशों के स्थानांतर के मामले का निर्णय लोकहित मामलें के विकास में एक प्रमुख आधार–स्तंभ है, जिसे परिणामस्वरूप अब कोई जन–सेवी व्यक्ति भी याचिका दायर

करके या न्यायालय को साधारण पत्र द्वारा भी किसी सार्वजनिक हित से संबंधित मामले में न्याय प्राप्ति हेतु प्रार्थना कर सकता है। उक्त वाद में इस नियम को शिथिल बनाकर यह प्रतिपादित किया गया कि लोकहित के मामलों में सुनवाई के अधिकार के नियम या शाब्दिक अर्थान्वयन न किया जाए और सार्वजनिक लोक हित के मामलों में किसी भी अभ्यावेदक को न्यायालय से न्याय की याचना का अधिकार दिया जाए। यदि सुनवाई के दौरान न्यायालय प्रकरण की अधिक गहराई से छानबीन करना चाहता है या तथ्यों की वास्तविकता का पता लगाना आवश्यक समझता है, तो उसे एक आयोग या समिति की नियुक्ति का अधिकार भी होगा।[11]

जनहित मामले के संदर्भ में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इसे लोकप्रिय बनाने में प्रकाशकों, पत्रकारों, समाजसेवी संस्थाओं तथा संगठनों की विशेष भूमिका रही है क्योंकि इन्होंने शासनतंत्र की अराजकता, मनमानी तथा शोषणकारी नीतियों के विरूद्ध न्यायालय में आवाज उठाकर जनता कि समस्याओं को निपटाने का सराहनीय प्रयास किया है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उच्चतम न्यायालय में लोकहित के मामलों के लिए एक अलग प्रकोष्ठ की स्थापना की गई है, जो भारत में जनहित पद्धति के स्थायीकरण की ओर इंगित करती है।

जनहित मामलों की पद्धति को विकसित करने मे 'इपिस्टोलरी अधिकारिता' (न्यायालय को पत्र लिखकर सुनवाई के लिए प्रेरित करना) का भी पर्याप्त महत्व है। इसके अन्तर्गत न्यायालय किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा उसे भेजे गए सामान्य पत्र को भी याचिका के समान मानकर उस पर सुनवाई कर सकता है, बशर्ते कि प्रकरण जनहित से संबंधित हो। अतः कोई भी नागरिक जनहित संबंधी किसी मामले मे अधिवक्ता की सहायता लिए बिना संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय में अथवा अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत किसी उच्च न्यायालय के नाम पत्र लिखकर उस पत्र के आधार पर याचिका के समान न्यायिक कार्यवाही की जाने की प्रार्थना कर सकता है। इस प्रकार के वादो में प्रायः ऐसे प्रकरण अन्तर्ग्रस्त होते है, जिनमें किसी मूलभूत अधिकार का उल्लंघन हुआ हो। ऐसे मामलों में न्यायालय को प्रतिपक्षात्मक प्रक्रिया अपनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

जनहित मामलों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इनसें न्यायिक अनुतोषों का लोकतांत्रिक पद्धति से प्रवर्तन संभव हो सका है तथा गरीब और

साधनहीन लोगों के लिए मूलभूत मानवीय अधिकारों संबंधी नवीनतम न्यायिक उपचार सुलभता से प्राप्त हो सकते है। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने सामाजिक न्याय प्रस्थापित करने के उद्देश्य से कारगारों अपचारियों तथा अपराधियों के पुनर्वास से संबंधित निर्देश तथा मार्गदर्शिकाओं द्वारा उन्हे समुचित न्याय दिलाने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है।[12]

जनहित मामलों का विकास –

जनहित मामलों की पद्धति का विकास प्रचलित विधिक सेवा में एक नया अध्याय है। वस्तुत इस पद्धति का शुभारंभ विधिक सहायता आंदोलन से माना जाता है जिसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों, महिलाओं, बालकों तथा शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों के वैधानिक हितों का संरक्षण किया जाता है जो असमर्थता के कारण न्याय के द्वार तक नहीं पहुंच पाते थे। लोकहित मामले के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर जनता में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न हुई है, वहीं दूसरी और सरकार भी जनता के प्रति अपने वैधानिक कर्तव्यों के बारे में सजग हो गई है। लोकहित वाद ने शासन–तंत्र के समक्ष नई चुनौतियाँ खडी कर दी है तथा विधि को जनता की सेवा के नये अवसर प्रदान किये है।

अमेरिका की भाँति भारत में लोकहित मामलों का प्रयोग निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए किया जाता है:–

1. प्रशासकीय निकायों के विरूद्ध जनहितों के संरक्षण हेतु
2. विभिन्न वर्गो के बहुविध हितों को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिए
3. नागरिकों को शासकीय नीति निर्धारण में अप्रत्यक्ष रूप से साझेदारी का अवसर देने के लिए।

लोकहित विधि की परिभाषा :

विधिवेत्ताओं ने लोकहित विधि की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। अमेरिका के फोर्ड फाउंडेशन द्वारा स्थापित लोकहित विधि परिषद् ने अपने प्रतिवेदन में लोकहित विधि को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''वर्तमान में विधि की प्रक्रिया में अप्रतिनिधित या अपर्याप्त रूप से प्रतिनिधित समूहों को वैधानिक प्रतिनिधित्व दिये

जाने के प्रयासों को लोकहित विधि कहा जाता है। उचित सहायता के अभाव में इन लोगों के महत्वपूर्ण हितों की उपेक्षा होती रही है। इनमें केवल निर्धन और असहाय लोगों का समावेश ही नहीं वरन् ऐसे नागरिक भी समाविष्ट है जो किन्हीं अन्य कारणों से न्यायालयों या अन्य विधि मंच तक नहीं पहुंच पाते है, जहाँ उनके हितों से संबंधित लोकहित के निर्णय लिए जाते है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार लोकहित विधि के अन्तर्गत मुख्यतः दो बातों का समावेश है – (1) ऐसे प्रकरण जिनमे हित रखने वाले व्यक्तियों को तुरंत विधिक सेवा उपलब्ध कराना आवश्यक हो तथा (2) ऐसे नीति–मूलक मुद्दे, जिनका प्रभाव असंख्य लोगों पर पड़ता हो या जो किसी महत्वपूर्ण विधिक–सुधार से संबंधित हों।

अमेरिका मे लोकहित विधि का विकासः–

आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में अधिकारों और लाभों में निरंतर वृद्धि होने के साथ–साथ शासकीय अभिकरणों तथा प्राधिकारियों के निर्णय असंख्य लोगों के जीवन को प्रभावित करते हैं, जिनमें अनेक अशिक्षित, असहाय, गरीब और असंगठित वर्ग के होते है। इन लोगों को न्यायालय की बजाय संबंधित अभिकरणों या प्राधिकारियों तक पहुंचाना अधिक महत्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि इन्हें न्याय उपलब्ध कराने के लिए परंपरागत विधि तथा विधिक प्रक्रिया के स्थान पर परिवर्तित नई प्रणाली लागू करने की आवश्यकता अनुभव की गई। अतः विधि व्यवसायियों में एक नई जिम्मेदारी और चेतना जागृत हुई, जो पारंपरिक वकालत से हटकर नागरिकों के अधिकारों को प्रवर्तित करने हेतु प्रयोग में लाई गई। इस दिशा में अमेरिकन विधि व्यवसायियों के अलावा 'सिविल लिबर्टिज यूनियन' ने उल्लेखनीय योगदान दिया है।[13] इस संस्थान ने अमेरीकी नीग्रों के प्रति काले–गोरे के भेदभाव मिटाने मे महत्वपूर्ण कार्य किया। इसी प्रकार प्रदूषण संबंधी मामलों में भी लोकहित वादों के माध्यम से नागरिकों को पर्याप्त संरक्षण मिला।[14] इन वादों में न्यायालयों ने सुनवाई के अधिकार के इस नियम से, कि केवल पीड़ित व्यक्ति ही मुकदमा दायर

करने का अधिकार रखता है, हटकर दूरस्थ कारण के लिए भी वाद स्वीकार करना जनहित में उचित एवं आवश्यक समझा।

यद्यपि अमेरिका में गत पच्चीस वर्षों में लोकहित विधि पूर्णतः स्थापित हो चुकी है तथा इसे पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी है। फिर भी इसका भविष्य अधिक उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि जब तक इस हेतु आवश्यक वित्तीय सहायता, न्यायलयी प्रक्रिया में संशोधन तथा शासकीय नीति में परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक व्यवस्था पूरी तरह सफल नहीं हो सकती है।

इंग्लैड में लोकहित विधि का विकासः-

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, इस संबंध में इंग्लैड मे स्थिति पूर्णतः भिन्न थी। जहाँ अटार्नी जनरल को ही संबोधन–कार्यवाही का संरक्षक माना जाता है। इस कार्यवाही के अधीन यदि कोई सामान्य नागरिक किसी ऐसे लोकहित संबंधो वाद में जिसमें उसका भी हित निहित हों, निर्णय प्राप्त करना चाहता था, तो वह न्यायालय में सीधे याचिका दायर नहीं कर सकता था, बल्कि उसे इस हेतु महाअधिवक्ता की अनुमति लेना आवश्यक था। महान्यायवादी द्वारा इसकी अनुज्ञा न दिये जाने की दशा में उसे अन्य कोई विकल्प उपलब्ध नहीं था। अतः संबोधन कार्यवाही एक ऐसा लोकहित वाद होता था, जो किसी व्यक्ति विशेष या संघ द्वारा लाया जाने पर न्यायालय उसे स्वीकार नहीं करता, परन्तु यदि उसे महान्यायवादी की अनुज्ञा से लाया जाता है, तो न्यायालय उस पर सुनवाई कर सकता था।

वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सार्वजनिक हित से संबंधित मामलों में न्यायालयों द्वारा कठोर रूख अपनाया जाता रहा तथा अभ्यावेदक का निजी अधिकार या हित प्रभावित हुए बिना उसे अभ्यावेदन प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं था। सम्भवतः न्यायालयों में अनावश्यक मुकदमेबाजी पर अंकुश लगाने की दृष्टि से ही उस समय न्यायाधिकार (लोकस स्टेंडी) के नियम को सख्ती से लागू किया जाता रहा है। परंतु गत दो दशकों को बदलते हुए सामाजिक और आर्थिक परिवेश में इस स्थिति में काफी बदलाव आया है। आज अधिकांश मामलों में साधारण व्यक्ति भी न्यायालय में रिट याचिका संस्थित कर सकता है। चाहे भले ही उस प्रकरण से

उसका सीधा संबंध न हो, अर्थात् मुकदमें में पर्याप्त हित होने से वह वाद संस्थित करने का अधिकारी हो जाता है। उल्लेखनीय है कि इंग्लैड की न्याय व्यवस्था में लोकहित वाद को उचित स्थान देने का श्रेय लार्ड डेनिंग को है, जिन्होंने न्यायाधिकार के नियम को उदार बनाते हुए जनसेवी व्यक्तियों या संगठनों को नागरिक कार्यवाही द्वारा पिटीशन फाइल करने की छूट दी।

लार्ड डिप्लॉक ने हाऊस ऑफ लार्डस द्वारा दिये गए मामले में जनहित वाद पर टिप्पणी करते हुए अवलोकन किया कि ''यह एक महान संवैधानिक सिद्धांत है जिसके अन्तर्गत यदि कोई सरकारी विभाग या लोक निगम विधि की अवहेलना या उल्लंघन करते हुए असंख्य नागरिकों का प्रताड़ित करता है या उनके हितों की अनदेखी करता है, तो कोई भी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति मिलकर न्यायालय का ध्यान इस अन्याय की और आकर्षित कराने तथा विधि का उचित प्रवर्तन कराने के लिए जनहित की पिटीशन फाइल कर सकता है तथा न्यायालय अपने विवेकानुसार उसे उचित अनुतोष दिला सकता है।''[15]

उक्त प्रकरण के पूर्व भी इंग्लैंड के न्यायालयों ने लोकहित में प्रस्तुत की गई पिटीशनों को स्वीकार करते हुए ऐसे व्यक्तियों को याचिका सुनवाई की थी, जिनका मामलें से प्रत्यक्ष संबंध न होते हुए भी सार्वजनिक के हित के आधार पर उनके वाद लाने के अधिकार की अभिस्वीकृति हुई थी। इस कथन की पुष्टि से विख्यात '**ब्लेकबर्न बनाम अटार्नी के प्रकरण**' को उद्धृत किया जाना उचित होगा।[16] इस मामले में इंग्लैड द्वारा यूरोपीय साझेदारी की सदस्यता ग्रहण करने के निर्णय को न्यायालय में चुनौती देते हुए ब्लेकबर्न ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि रोम की संधि पर हस्ताक्षर करके सरकार ने ब्रिटिश साम्राज्ञी की सार्वभौमिकता को अंशतः पार्लियामेंट को समर्पित करने की चेष्टा की है, जिसका अधिकार उसे नहीं है। न्यायालय ने प्रकरण को स्वीकार करते हुए सरकार की यह दलील अमान्य कर दी कि इसमें अभ्यावेदक का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हित न होने के कारण मामला संस्थित होने योग्य नहीं था।

एक अन्य मामलें में ब्लेकबर्न ने निजी तौर पर लंदन के एक ताश क्लब के बारे में जानकारी प्राप्त कर यह पाया कि वह क्लब खुलेआम कानून का उल्लंघन कर रहा था। अतः उसने मेट्रोपोलिटन पुलिस कमिश्नर के विरूद्ध निष्क्रियता का वाद संस्थित करते हुए न्यायालय से परमादेश को याचिका द्वारा निवेदन किया कि वह पुलिस को अपना कर्तव्य उचित रूप से निभाने के लिए बाध्य करे। पुलिस की ओर से यह दलील दी गई है कि उक्त प्रकरण में ब्लेकबर्न का कोई निजी या प्रत्यक्ष हित न होने के कारण सुनवाई के अधिकार के अनुसार उसे इस संबंध में याचिका दायर करने का अधिकार नहीं था।[17] परंतु न्यायालय ने पुलिस की इस दलील को अस्वीकार करते हुए लोकहित में इस मामले की सुनवाई की। इसी प्रकार अश्लील साहित्य के प्रकाशन के विरूद्ध तथा जन भावना विरोधी फिल्म के प्रदर्शन पर रोक लगाने के हेतु भी ब्लेक बर्न ने न्यायालय में याचिका दायर करके जनहित मामले में सफलता प्राप्त की।[18]

ज्ञातव्य है कि यह प्रश्न कि प्रकरण में अर्जीदार का पर्याप्त हित है या नहीं, न्यायालयी विवेक का प्रश्न हैं। इस विषय में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये लार्ड डेंनिग ने यह स्वीकार किया है कि जब भी कोई सामान्य नागरिक न्यायालय के समक्ष इस शिकायत के साथ आता है कि अमुक सरकारी विभाग, स्थानीय निकाय या श्रम संगठन ने अपने प्राधिकार का दुरूपयोग किया है, तो न्यायालय द्वारा उसके प्रकरण पर सुनवाई करके निर्णय दिया जाना चाहिये क्योंकि वस्तुतः वह नागरिक जनहित के प्रति एक सजग या चौकस व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति की याचिका जनसाधारण के वैधानिक अधिकारों से संबंधित होने के कारण इसके प्रकरण में उसका व्यक्तिगत हित होना आवश्यक नही माना जाना चाहिए।

भारत में जनहित मामलों का विकास –

भारत में जनहित मामलों का प्रादुर्भाव अमेरिका से पूर्णतः भिन्न परिस्थितियों में हुआ है। सामाजिक हित में विशेष रूचि रखने वाले उच्चतम न्यायालय के कुछ न्यायधीशों ने इस दिशा मे अग्रणीय भूमिका निभाते हुए दलित, शोषित तथा पीड़ित व्यक्तियों को उनके मानव अधिकार दिलाने की पहल की। इस क्षेत्र में उच्चतम

न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश माननीय भगवती तथा कृष्णा अय्यर के नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होने अपने सृजनात्मक बहुमूल्य निर्णयों द्वारा गरीबों तथा समाज के उपेक्षित वर्गों के प्रति सहानुभूति दर्शाते हुये उन्हें उनके हित अथवा अधिकार दिलाने की भरसक चेष्टा की। यहाँ तक कि उन्होंने वर्तमान पारंपरिक न्याय व्यवस्था को उपनिवेशीय स्मरण चिन्ह् निरूपित करते हुये इसे वर्तमान परिवर्तित परिवेश में अनुपयुक्त माना है। अपने अद्वितीय निर्णयों के माध्यम से इन विद्धान न्यायाधीशों ने विधि के प्रवर्तन से संबंधित सरकारी विभागों या सार्वजनिक निकायों की दलितों के प्रति लापरवाही तथा कर्तव्यहीनता का भंडाफोड़ किया तथा उपेक्षितों को उनके विधिक अधिकार दिलाने मे गहरी रूचि दर्शाई है।

जनहित मामले की संकल्पना का उद्भव न्यायिक जागरूकता का ही दूसरा रूप है, जो वर्तमान पारंपरिक न्याय प्रणाली को सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की दिशा में एक सही कदम है। आज न्याय क्षेत्र में लोकहित कार्यवाही ने एक आंदोलन क रूप धारण कर लिया है, जिसका उद्देश्य गरीबों को विधिक सहायता उपलब्ध कराना तथा समाज के अनपढ़ अशिक्षित और निर्धन वर्ग के लोगों को उनके मानवीय हित दिलाना है, जो आज तक उपेक्षित तथा अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित रहे है। इस प्रकार लोकहित मामलों के द्वारा गरीबों और उपेक्षित वर्ग के वैधानिक अधिकार उसी प्रकार सुरक्षित है, जैसे कि अमीर और साधन–सम्पन्न वर्ग के लोगों के है।

गत दस वर्षों की अवधि में भारत मे जनहित मामलों का विकास निम्नलिखित चरणों में हुआ है –

1. श्रवणाधिकार के सिद्धान्त के क्रमिक विकास द्वारा,
2. साधारण पत्र को याचिका के समान मानने की न्यायालयी अधिकारिता के प्रादुर्भाव द्वारा,
3. न्यायिक उपचारों को अधिक लोकतांत्रिक बनाकर
4. सामाजिक न्याय की परिमार्जित संवैधानिक धारणा के माध्यम से।

जन साधारण को न्याय दिलाने मे सबसे बडी बाधा यह थी कि याचिका ग्राह्य होने के लिये उसमें अर्जीदार का समुचित हित होना परम आवश्यक था जिसे 'लोकस स्टेंडी का सिद्धान्त्त' कहा गया है। दूसरे शब्दों में, केवल वहीं व्यक्ति प्रशासी निकास के किसी कार्य को चुनौती दे सकता था, जो उससे वास्तविक रूप से पीड़ित था। चूंकि राज्य को जनहित का एक मात्र संरक्षक माना जाता था अतः कोई निजी व्यक्ति जन साधारण की ओर से राज्य या शासन के विरूद्ध मामला नहीं ला सकता था, जब तक कि वह स्वयं उससे व्यथित न हुआ हो। अतः व्यक्ति–विशेष का राज्य शासन के कार्यों या सत्ता के दुरूपयोग या लापरवाही के विरूद्ध न्यायालय में वाद संस्थित करके उस पर नियंत्रण रखने का अधिकार नहीं था। सारांश यह कि सुनवाई के अधिकार के सिद्धान्त के अनुसार सरकारी या सार्वजनिक निगमों के कृत्य, अकृत्य या अपकृत्य के विरूद्ध वाद प्रस्तुत करने का अधिकारी केवल वहीं व्यक्ति था, जो उससे वास्तविक रूप से पीड़ित था और अन्य किसी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त नही था। उदाहरण के लिये–किसी मोहल्ले के निवासी को सरकारी प्राधिकारी द्वारा उस मोहल्ले मे सिनेमा घर के लिये लाइसेंस स्वीकृत करने के आदेश के विरूद्ध न्यायालय में चुनौती देने का अधिकार नहीं था।[19] इसी प्रकार किसी पड़ौसी को उसके बगल के परिसर में हो रहे अवैध निर्माण कार्य के विरूद्ध न्यायालय में वाद लाने का अधिकार नहीं था, जब तक कि इस कार्य से उसके किसी सुखाधिकार में बाधा उत्पन्न न हुई हो या वह अतिक्रमण का मामला न हो।[20] राजनीतिक पार्टी के किसी सदस्य को नदी में बाढ़ होने के कारणों की जाँच पडताल न कराने के लिये सरकार से जाँच आयोग नियुक्त करवाने के लिये न्यायालयों से परमादेश की याचिका दायर करने का अधिकार नहीं था।[21]

वर्तमान में बदलते हुये सामाजिक परिवेश के कारण न्यायालयों में 'सुनवाई के अधिकार' के प्रति संकुचित नीति को त्याग कर उदारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुये किसी व्यक्ति के अवैध बंदीकरण के विरूद्ध उसके रिश्तेदार निकट संबंधी या मित्र के बंदी–प्रत्यक्षीकरण की याचिका प्रस्तुत करने के अधिकार को स्वीकार किया परंतु बिल्कुल अजनबी व्यक्ति इस प्रकार की याचिका दायर नहीं कर सकता था। इसी प्रकार किस अप्रदूषक के अपशमन के लिये कोई दो व्यक्ति मिलकर जो उससे

प्रभावित हो सकते है, या महाधिवक्ता न्यायालय से व्यादेश की याचना कर सकते है।

न्यायिक समीक्षा की शक्ति के अलावा न्यायिक प्रक्रिया मे एक अन्य प्रवृत्ति न्यायपालिका की सक्रियता है। सामाजिक न्याय को असली जामा पहनाने के लिए व शासन को अधिक जवाबदेह बनाने में इसने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती के अनुसार ''यह संविधानवाद की प्रक्रिया का ही विकास है। यह न्यायपालिका को परंपरागत दबावों एवं कार्यपालिका की अड़चनों से मुक्त करता है और भारतीय संविधान में निहित सामाजिक मूल्यों और कल्याणकारी राज्य के स्वप्नो को पूरा करने का प्रयास करता है।

न्यायिक सक्रियता :-

न्यायिक समीक्षा की शक्ति के अलावा न्यायिक प्रक्रिया में एक अन्य प्रवृत्ति न्यायपालिका की सक्रियता है। सामाजिक न्याय का असली जामा पहनाने के लिए व शासन को अधिक जवाबदेह बनाने में इसने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। **न्यायपूर्ति पी.एन. भगवती के अनुसार** ''यह संविधानवाद की प्रक्रिया का ही विकास है। यह न्यायपालिका को परम्परागत बढावा एवं कार्यपालिका की अड़चनो से मुक्त करता है और भारतीय संविधान में विहित सामाजिक मूल्यों और कल्याणकारी राज्य के स्वप्नों को पूरा करने का प्रयास करता है।

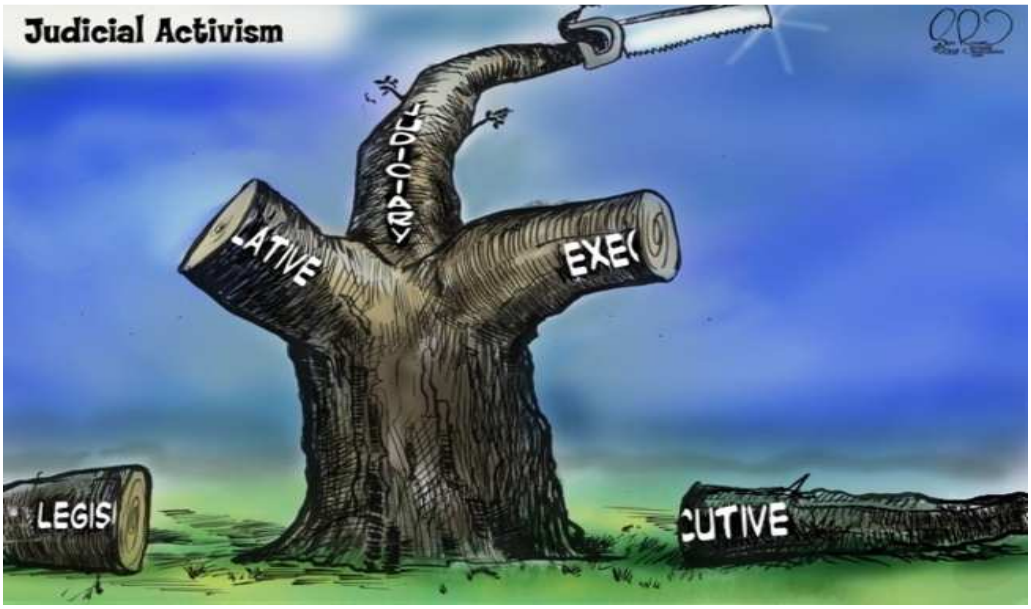

न्यायिक सक्रियतावाद कोई नई प्रणाली नहीं है, बल्कि न्यायपालिका की न्यायिक सक्रियतावाद की प्रक्रिया का विस्तार आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की वर्तमान गतिविधि से जुड़ा हुआ है। दूसरे स्तर पर परंपरागत अवधारणा के रूप में न्यायपालिका भी केवल एक रेफरी की भूमिका होती है। न्यायिक सक्रियता में न्यायपालिका को प्रशासन के विभिन्न अंगो के कार्यक्रमों या निष्क्रियता के पुनरावलोकन की शक्ति भी निहित है। वैसे भारत के संविधान में कहीं भी विशिष्ट सक्रियता अथवा जनहित का जिक्र या विशिष्ट उल्लेख तक नहीं है। इस पर भी भारत के उच्चतम न्यायालय ने मुकदमों की इस श्रेणी को शुरू किया है। पीड़ित व्यक्ति या समूह द्वारा अथवा उनकी तरफ से स्वयंसेवी द्वारा न्यायालय को भेजें प्रशासन के विरूद्ध भेजे गये प्रार्थना पत्र को जब न्यायालय रिट याचिका के रूप में स्वीकार कर लेता है तो उसे जनहित याचिका का रूप प्राप्त हो जाता है। इस तरह सुनवाई के लिए मामले अपने सामने लाना और सुनवाई करते समय तमाम कानूनी औपचारिकताओं को दरकिनार करना और मूल मुद्दे पर पहुँचना ''न्यायिक सक्रियता'' कहलाता है। इस श्रेणी के तहत न्यायालय अपनी मंथर गति को त्यागकर स्वयं आगे आकर निर्भिकता से फैसला देता है। मुख्य न्यायधीश पी.एन. भगवती के काल में पोस्टकार्ड पर की गई प्रार्थना को भी जनहित याचिका के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। इसलिए इसे 'पोस्टकार्ड याचिका' भी कहा जाता रहा है।

जनहित याचिकाओं का मुख्य उद्देश्य पीड़ित व्यक्ति या व्यक्ति समूह को राहत दिलवाना है। इसमें शासन से किसी अपेक्षित मामलें में कार्यवाही करने, क्षतिपूर्ति करने, पर्यावरण सुधार के प्रति ध्यान दिलाना प्रमुख है।

जनहित याचिका :-

जनहित याचिका को न्यायाधीश पी.एन. भगवती तथा वी.के. कृष्ण अय्यर द्वारा 1970 के दशक में शुरू किया गया था। इसे अन्य न्यायाधीशों यथा जे.एस.वर्मा वेंकटचैलय्या, कुलदीप सिंह आदि ने आगे बढ़ाया तथा जनता की अनेक समस्याओं के समाधान का प्रयास किया गया ।

जनहित याचिका द्वारा न्यायिक प्रक्रिया को सरल बनाने का प्रयास किया गया है। पहले की स्थिति में न्यायपालिका द्वारा दलित, निर्धन, पिछड़े व अनाथ लोगों को शीघ्र न्याय दिलाने के उद्देश्य से तभी कोई प्रक्रिया आरंभ की जा सकती थी, जब वादी एवं प्रतिवादी पक्ष न्यायालय में उपस्थित होकर न्याय की माँग करते थे। जनहित याचिका में जीवन की मौलिक आवश्यकताओं, शोषण, पर्यावरण, बालश्रम, स्त्रियों का शोषण आदि मुद्दों पर न्यायालय को किसी भी व्यक्ति या संस्था द्वारा मात्र सूचित करने पर न्यायालय स्वयं उसकी जाँच कराकर या वस्तुस्थिति को देखकर जनहित में निर्णय देता है। इसी प्रकार के वाद को जनहित वाद या लोकहित वाद कहते हैं।

व्यक्तिगत हित विवाद और जनहित विवाद में अंतर:-

पारंपरिक न्याय व्यवस्था में विवादों के पक्ष दो व्यक्ति या राज्य या कोई अन्य संस्था हो सकते थे, जबकि जनहित विवाद उनसे बिल्कुल भिन्न है। दोनों में मुख्य अंतर इस प्रकार है–

- व्यक्तिगत मुकदमों में वादी कोई व्यक्ति होता है जो किसी अन्य व्यक्ति, संस्था अथवा राज्य द्वारा अपने वैधानिक अधिकारों के अतिक्रमण के कारण हुई क्षति के लिए न्यायालय से राहत की माँग करता है। जनहित विवादों में सामान्यतया किसी व्यक्तिगत मामले को नहीं उठाया जाता है। इसके माध्यम से जो मामला उठाया जाता। इसके माध्यम से जो मामला उठाया जाता है वह किसी एक व्यक्ति से संबंधित न होकर व्यक्तियों के किसी वर्ग या समूह के सामान्य रिट से संबधित होता है।
- जनहित विवादों में जो राहत माँगी जाती है या न्यायालय से मिलती है वह किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं, वरन् सम्पूर्ण जनता अथवा उसके किसी एक भाग या वर्ग के याचिका का रूप धारण कर लेता है और न्यायालय उसी के आधार पर अपेक्षित राहत प्रदान करता है।
- व्यक्तिगत विवादों में वादी और प्रतिवादी अपने पक्ष में आवश्यक प्रमाण इकट्टा करते है और साक्ष्य प्रस्तुत करते है। अपने दावे की पुष्टि में आवश्यक प्रमाण

देने का भार वादी पर होता है। जनहित विवादों में किसी अन्याय की घटना का न्यायालय के संज्ञान में आना पर्याप्त है। कुछ मामलों में तो न्यायालय ने तथ्यों को एकत्र करने आपदा मामले की जाँच करने हेतु अपने स्तर से आयोग या जाँच समिति नियुक्त करके सत्य तक पहुँचने का प्रयास किया है।

- व्यक्तिगत–हित विवादों में एक पक्ष हारता है और दूसरा पक्ष जीतता है। जनहित विवादों का निराकरण हार–जीत के आधार पर नहीं होता। इसका उद्देश्य तो उन बाधाओं को दूर करना है जिनके कारण कोई समूह विशेष अपने विधिक अधिकारों से वंचित किया जा रहा है या जिससे उसकी क्षति पहुंच रही है। जनहित विवादों में न्यायालय निषेधात्मक कार्यवाही ही नहीं करता वरन् सकारात्मक भूमिका अदा करता है। जनहित के लिए यह एक प्रकार का सामूहिक प्रयास है, जिसमें न्यायपालिका, कार्यपालिका, प्रशासकीय अधिकारी सभी सम्मिलित रहते हैं।

न्यायिक सक्रियता का अर्थः-

न्यायिक सक्रियता का अर्थ न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका के कार्यों को ग्रहण करना है। इसी को न्यायपालिका द्वारा शासन की संज्ञा दी गई है। न्यायिक सक्रियता उस संवैधानिक व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का एक प्रयास है, जिसे कार्यपालिका ने तोड़मोड़ दिया है। न्यायपालिका ने अधिकारिता के नियम को शिथिल करके यह सिद्धान्त विकसित किया है कि किसी व्यक्ति या समूह के साथ हो रहे अन्याय की जानकारी कोई अन्य व्यक्ति, सामाजिक संगठन अथवा पत्र या समाचार के द्वारा भी न्यायालय को दी जा सकती है और इस प्रकार प्राप्त सूचना को न्यायालय एक याचिका की तरह स्वीकार करते हुए उस पर कार्यवाही करेगा।

न्यायपालिका द्वारा कार्यकारिणी शक्तियों का हस्तगन स्वेच्छाचारी ढंग से नहीं किया गया है। न्यायिक सक्रियता का आधार संवैधानिक है। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की विस्तृत व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि संविधान के विभिन्न भाग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। न्यायपालिका ने विभिन्न अनुच्छेदों के मध्य सह–सम्बन्ध स्थापित करके न्यायपालिका को कार्यकारिणी के क्षेत्राधिकार में प्रवेश

देने का अवसर प्रदान किया है। एक विद्वान के मुताबिक न्यायिक सक्रियता का आधार मुख्य रूप से **पांच अनुच्छेद** हैं। ये **अनुच्छेद हैं 14,19,21,32 तथा 391** न्यायपालिका ने इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है कि कार्यकारिणी उपर्युक्त अनुच्छेदों द्वारा निश्चित किए गए अधिकारों और सिद्धान्तों को कार्यान्वित नही करेगी तो संविधान का संरक्षक होने के नाते यह न्यायपालिका का अधिकार और संवैधानिक दायित्व है कि वह कार्यकारिणी को आवश्यक आदेश और निर्देश दे। वस्तुतः पिछले दशक में सर्वोच्च न्यायालय ने समय की माँग को पहचानना तथा भारतीय जनता की आवश्यकता को समझा है। उसने यह मान लिया है कि न्याय का स्वरूप केवल कानून न होकर सामाजिक एवं आर्थिक भी है। उसने यह स्वीकार कर लिया है कि न्याय व्यवस्था को आम जनता की जीवन दशा को सुधारने तथा उसे मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने के लिए सक्रिय भागीदार बन जाना चाहिए। इस सक्रिय या क्रियाप्रधान दृष्टिकोण को अपनाने के कारण भारतीय न्याय व्यवस्था का स्वरूप बदलता जा रहा है और अब वह निषेधात्मक के स्थान पर विधेयात्मक अथवा रचनात्मक बन गई है। सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक क्षेत्रों में अभूतपूर्व कार्य किया हैः–

- सर्वप्रथम इसने जनहितकारी विवादों को मान्यता दी है।
- इसके अन्तर्गत धारा 21 की नवीन व्याख्या की गई है, आम आदमी के जीवन और सुरक्षा को वास्तविक बनाने का प्रयास किया गया है।
- इसके अन्तर्गत सुप्रीम कोर्ट ने नागरिकों की प्रतिष्ठा की सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया है। सर्वोच्च न्यायालय ने प्रत्येक व्यक्ति की इस अधिकारिता को स्वीकार किया है कि वह निर्धन, असमर्थ अथवा सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से पिछड़े व्यक्ति, समूह या वर्ग के लिए न्यायालय के समक्ष वाद प्रस्तुत कर सकता है। वह वाद राज्य सरकार, सरकारी अधिकारी या प्राधिकरण के विरूद्ध लाया जा सकता है।
- सुप्रीम कोर्ट ने पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि कार्यपालिका के स्वविवेक पर नियंत्रण किया जाना चाहिए।

- सर्वोच्च न्यायालय की यह मान्यता है कि यद्यपि न्यायालय या न्यायाधीश का काम कानून बनाना या निर्माण करना नहीं है, लेकिन वह कानून की रूपरेखाओं में रंग अवश्य भरता है। इस तरह वह कानून के निर्माण में भी भाग ले रहा है।

न्यायिक सक्रियता का दौर:-

ऐसी चार स्थितियाँ समझ में आती हैं, जिनमें न्यायालय अपने निर्दिष्ट विशेष क्षेत्र का अतिक्रमण कर अन्य क्षेत्रों में कार्यपालिका का अथवा विधायिका के क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने लगते हैं।

- पहली स्थिति तब आती है जब सरकार या संसद अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में असमर्थ और अक्षम सिद्ध हो तथा नागरिकों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा के लिए तथा विधि एवं संविधान के संरक्षण के लिए न्यायालय से याचना की जाए।
- दूसरी स्थिति का जन्म तब होता है, जब सरकार इतनी अस्थिर और कमजोर हो कि कोई भी कठिनाई उपस्थित होने पर अथवा वर्ग विशेष को नाराज करने वाला कोई कठोर निर्णय न ले सकती है।
- तीसरी स्थिति वह है जिसमें सरकार स्वयं सक्षम होते हुए भी न्यायालय के माध्यम का उपयोग या दुरूपयोग करना चाहे।
- चौथी स्थिति वह है, जब न्यायालय स्वयं मानवीय अथवा संस्थागत नैसर्गिक दुर्बलताओं के अधीन अपने अधिकार का विस्तार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में करना चाहते हो।

भारत में न्यायिक सक्रियता का सूत्रपात-

भारत में न्यायिक सक्रियता का सूत्रपात्र करने का वास्तविक श्रेय मुख्यतः उच्चतम न्यायालय को है, जिसने न्याय प्रक्रिया की जटिलताओं की शिथिल करते हुये न्यायालयी प्रक्रिया को सरल बनाने का भरसक प्रयास किया ताकि जन साधारण को व्यापक रूप से न्याय मिल सके। इसके लिये नई नीति, नये साधन

तथा नये अनुतोष का सृजन किया गया ताकि सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। लोकहित वाद के माध्यम से विद्वान न्यायाधीशों ने मानव अधिकारों सम्बन्धी विधिशास्त्र को अधिक व्यवहारिक तथा सृजनात्मक बनाने का प्रयास किया।[22]

मामला दायर करने हेतु 'सुनवाई के अधिकार' के नियम को अधिक उदारता से लागू किये जाने पर बल देते हुये उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्णा अय्यर ने दाभोलकर के मामलें में अभिनिर्धारित किया कि किसी जनहितैषी व्यक्ति को यह अवसर अवश्य मिलना चाहिये कि वह उपेक्षित, वंचित अथवा बेदखल हुये गरीब व्यक्ति की ओर न्यायालय में याचिका दायर कर अनुतोष तथा न्याय की माँग कर सके। चाहें भले ही उस व्यक्ति का प्रकरण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निजी हित न हों। इस प्रकरण में महाराष्ट्र की बार काउंसिल को व्यक्ति मानते हुये बार काउंसिल ऑफ इंडिया की अनुशासन समिति के निर्णय के विरूद्ध बार काउंसिल ऑफ इंडिया में अपील का अवसर दिया जाना उचित माना गया क्योंकि यह जनहित मे विधि–व्यवसायों के व्यवसायिक आचरण और नैतिकता बनाये रखने की दृष्टि से परम आवश्यक था।[23]

तत्पश्चात् सन् 1978 में, मेनका गाँधी के प्रकरण में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 21 के सन्दर्भ में पद 'विधि द्वारा स्थापित' का व्यापक अर्थान्वयन करते हुए अभिनिर्धारण किया कि इसमें सारभूत तथा प्रक्रियात्मक, दोनों ही प्रकार की विधि की सम्यक प्रक्रिया अभिप्रेरित है।

सन् 1979 में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत '**हुसैन आरा खातून बनाम बिहार राज्य**' के वाद ने लोकहित मामलें के क्षेत्र को अधिक विस्तृत कर दिया। इस प्रकरण मे समाचार पत्र में प्रकाशित समाचार के आधार पर एक अधिवक्ता द्वारा बिहार जले में विचारणाधीन कैदियों की दुर्दशा की ओर ध्यान आकर्षित करने हेतु उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर किये जाने पर उसे जनहित के आधार पर ग्राह्य माना गया। परिणामतः लोकहित सम्बन्धी प्रकरणों मे न्यायाधिकार के प्रक्रियात्मक अवरोध को तिलांजलि दे दी गई। ताकि साधहीन गरीबों को सुलभता

से न्याय प्राप्त हो सकें और बिहार की विभिन्न जेलों में वर्षों से बिना विचारण के परिरूद्ध सैकडों कैदियों की रिहाई संभव हुई। यहाँ तक कि गुजरात उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति एम.के. कक्कड़ ने एक विधवा श्रीमती कारूवानी द्वारा लिखे गये पत्र, जिसमें उसने अपनी पारिवारिक पेंशन मिलने में विलम्ब के लिये भविष्य निधि अधिकारियों की लापरवाही और अकर्मण्यता की शिकायत की थी, याचिका के रूप में स्वीकार करते हुये उस पर सुनवाई की और उस महिला को न्याय दिलाया। उस महिला को इसके पूर्व यह कल्पना भी नहीं रही होगी की उच्च न्यायालय को एक सामान्य चिट्ठी लिखने मात्र से ही उसे वर्षों से लंबित पड़ी हुई उसकी पेंशन और भविष्य निधि की राशि तत्काल प्राप्त हो जाएगी।[24]

जनहित मामलें की प्रगति में दूसरा अध्याय तब जुड़ा, जब उच्चतम न्यायालय ने लोक संस्थाओं, निकायो, नगर निगमों आदि द्वारा सार्वजनिक हितों के नुकसान या बाधा पहुंचाये जाने के विरूद्ध याचिका स्वीकार करते हुये जनता को राहत दिलाने की पहल की। परिणामतः उच्चतम न्यायालय ने नगर पालिका परिषद के इस तर्क को अमान्य करते हुये कि वित्त के अभाव में वह अपने क्षेत्र में नागरिकों को आवश्यक जन–सुविधाएँ उपलब्ध कराने में असमर्थ है, उसे नागरिक सुविधा उपलब्ध कराने का निर्देश दिया गया। निवेदित है कि इस मामले में अभ्यर्थी द्वारा मूल आवेदन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 133 के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था और इसी प्रकरण में उच्च्तम न्यायालय में हुई अपील पर यह निर्णय दिया गया कि सामान्य जन नगरपालिका परिषद को गंदगी दूर करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 133 के अधीन आवेदन कर सकते हैं और न्यायालय इस प्रावधान के अन्तर्गत नगरपालिका परिषद् को सफाई रखने के निर्देश दे सकता है।[25]

सुने जाने के नियम का विस्तारः–

यह एक सामान्य नियम है कि केवल वहीं व्यक्ति न्यायालय को दस्तक दे सकता है, जिसके विधिक या संवैधानिक अधिकारों का हनन् व परिणामतः विधिक क्षति राज्य या किसी लोक प्राधिकारिता के कृत्य के कारण हुई है। जिस व्यक्ति को कोई हक नहीं है या जो दूसरों के कार्य में विघ्न डालना या हस्तक्षेप करना चाहते

है, ऐसे व्यक्ति को वाद दायर करने का अधिकार नहीं है। यह समान रूप से रिट क्षेत्राधिकारी तथा न्यायालय द्वारा जारी किये गये व्यादेश व घोषणात्मक आदेश के मामले में भी लागू होती है। विभिन्न रिटों के सन्दर्भ में 'सुने जाने का अधिकार' की आवश्यकता में अति सूक्ष्मता है। कोई भी अजनबी व्यक्ति उत्प्रेषण या प्रतिषेध रिट जारी करने की माँग कर सकता है यद्यपि यह विवेकाधिकारपूर्ण उपचार है, लेकिन जो व्यक्ति परमादेश रिट जारी करवाना चाहता है, उसे यह दिखाना पड़ेगा कि उसे विधिक अधिकार है तथा प्रत्यर्थी का दायित्व किसी काम को करने का है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण किसी रिश्तेदार द्वारा तथा अधिकार पृच्छा किसी अजनबी द्वारा दायर की जा सकती है। लोक कार्यालय का व्यवसाय एक लोकहित का विषय है, अतः पिटीशनर न्यायालय में सुने जाने का अधिकार की किसी आवश्यकता की पूर्ति किये बिना भी न्यायालय में जा सकता है। आधुनिक समय में राज्यों के उत्तरदायित्वों में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण न्यायालय का लोकहित में हस्तक्षेप करना निःसन्देह रूप में बढ़ा हैं। '**केरल राज्य बनाम टी.पी. रोशन**' के वाद[26] में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि न्यायालय रिट क्षेत्राधिकार को केवल कार्यपालिका के आदेशों को निरस्त करने तथा व्यर्थ घोषित करने तक ही प्रतिबन्धित नहीं करना चाहिये, वरन् न्यायालय को सामाजिक न्याय का एहसास कराने के लिए सकारात्मक कार्यवाही करनी चाहिये।[27]

ए.डी. स्मिथ के अनुसार – ''सभी विकासशील विधि की व्यवस्थाओं को लोकहित के दो सामंजस्यमय संघर्षों की समस्याओं को झेलना पड़ा है कि प्रत्येक नागरिक द्वारा विधि को लागू कराने में सक्रिय रूप से भागीदारी को उत्साहित करने की अभिलाषा या कामना करने वाली व्यवस्था तथा ऐसे व्यक्तियों को उत्साहित न करने वाली अभिलाषापूर्ण व्यवस्था, जिसमें बिना अधिकार के मामले में प्रवेश कर विघ्न या हस्तक्षेप करने वालों को न्यायालय के क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने दिया जाये, जिनका मामले से कोई सरोकार नहीं है।[28]

इंग्लैण्ड में लोकभावना से प्रेरित नागरिकों को परमाधिकार उपचारों की लोक दायित्वों के प्रवर्तित करने के लिए प्रयोग में लिया गया है। अतः जनता का कोई सदस्य जुआखोरी क्लबों के विरूद्ध विधि के प्रवर्तन के लिए पुलिस को मजबूर

करने हेतु परमादेश रिट जारी करा सकता है या अश्लील विषय के प्रकाशन व बिक्री के विरूद्ध विधि को प्रवर्तित कराने के लिए भी परमादेश रिट जारी करा सकता है।

दो तरह के व्यक्ति न्यायिक अनुतोष के लिए आते है – प्रथम ''विभिन्न कानूनों में वर्णित किए गए व्यथित व्यक्ति एवं **द्वितीय**, वे जो उच्च न्यायालय में अनुच्छेद 32 व 136 के अधीन आते है, वे जो सामान्य न्यायालय से व्यादेश या घोषणात्मक आदेश चाहते हैं, जैसे अपराध दण्ड प्रक्रिया 1973 की धारा 133 के तहत्। दोनों प्रकार की श्रेणी के आने वाले मामलों के लिए सामान्यतः यह अपेक्षा होती है कि व्यक्ति को यह दिखाना चाहिए कि उसे कुछ हानि या क्षतिकारित की गई है। आपेक्षित अधिकार के हनन् के मामले में, उसे इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध करना चाहिए कि उसे विधिक अधिकार है। यह विधायिका या प्रशासनिक कृत्य को इस आधार पर आक्रमण नहीं कर सकता कि किसी तृतीय पक्षकार के अधिकारों का अतिलंघन किया गया है।[29]

सुनवाई के अधिकार का विस्तार एवं न्यायिक सक्रियता :-

जनहित वाद के विवाद के निपटारे में विधिक दृष्टिकोण के साथ सामाजिक दृष्टिकोण मे देखा जाना आवश्यक है।इस हेतु उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश कृष्णा अय्यर ने एक लोकहित मामलें में सुनवाई के अधिकार के नियम को शिथिल किये जाने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुये उसका उदारतापूर्ण निर्वचन किये जाने पर बल दिया।[30]

उच्चतम न्यायालय ने एक जनहित याचिका में सुनवाई के अधिकार के बारे में पारंपरिक नियम बहुत ही निबन्धात्मक था तथा उसके अंतर्गत केवल उस व्यक्ति को ही न्यायिक अनुतोष प्राप्त हो सकता था, जिसे विधिक क्षति हुई हो या जिसके किसी विधिक अधिकार का हनन हुआ हों। न्यायिक अनुतोष का आधार प्रतिवादी द्वारा विधिक अधिकार के उल्लंघन के कारण दावेदार को हुई शारीरिक, सांपतिक या मानसिक क्षति थी। सारांश यह है कि केवल पीड़ित व्यक्ति को ही सुनवाई का

अवसर उपलब्ध था और यदि वाद की घटना का उस पर कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ता हो, तो उसे न्यायालय में वाद लाने का अधिकार प्राप्त नहीं था। अतः स्पष्ट है कि न्यायाधिकार के नियम के अनुसार किसी विशिष्ट क्षेत्र में सिनेमा लाइसेंस दिये जाने के विरूद्ध प्रशासनिक अधिकारों के विनिश्चय को चुनौती नहीं दी जा सकती थी[31] और न कोई राजनैतिक दल का सदस्य सरकार के विरूद्ध किसी क्षेत्र में बाढ़ के कारणों की जाँच के किये जाने हेतु आयोग की नियुक्ति के लिये न्यायालय से परमादेश की याचना ही कर सकता है।[32]

भारतीय समाज के बदलते हुये परिवेश में यह आवश्यक हो गया कि जनता के प्रत्येक सदस्य को किसी ऐसी जनक्षति के लिये, जिससे किन्हीं अनियत व्यक्तियों, वर्ग या समूह प्रभावित हुआ है न्यायालय में वाद लाने का अधिकार दिया जाना चाहिये, यदि उस वाद में उसका पर्याप्त हित हो और उद्देश्य सद्भावना पूर्ण हो। उल्लेखनीय है कि यह सिद्धांत सर्वप्रथम **न्यायाधीशों के स्थानान्तरण** के वाद में प्रतिपादित किया गया।[33] अतः यह प्रकरण न्यायाधिकार के शिथिलीकरण की दिशा में प्रथम वाद है। लोकहित वाद के संदर्भ में न्यायाधिकार के इस परिमार्जित स्वरूप को प्रतिनिधि पक्षकार कहा गया है। क्योंकि इसमें अर्जीदार को अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के प्रतिनिधि के रूप में उनकी ओर से वाद लाने का अधिकार दिया गया है। किसी वर्ग–विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाला अर्जीदार (याचिकादाता) या तो स्वयं ही उस वर्ग–विशेष का एक सदस्य हो सकता है या उनका सदस्य न होने पर भी उनके प्रतिनिधि की हैसियत से याचिका प्रस्तुत कर सकता है।

वर्तमान में **'सुने जाने के अधिकार'** को यहाँ तक कि शिथिल बना दिया है कि बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका में भी कोई तृतीय पक्ष यह सिद्ध कर देने पर कि पीड़ित व्यक्ति स्वयं अर्जीदार की हैसियत से न्यायालय में वाद दायर करने में असमर्थ है, प्रतिनिधि की हैसियत से अवैध निरोध के विरूद्ध न्यायालय में लोकहित वाद प्रस्तुत कर सकता है।[34] इस संदर्भ में सन् 1979 का **'हुसैन आरा खातुन बनाम बिहार राज्य'** लोकहित प्रकरण उल्लेखनीय है जिसमें श्रीमती कपिला हिंगोरानी नामक एक अधिवक्ता ने विचाराधीन कैदियों की ओर से जिलों में उनके अवैध

निरोध के विरूद्ध बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका उच्चतम न्यायालय में प्रेषित की थी। इसमें यह शिकायत की गयी थी कि इस जेल में विचारणाधीन कैदियों को लंबे समय तक बिना परीक्षण के बंद रखा गया था और इस मामले में अन्वेषण के दौरान यह तथ्य सामने आया कि ऐसे लगभग 80,000 कैदी भारत के विभिन्न कारागारों में रखे गये थे, जिनके प्रकरण वर्षों तक लंबित पड़े थे।[35]

परंतु निवेदन है कि सुने जाने के अधिकार की कुछ सीमाएँ भी है। इस संदर्भ में वैधानिक स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए उच्चतम न्यायालय ने **'मोहम्मद इब्राहिम बनाम मध्य प्रदेश राज्य'** प्रतिस्पर्धी को किसी दूसरे व्यक्ति को सिनेमा का लाइसेंस दिये जाने की वैधता के प्रश्न पर न्यायालय में सुने जाने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा[36] क्योंकि जो व्यक्ति इस संबंध में आपत्तियाँ आमंत्रित किये जाने पर आपत्ति नहीं उठाता, तो बाद में उसे इस बारे में शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं होगा। अतः न्यायालय ने अपील को अस्वीकार करते हुए निर्णय दिया कि इस संबंध में अपीलार्थी को सुनवाई का अधिकार प्राप्त नहीं था।[37]

जनहित वाद व निजीहित वाद में अन्तर–

प्राईवेट कार्यवाही मे मुकदमा दो पक्षकारों के बीच होता है, जिसमें दो पक्षकार भूतकालीन घटना के विधिक परिणाम से सम्बन्धित मामले में आमने सामने विवाद में फँस जाते हैं, जैसा कि लोक कार्यवाही में नहीं होता। इस तरह के मुकदमे का लक्षण आवश्यक रूप से प्राईवेट अधिकारों की रक्षा करना होता है तथा कार्यवाहियों उन्हीं व्यक्तियों द्वारा लायी जाती है। जिनमें अधिकार व्यक्तिगत रूप से अन्तर्निहित होता है या उनके विधिक रूप से गठित किए गए प्रतिनिधि के पास होता है जो कार्यवाही करने के लिए सक्षम होते है।

यद्यपि हमने अपने देश में 'सुने जाने के अधिकार' के कठोर नियम को, जो एक व्यक्ति को निजी कार्यवाही मे लागू होता है, उसे त्यागते हुये सुने जाने के विस्तृत व उदार नियम की मान्यता दी है। जो व्यक्ति सामाजिक व आर्थिक रूप से अलाभप्रद स्थिति में हैं, जो गरीबी व अज्ञानता के कारण पूर्ण रूप से अपने मौलिक

अधिकारों के बारे में अनभिज्ञ है व न्यायालय तक जाकर न्यायिक प्रतितोष पाने में असमर्थ है। उनके लिये जनता का कोई सदस्य, उनके संवैधानिक व विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिये यदि उसका कोई निजी लाभ या कुटिल आशय नही है तो ऐसे गरीब व असहाय व्यक्तियों के लिये न्यायालय में जा सकता है। न्यायालय ने कहा कि 'सुने जाने के अधिकार के नियम को परिभाषित करने के लिये कोई कठोर लिटमस टेस्ट प्रयोग में नहीं लाया जा सकता, क्योंकि लोकहित मुकदमा काफी विस्तृत अवधारणा है व अभी भी विकसित हो रही है इस नव विकसित विधि की अवधारणा से सम्बन्धित आज भी अनेक परिप्रेक्ष्यों में विभिन्न मत है।''

मुकदमे के एक पक्षकार के लिए सुने जाने का अधिकार की परम आवश्यकता है क्योंकि मुकदमें के किसी पक्षकार की विधिक हैसियत, चाहे वह प्राईवेट या लोक कार्यवाही से सम्बन्धित है, जिसमें विशिष्ट उपचार माँगा गया है, उसे स्पष्ट रूप से प्राथमिक अवस्था में ही सुनिश्चित करना पडता है।

प्रतिकूलता लिए हुए मुकदमा, जिसे व्यक्तिगत मुकदमा के प्रयोग में लाया जाता है, में दो जजों की बैंच में मतभिन्नता होने पर मामले को तीन जजों की बड़ी बैंच को भेज दिया जाता है, व बहुमत का निर्णय माना जाता है, तथा आगें आवश्यकता पडने पर संवैधानिक बैच को मामला भेजा जाता है, ताकि परेशानी को दूर किया जा सके, वहाँ पर भी बहुमत का निर्णय मान्य होता है।

जबकि लोकहित मुकदमा प्रतिकूलता प्रकृति का नहीं है, बल्कि यह एक सरकार के अंगो विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका के सहयोग सामंजस्य के लिये है तथा यह इस न्यायालय का दायित्व है कि सभी नागरिकों द्वारा उनके मौलिक अधिकारों का उपभोग हो, विशेष रूप से जो समाज के गरीब, वंचित वर्ग के लोग हैं, तथा यदि इनके अधिकारों का हनन होता है तो उन्हें उचित निर्देश देकर रोका जाता है। इनकी सहायता के लिये इस न्यायालय को अनुच्छेद 142 के तहत शक्तिशाली बनाया है कि वह ऐसे आदेश पारित कर सकती है जिसे वह किसी वाद हेतु या लम्बित मामला, जो इसके सामने विचारार्थ है, उसमें पूर्ण न्याय हेतु उचित

समझती है। इस तरह का आदेश जो पारित किया जायेगा वह भारत के समस्त क्षेत्र व सीमा में प्रवर्तित होगा।

निजीहित से जनहित तकः-

निजीहित मुकदमे में अन्तर्गत दो प्रतिकूल पक्षकारों के बीच अधिकार व दायित्वों का निर्धारण प्राईवेट विधि के अन्तर्गत किसी भूतकालीन घटना से सम्बन्धित होता था, जो 'कॉमनवैल्थ ऑफ नेशन्स' के सदस्य थे। कॉमन लॉ पद्धति के तहत केवल उसी पक्षकार को न्यायालय में जाने का अधिकार होता था, जिसके किसी विधिक अधिकार का हनन हुआ है। उसकी ओर से अन्य कोई व्यक्ति उसके हित को न्यायालय में वाद संस्थित कर प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता था। इंग्लैण्ड में अटॉर्नी जनरल लोकहित संरक्षक होता था। जब कभी भी लोकहित से सम्बन्धित मामला होता था, अटॉर्नी जनरल समाज के अन्य सदस्यों की ओर से कार्यवाही प्रारम्भ करते थे। किसी सार्वजनिक या इससे मिलती हुई पर्यावरण से हुई क्षति के लिए कोई व्यक्ति न्यायालय में जाने का हक नहीं रखता था। लेकिन भारत में जनता के किसी सदस्य से सम्बन्धी कार्यवाही उस तरह सम्भव नहीं थी, जिस प्रकार इंग्लैण्ड में, क्योंकि भारत में अटॉर्नी जनरल व राज्यों में एडवोकेट जनरल लोकहित के संरक्षक नहीं थे। इंग्लैण्ड में प्राईवेट पक्षकार, अटॉर्नी के बिना हस्तक्षेप के दो आधारों पर वाद कर सकता था।

1. यदि वह यह दर्शाता है कि लोक अधिकारों पर हस्तक्षेप इतना है कि उसके स्वयं के प्राईवेट अधिकार को हस्तक्षेप करता है।
2. यदि लोक अधिकार के हस्तक्षेप से उसे स्वयं को विशिष्ट क्षति कारित हुई है।

सन् 1980 का समय सामाजिक उत्थान के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था, जहाँ अमेरिका में अनेक संस्थाओं में अनेक तरह के परिवर्तन हुए तथा सुधार किए गये, जिसमें लोकहित मुकदमों भी एक था, जिसे प्रयोग मे ंलाया गया। लोकहित मुकदमा की अवधारणा जिसका उद्‌गम अमेरिका में हुआ, वह कॉमन लॉ पद्धति पर आधारित निजी हित मुकदमा में अनेक परिवर्तनों व सुधारों के दौर से गुजरी है तथा विधिक हित की कठोर आवश्यकता को उसके उत्पत्ति के स्थान अमेरिका में नरम व उदार

बनाया है। इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया व कनाडा आदि देशों में विधिक सहायता प्रोग्रामों को पुनः संरचित किया गया है ताकि लोकहित के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में लोकहित मुकद्मो को प्रयोग में लिया जा सके। निष्कर्षतः लोकहित के मामलों में 'सुने जाने का अधिकार' का उदारीकरण किया गया है।

जनहित मुकदमा को ग्रहण करने के लिये विशेष रूप से 'सुने जाने के अधिकार' को लेकर स्पष्ट मार्गदर्शन प्रतिपादित व सही सीमाएँ खीचीं जानी चाहिये, फिर भी कोई ठोस नियम व विस्तृत मार्गदर्शन का उद्भव नहीं किया गया है। यहाँ एक दृष्टिकोंण यह भी है कि इस तरह किया जाना सम्भव नहीं है व ऐसा करना उचित या लाभकर भी नहीं होगा कि कोई एक सामान्य नियम निर्धारित किया जाये, जो कि सभी मामलों में व सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू किया जा सके।[38]

जनहित मुकदमा में मुकदमा आरम्भ करने का उद्देश्य लोकक्षति के प्रतिदोष, लोक कर्तव्य को प्रवर्तित कराने, बिखरे हुए सामाजिक व सामूहिक अधिकारों व हितों के संरक्षण व लोकहित की रक्षा करने के लिए होता है। यदि कोई व्यक्ति सद्भावना से काम कर रहा है व उसे मामले में पर्याप्त हित है, उसके सुने जाने के अधिकार को स्वीकृति दी जानी चाहिये। पर्याप्त हित क्या है? जो किसी जनता के सदस्य को सुने जाने का अधिकार देता है, जो उसे न्यायालय द्वारा प्रत्येक मामलें के अनुसार विचार किया जायेगा। यह न्यायालय के लिये सम्भव नहीं है कि कोई निश्चित नियम का निर्धारण कर सके या कोई सीधा फार्मूला पर्याप्त हित को परिभाषित करने या परिसीमित करने के उद्देश्य से निकाल सके। यह आवश्यक रूप से न्यायालय के विवेक पर छोड़ देना चाहिये। इसका कारण यह है कि आधुनिक पेचीदगियों से भरे समाज में जो सामाजिक व आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लाना चाहता है व पीड़ित वर्ग तक सामाजिक न्याय पहुँचाने की कोशिश कर रहा है। उनमें नये सामाजिक व सामूहिक बिखरे हित व अधिकार उत्पन्न करके व राज्य व अन्य प्राधिकारिताओं पर नये लोक कर्तव्य आरोपित करके असंख्या परिस्थितयाँ उत्पन्न होगी, जिन्हें किसी कठोर फार्मूलें मे समाहित या बन्द नहीं रखा जा सकता। एक न्यायाधीश जिसका सही सामाजिक परिप्रेक्ष्य है और जो उन तरंगों के समाज है, जैसा कि संविधान वह बिना किसी परेशानी के संवैधानिक उद्देश्यों के समरूप

यह विचारण करने में समर्थ होगा कि कोई व्यक्ति जो किसी मामले मे न्यायालय में आ रहा है, क्या उसे कार्यवाही प्रारम्भ करने में पर्याप्त हित है?[39]

जनहित मुकदमों में केवल वहीं व्यक्ति, जो सद्भावना से कार्य कर रहा है तथा जिसे कार्यवाही में पर्याप्त हित है, जिसे सुने जाने का अधिकार हैं एवं वह व्यक्ति, जो गरीब व जरूरतमन्द लोगों के मौलिक अधिकारों के हनन् के कारण परेशान है उनकें आंसुओं को दूर करने के लिये, न्यायालय में जा सकता है। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि लोकहित मुकदमा न्यायालय के बहुमूल्य समय को व्यर्थ करने के लिये नहीं करना चाहिये क्योंकि जो सही मुकदमे जिसमें दीवानी व आपराधिक मामलों से सम्बन्धित विधि सम्मत वेदना, जिनमें व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जा चुका है वह फांसी देने की अकथनीय मानसिक परेशानी से काफी लम्बें समय से इन्तजार कर रहा है। इस आशा के साथ कि उसके मुकदमे का नम्बर न्यायालय में आयेगा व उसका दुःख दूर होगा। इसी तरह के अन्य व्यक्ति लम्बी कतार में न्याय की आशा मे खड़े हुये है। अतः लोकहित मुकदमा न्यायालय के बहुमूल्य समय को व्यर्थ करने के लिये नहीं किया जाना चाहिये, अन्यथा जो लोग न्याय का इन्तजार कर रहे है, उनका हमारे न्याय प्रशासन से विश्वास ही हट जायेगा।[40]

जनहित मुकदमों में परम्परागत विवाद से भिन्न विवाद को निपटारा करने की मैकेनिज्म है, क्योंकि साधारण परम्परागत न्याय निर्णय दो प्रतिकूल हित लिए हुए पक्षकारों के बीच होता है तथा विवादास्पद विषय वस्तु भूतकालीन घटनाओं के विधिक परिणामों के विचारण से सम्बन्धित होते है तथा उपचार पक्षकार की तर्क सम्मतता पर निर्भर करता है। जबकि लोकहित मुकदमे मे कार्यवाहियाँ परम्परागत तरीके व अवरोध से बाहर श्रेष्ठ व ज्ञानातीत होती है। न्यायिक नवीनीकरण की मजबूरी लोकहित मुकदमा सामाजिक व आर्थिक बदलाव की सांविधिक प्रतिज्ञा है, तथा समान अवसर पर आधारित व्यवस्था तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना को प्रोत्साहन के लिये विकसित की गई है।''[41]

जनहित मुकदमा संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत न्यायालय के निर्देश पाने के लिये आया कि प्रत्येक चोटग्रस्त नागरिक जो उपचार के लिये डाक्टर के पास जाता है, उसे जीवन संरक्षण हेतु आवश्यक चिकित्सा सम्बन्धी सहायता मिलनी

चाहिये। तुरन्त जीवन संरक्षण हेतु चिकित्सा सम्बन्धी सहायता मिलनी चाहिये तथा दण्ड प्रक्रिया सम्बन्धित औपचारिकताओं का बाद मे निर्वाह किया जाना चाहिये ताकि असावधानी से होने वाली मृत्यु से बचाया जा सके तथा यदि कोई डाक्टर निर्देशों व कर्तव्यों की अवहेलना करता है तो उसके विरूद्ध कार्यवाहियों के अलावा उससे उपयुक्त प्रतिकर दिलवाया जाना चाहिये।[42]

संविधान का अनुच्छेद 21 राज्य पर दायित्व आरोपित करता है कि वह प्राण के अधिकार का संरक्षण करे। एक सरकारी अस्पताल मे कार्यरत डाक्टर राज्य के इस उत्तरदायित्व को पूरा कर सकता है। अतः वह कर्त्तव्य से बंधा हुआ है, कि प्राण रक्षा के लिये चिकित्सा सुविधा प्रदान करें। प्रत्येक डाक्टर चाहे वह सरकारी अस्पताल मे है या निजी अस्पताल में उसका यह व्यावसायिक दायित्व है कि वह अपनी सेवाएँ प्राण रक्षा हेतु पूर्ण निपुणता से निर्वाह करें। कोई विधि या राज्य का कोई कृत्य चिकित्सा व्यवसाय के सदस्यों पर आरोपित प्रमुख दायित्व के निष्पादन में हस्तक्षेप या विलम्ब नहीं कर सकता। यह दायित्व पूर्ण व प्रमुख है, प्रक्रियात्मक विधि चाहे वह कानून है या अन्यथा जो इस दायित्व के निष्पादन मे हस्तक्षेप करती है उसे सही नहीं माना जा सकता। अतः उसे रास्ते में नहीं आना चाहिये।

संवैधानिक अधिकारिता –

अधिकारों का अस्तित्व ही उपचारों पर आधारित है। उपचारों के अभाव मे अधिकारों का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। भारतीय संविधान में जहाँ अधिकारों का विशद् उल्लेख किया गया है, वहाँ इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपचारों का भी समावेश किया गया है।

अनु0 32 (1) के अधीन उच्चतम न्यायालय की मूल अधिकारों के प्रवर्तन की शक्ति अत्यन्त व्यापक है। इस सम्बन्ध में उस पर कोई परिसीमा नहीं है कि वह कौन सी प्रक्रिया अपनाए? सिवाय इसके कि उसे प्रयोजन के अनुसार अर्थात् मूल अधिकारों के प्रवर्तित करने के लिए समुचित होना चाहिए। न्यायालय परम्परागत प्रतिपक्षी प्रणाली जिसमें (प्रतिवादी का होना आवश्यक होता है) अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं है। संविधान निर्माताओं ने मूल अधिकारों के प्रवर्तित करने के लिए कोई विशेष प्रक्रिया नहीं विहित किया है क्योंकि वे जानते थे कि भारत जैसे देश के

लिए जहाँ इतनी निर्धनता, अज्ञानता, अशिक्षा, अभाव और शोषण है। वहाँ मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए सूत्र या कार्यवाहियों पर जोर देना उपचारों की विफलता ही होगी।

अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान का 'आधारभूत ढाँचा' है अतः इसे अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करके नष्ट नहीं किया जा सकता है।

जनहित मामलों की नवीन संकल्पना में अधिकारिता का विस्तार–

पारम्परिक मत यह था अनुच्छेद 32 के अधीन अनुतोष पाने का हक उसी व्यक्ति को है जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है किन्तु अपने आधुनिकतम निर्णयों मे उच्चतम न्यायालय ने आंग्ल विधि के उक्त नियम में परिवर्तन कर दिया है और अनुच्छेद 32 के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। न्यायाधिपति श्री कृष्ण अय्यर ने कहा कि 'वाद–कारण' और 'पीड़ित व्यक्ति' की संकुचित धारणा का स्थान 'वर्ग कार्यवाही', 'लोकहित में कार्यवाही', 'प्रतिनिधि वाद' लाने की विस्तृत धारणा ले रही है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है। अतः न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने अधिवक्ता संघ को अनुच्छेद 32 के अधीन रिट अधिकारिता द्वारा न्यायाधीशों के स्थानान्तरण को चुनौती देने का हक प्राप्त है।

यदि कोई व्यक्ति या समाज का वर्ग, जिसको विधिक क्षति पहुँचायी गयी है या विधिक अधिकारों का अतिक्रमण हुआ है अपनी निर्धनता अथवा किसी अन्य कारण से अपने संवैधानिक या विधि कथाधिकारों के संरक्षण के लिए न्यायालय में जाने में या संघ न्यायालय में उसको पहुंची क्षति के निवारण के लिए अनुच्छेद 32 के अधीन आवेदन दे सकता है। उक्त परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति पत्र लिखकर भी उच्चतम न्यायालय से उपचार माँग सकता है और उसे रिट–पिटिशन की तकनीक कि प्रक्रियात्मक बारीकियों का पालन करना आवश्यक नहीं होगा। न्यायाधिपति श्री भगवती ने घोषणा कि तकनीकी न्यायालय ऐसे पीड़ित व्यक्तियों को न्याय प्रदान करने के मार्ग में अवरोध नहीं बन सकता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी व्यक्ति न्यायालय की इस उदारता का अनुचित लाभ उठाये।

प्रत्येक मामले में न्यायालय उपचार तभी देगा, जब उसे समाधान हो जायेगा कि उसके समक्ष आने वाले व्यक्ति का पर्याप्त हित है और वह दुर्भावना से अथवा राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर रिट–अधिकारिता का प्रयोग नहीं कर रहा है।

भारत में इसका दायरा बहुत सीमित था। शुरू में लोकहित वाद का प्रयोग जैलों मे विचाराधीन कैदी, सुरक्षा, आवास गृहों में बंदी महिलाओं की दयनीय स्थिति, रिमान्ड गृहों में रखे गये रिमान्ड की स्थिति, बोन्डेड श्रमिक आजादी मुक्ति एवं अन्य श्रमिक सम्बन्धी कानूनों के सम्बन्ध में श्रमिकों को प्रत्यक्ष मजदूरी भुगतान बची महिलाओं के साथ हिंसा जबकि ये पुलिस द्वारा बनाई गई है एवं पर्यावरण सुरक्षा एवं बचाव आदि में प्रयोग किया गया हैं।

जनहित वादों के उद्देश्य :-

जनहित वाद का उद्देश्य लोकहित का संरक्षण अर्थात् समाज के किसी वर्ग के मूल अधिकारो या अन्य अधिकारों का संरक्षण करना है, जो अपनी निर्धनता या अन्य सामाजिक आर्थिक कठिनाईयों के कारण अपने अधिकारों के सरंक्षण के लिए न्यायालय जाने में असमर्थ है। इस प्रकार लोकहित वाद का प्रयोग (प्रमुख रूप से निर्बल एवं निर्धन व्यक्तियों के उन मूल अधिकारों का जो अनुच्छेद 21 के अधीन प्रदत्त है) संरक्षण के लिए किया जाता रहा है। समाज के निर्धन और कमजोर वर्ग के लोगो के संवैधानिक और विधिक अधिकारो की सुरक्षा करने में इसका काफी महत्व है। लोकतंत्र में लोकहित वाद विधि शासन का एक आवश्यक तत्व है। विधि शासन केवल धनी और सुविधा सम्पन्न वर्ग के लोगों के अधिकारों को ही नहीं वरन् निर्बलतम वर्ग के लोगो के अधिकारों की सुरक्षा करता है और उन्हें न्याय प्रदान करता है। यह तर्क कि इस प्रकार के मामले से न्यायालय में वादों की संख्या में वृद्धि होगी, अतः उन्हें बढ़ावा नहीं देना चाहिए, भ्रामक है। न्यायाधिपति श्री भगवती ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि लोकहितवाद को बढावा देने से न्यायालय में मामलो की वृद्धि होगी और उनके निपटारे मे विलम्ब होगा। मुख्य न्यायमूर्ति श्री भगवती ने कहा है कि ''किसी राज्य को अपने नागरिकों से यह कहने का अधिकार नहीं है कि चूँकि हमारे न्यायालय में धनी व्यक्तियो के अनेक मामले लम्बित है, अतः निर्धनों को न्यायालय में न्याय पाने के लिए तब तक नहीं आने देगें जबकि उनके

मुकदमों का जो धनी वकीलों की सहायता प्राप्त कर सकते है, निपटारा न कर दिया जाये''। न्यायालय में वादों में वृद्धि इस बात का कोई उत्तर नहीं कि समाज से निर्बल और कमजोर वर्गों के लोगों के लिए न्याय पाने का रास्ता ही बन्द कर दिया जाये।

जनहित वादी का यह मुख्य उद्देश्य है कि वह श्रमिकों, पीड़ित महिलाओं, बच्चों, कैदियो, अनाथों के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहारो को रोकने के लिए सम्बधित प्राधिकारियों को समुचित निर्देश दे, ताकि विभिन्न विधियों को भली–भाँति लागू किया जा सके और इनके शोषण को रोका जा सके।

मुख्य न्यायमूर्ति श्री भगवती ने लोकहित वाद के प्रयोग के लिए निम्नलिखित नियमों को प्रतिपादित किया है –

1. कोई भी निर्धन व्यक्ति किसी भी न्यायाधीश को पत्र लिख सकता है। ऐसा व्यक्ति केवल उस न्यायाधिपति का ही नाम जान सकता है जो उसके प्रान्त से आया हो। पत्र के साथ शपथ पत्र होना भी आवश्यक नहीं है। न्यायाधिपति श्री पाठक ने कहा था कि उसे न्यायालय के नाम पत्र लिखना चाहिए, किसी न्यायाधीश के नाम नहीं।
2. अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायालय को उचित मामलों में जहाँ निर्धन व्यक्ति के मूल अधिकारों का उल्लंघन होता हो, प्रतिकर प्रदान करने की भी शक्ति है। अनु0 32 सिविल न्यायालय द्वारा प्रतिकर प्राप्त करने का स्थानापन्न नहीं हो सकता है। इसका प्रयोग केवल उन मामलों मे किया जायेगा, जहाँ किसी निर्धन व्यक्ति के मूल अधिकार का भयंकर एवं स्पष्ट उल्लंघन किया जाता है और वे अपनी निर्धनता के कारण सिविल न्यायालय से उपचार पाने में असमर्थ है। इसी आधार पर न्यायालय ने रूदल शाह और भीमसिंह के मामलों मे पीटिशनरों को प्रदान किया है।
3. अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायालय निर्धन और सामाजिक एवं आर्थिक रूप से उपेक्षित लोगों के मूल अधिकारो के अतिक्रमण को पता लगाने के लिए आयोग नियुक्त कर सकता है, जैसा कि बन्धुआ मुक्ति मोर्चा मे किया था या कोई अन्य आदेश या रिट जारी कर सकता है, जो उनके मूल अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है। मानव अधिकारों

की सुरक्षा के लिए न्यायालय की शक्ति असीमित है। यही उसका संवैधानिक कर्तव्य है।

अनुच्छेद 32 के अधीन देश के प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार होता है कि लोकहित वाद फाइल करके इसकी सूचना न्यायालय को दें। अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत अधिकारिता के अन्तर्गत न्यायालय ने विभिन्न परिस्थितियों में हस्तक्षेप किया है, जैसे बिहार के जेलों के कैदियों को अन्धा करने के मामले, नारी निकेतनों में महिलाओं के शोषण, जेल में बन्द बच्चों के साथ अमानवीय व्यवहार, मुम्बई के झुग्गी झोपड़ी में रहने वालों की रक्षा के लिए बंधुआ मजदूरों की विमुक्ति, पर्यावरण सरंक्षण, पुलिस अभिरक्षा मे कैदियो के साथ क्रूर व्यवहार से सरंक्षण, बलात्कार पीड़ित महिला को प्रतिकर एवं पुनर्वास प्रदान करना, दिल्ली में बसों और अन्य वाहनों को सी.एन.जी. से चलाना, उत्तर प्रदेश में पंचायत और नगर निगमों का चुनाव करना, डेंगू बीमार से जनता को बचाने के लिए उचित उपचार का प्रबन्ध करने के लिए सरकार को आदेश देना आदि अनेक मामलों में इस अधिकारिता का प्रयोग किया गया है।

अतः उच्चतम न्यायालय का निर्णय जो देश के निर्धन और कमजोर वर्ग के लोगों के अधिकारों को सजग प्रहरी के रूप में प्रतिष्ठित करता है और उस पुरानी संकीर्ण विचारधारा को छोड़ देता है। जिसके अनुसार केवल वहीं व्यक्ति न्यायालय में आवेदन कर सकता है जिसके स्वयं के मूल अधिकारों का राज्य द्वारा अतिक्रमण हुआ हो। जब जनहित के मामले मे समाज का कोई भी व्यक्ति या संस्था न्यायालय में आवेदन दे सकता है, न्यायालय का दरवाजा केवल उद्योगपतियों, ठेकेदारों, तस्करों, शराब सम्राटों और धनी लोगों के लिए ही नहीं वरन् देश की करोड़ों शोषित गरीब जनता के लिए भी खुला है। इस निर्णय द्वारा न्यायालय ने न्याय को जनता के दरवाजे तक पहुंचा दिया है, जिसका आह्वान हमारे संविधान के अनुच्छेद 39 (क) में किया गया है। वस्तुतः लोकतांत्रिक प्रणाली में निर्धन और शोषित वर्गों की अपनी न्यायालय से यह अपेक्षा भी है कि उन्हें न्याय मिलेगा। न्यायालय ने जनता की इस आकांक्षा को स्वीकार कर उन्हें लाभ पहुचाया भले ही उसमें कुछ विलम्ब हुआ हो। यह लोकतांत्रिक परम्परा को ठोस और सुदृढ बनाने की दिशा में शुभ कदम है।

न्यायिक प्रक्रिया की बदलती भूमिका

नवीन परिस्थितियों में वर्तमान प्रासंगिकता को देखते हुए न्यायपालिका के नवीन समूहों की स्थापना की गयी है –

(1) ई-कोर्ट :- [A Mission mode project to transfer justice by ICT enablement of Courts]

न्यायिक प्रक्रिया को आसान बनाने हेतु ई–कोर्ट की अवधारणा लायी गयी है। देश का पहला ई–कोर्ट गुजरात और अहमदाबाद में अहमदाबाद सिटी सिविल एवं सेशन न्यायालय में स्थापित किया गया है। इसकी शुरूआत 8 फरवरी 2009 को देश के प्रमुख न्यायधीश न्यायमूर्ति के.जी. बालकृष्णन द्वारा किया गया। ई–कोर्ट में आरोपी वीडियों कांफ्रेसिंग के माध्यम से न्यायधीश के समक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज कर सकेंगे तथा बयान भी दे पाएगें। इससे कारागार से न्यायालय तक ले जाने की आवश्कता नहीं रहेगी। कारागार एवं पुलिस मुख्यालय के अतिरिक्त फोरेसिंक लेबोरेटरी को भी पहले ई–कोर्ट परियोजना में न्यायालय से ऑन लाइन सम्बन्द्ध किया गया है।

(2) परिवार (कुटुम्ब न्यायालय)

परिवार न्यायालय अधिनियम 1984 के अधीन कुटुम्ब या पारिवारिक न्यायालयों की स्थापना की गयी है। इस अधिनियम द्वारा न्यायालय को पारिवारिक विवादों में मैत्रीपूर्ण समझौतों को बढ़ाता देने के लिए स्वविवेक का प्रयोग करने का क्षेत्रीय अधिकार दिया गया हैं। विवाद की सच्चाई पता लगाने के लिए न्यायालय अपनी प्रक्रिया स्वयं निर्धारित कर सकता है। सामान्यतः विवादों में वकीलों की उपस्थित नहीं होती, लेकिन जटिल विषयों पर वकीलों को प्रस्तुत होने की अनुमति दी जा सकती है। विभिन्न विषयों पर निर्णय करते समय कुटुम्ब संबंधो और परामर्शदाताओं की सेवाएँ ली जा सकती है। उच्च न्यायालय मे कुटुम्ब न्यायालयो के निर्णयो एवं आदेशों के विरूद्ध अपील की जा सकती है। साथ ही संविधान के अनुच्छेद 106 के तहत् उच्चम न्यायालय मे भी अपील की जा सकती है। पहले पारिवारिक न्यायालय की स्थापना जयपुर मे ंकी गई थी।

(1) लोक अदालतः-

लोक अदालत कानूनी विवादों के मैत्रीपूर्ण समझौते के लिए वैधानिक मंच है। विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1967 जिसका संशोधन 2002 में किया जा चुका है, द्वारा लोक उपयोग सेवाओं के विवादों के सम्बन्ध में मुकदमेबाजी पूर्व सुलह और निर्धारण के लिए स्थायी लोक अदालतों की स्थापना के लिए प्रावधान करता है देश के लगभग सभी जिलों मे स्थायी सतत् लोक अदालतें स्थापित की गई है। देश मे लोक अदालतों द्वारा अब तक 1 करोड 43 लाख से भी अधिक कानूनी मामले हल किये जा चुके है। ऐसे फौजदारी विवादों को छोड़कर जिनमें समझौता नही किया जा सकता। दीवानी, फौजदारी, राजस्व अदालतों में लंबित सभी कानून विवाद मैत्रीपूर्ण समझौते के लिए लोक अदालत में लाए जा सकते है। कानूनी विवादों को लोक अदालत मे मुकदमा दायर होने से पूर्व भी अपने यहाँ स्वीकार कर सकती है। लोक अदालत के निर्णय अन्य किसी दीवानी न्यायालय के समान ही दोनों पक्षों पर लागू होते हैं, औंर यह निर्णय अंतिम होते हैं। लोक अदालतों द्वारा दिए गए निर्णयों के विरूद्ध अपील नहीं की जा सकती। इसमें न्याय का आधार आपसी सुलह हैं। इन्हें अभी कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है।

(4) तीव्रगामी न्यायालय (फास्ट ट्रैक कोर्ट):-

भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत जीवन का अधिकार शामिल है। इस अनुच्छेद के अनुसार 'किसी व्यक्ति को उसके जीवन एवम् निजी स्वतंत्रता से, सिवाय विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' से वंचित नहीं किया जायेगा। 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' से अभिप्राय एक न्यायोचित युक्तियुक्त तथा निष्पक्ष प्रक्रिया से है। ऐसी प्रक्रिया में त्वरित विचारण का अधिकार अन्तर्निहित है। न्याय, स्वतंत्रता तथा जीवन के अधिकार जैसी बातें निरर्थक होगी, यदि हम न्यायिक कार्यवाहियों को तीव्रगामी तथा सर्वसुलभ नहीं बना सकते। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों को त्वरित उपचार उपलब्ध कराए, विशेषकर उन्हें जो कारावासों में पड़े हुए है।

विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र की यह विडम्बना है कि भारतीय न्यायालय लंबित वादों को बोझ तले निरन्तर दबते चले जा रहे हैं। उपलब्ध आंकड़ों के

अनुसार, विभिन्न न्यायालयों के समक्ष लंबित प्रकरणो की संख्या 1.5 करोड़ के आस–पास है। इनमें से लगभग 1.4 करोड मामले आपराधिक है। लंबित मुकदमों में लगभग 6 करोड़ लोग उलझे हुए है। प्रत्येक 18 वां भारतीय नागरिक मुकदमेबाजी मे उलझा हुआ है। लगभग 60 लाख प्रकरण दस वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। चालीस वर्षों से लंबित वादों की संख्या में अनवरत वृद्धि ने सभी को झकझोर दिया है। सरकार भी भारी दबाव में थी।

विवश होकर सरकार ने 2005 में लंबित प्रकरणों को त्वरित निपटारे के लिए एक बड़ी राशि मंजूर की। इस धन से तीव्रगामी न्यायालयों का गठन होना था। ये न्यायालय केवल लंबित मामलों को ही निपटाएगें। शासन ने यह कदम 11वें वित्त आयोग के प्रतिवेदन के बाद उठाया। मंजूर की गई धनराशि राज्यों को दी गई। तदनुसार सबसे अधिक 242 विशेष अदालतें उत्तर प्रदेश में, 187 महाराष्ट्र में, 183 बिहार में और 152 पश्चिम बंगाल में गठित की गई।

1 अप्रैल, 2001 से तीव्रगामी न्यायालय अस्तित्व में आ गए हैं। किन्तु केवल 446 न्यायालय ही कार्य प्रारंभ कर सके हैं। 1003 अन्य तीव्रगामी न्यायालय स्थापित किए जाने की प्रक्रिया में है। कुछ राज्यों को तीव्रगामी न्यायालयों के गठन की प्रक्रिया अभी प्रारंम्भ करना है। उच्च न्यायालयों से तीव्रगामी न्यायालय हेतु तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए कहा गया है। सेवा निवृत अधीनस्थ न्यायाधीशों, कार्यरत मजिस्ट्रेट तथा अधिवक्ताओं में से तदर्थ न्यायाधीश नियुक्त किए जाने हैं। इनका कार्यकाल 5 वर्ष होगा।

(5) राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरणः–

पर्यावरण संबंधी कानूनों के प्रभावी कार्यान्वयन व पर्यावरण के अधिकारों की सुरक्षा के लिए 'राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण' अक्टूबर 2010 में अस्तित्व में आ गया। इसके गठन की अधिसूचना 18 अक्टूबर, 2010 को जारी की गई। इस हेतु आवश्यक विधेयक संसद के दोनों सदनों में मई 2010 में पारित किया गया था।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ति को राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण का अध्यक्ष दिसम्बर 2012 में नियुक्त किया गया है। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है।

(6) एकीकरण क्यूरीः-

एकीकरण क्यूरी का अर्थ है—न्यायालय का मित्र। अदालत की सहायता के लिए विशिष्ट मामलों में एकीकरण क्यूरी की नियुक्ति अदालत में की जाती है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा वकीलों के पैनल में से आपराधिक मामलों में कानूनी सहायता की अपील पर एकीकरण क्यूरी की सेवा उपलब्ध करायी जाती है। उच्चतम न्यायालय ने क्रिमिनल मामलों में गरीब अभियुक्तों को कानूनी सहायता के रूप में एक प्रतिनिधि वकील की उपलब्धता को अनिवार्य कर दिया गया है।

कुछ विशिष्ट जनहित याचिकाओं में दृष्टिकोण पत्र तैयार करने, जाँच करने एवं रिपोर्ट तैयार करने के लिए अदालत द्वारा एकीकरण क्यूरी की नियुक्ति की जाती है। जेल सुधार, आतंकवाद, पर्यावरण, मनोविकारग्रस्त वादियों, मीडिया की स्वतंत्रता और सरकारी परिसर में अनाधिकृत निर्माण और कब्जे जैसे जनहित वाले प्रमुख मामले में न्यायालय द्वारा सहायता के लिए एकीकरण क्यूरी की नियुक्ति की जाती है।

जनहित याचिकाओं से परे, वैसे मामलों में जहाँ कानून के महत्वपूर्ण प्रश्न शामिल हों, अदालत द्वारा कानूनी सहायता के लिए किसी वरिष्ठ अधिवक्ता की नियुक्ति एकीकरण क्यूरी के तौर पर की जाती है। उदाहरण के लिए गुजरात दंगों में नरेन्द्र मोदी की संलिप्तता के आरोपों की जाँच के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने राजू रामचंद्रन को एकीकरण क्यूरी नियुक्त किया था।

आपराधिक मामलों में अभियुक्त का प्रतिनिधित्व दो स्थितियों में होता है—

- अभियुक्त यदि बहुत गरीब हो और या अदालत से वकील उपलब्ध कराने का अनुरोध करे। उदाहरण स्वरूप कसाब के अनुरोध पर राजू रामचंद्रन को एकीकरण क्यूरी के तौर पर नियुक्त किया गया था।
- अपराधियों या अभियुक्तों द्वारा अपने पक्ष को रखने के लिए वकील नियुक्त नहीं करने पर।

- भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39(ए) में राज्यों को यह दायित्व दिया गया है कि वह सुनिश्चित करे कि कोई भी नागरिक न्याय पाने से वंचित न रह जाए और सभी को न्याय पाने से वंचित न रह जाए और सभी को न्याय के समान अवसर उपलब्ध हों। आर्थिक एवं अन्य अयोग्यताओं के कारण न्याय प्राप्ति की असमर्थता की स्थिति में मुफ्त कानूनी सहायता प्रदान करने का भी प्रावधान इस अनुच्छेद के अंतर्गत किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 21 में कानूनी प्रतिनिधित्व का अधिकार समाहित है। सभी मामलों में कानूनी प्रतिनिधित्व का अधिकार सिर्फ इसलिए नहीं प्रदान किया गया है कि यह संविधान में वर्णित है, वरन् यह कानून के शासन की बुनियादी शर्त है, जिसकी परिणिति संवैधानिक लक्ष्यों की प्राप्ति के रूप में होती है। भारतीय संदर्भ में न्याय वितरण प्रणाली का एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है। संविधान के अनुच्छेद 51 (1) के तहत भारतीय अदालतों के लिए यह आवश्यक है कि वकीलों की भूमिका से संबंधित संयुक्त राष्ट्र संघ के आधारभूत सिद्धान्तों के तहत सिद्धान्त एक पालन करे और उसे संवर्द्धित करे, जिसमें कहा गया है कि आपराधिक सुनवाई के सभी चरणों में व्यक्ति को अपनी रक्षा और बचाव हेतु अपने पसंद के वकील का चयन करने और कानूनी सहायता पाने का हक है।

भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में, जहाँ आर्थिक और सामाजिक मजबूरी के कारण बड़ी संख्या में लोगों को न्याय की सुविधा उपलब्ध नहीं हो पाती, एकीकरण क्यूरी की उपलब्धता वैसे लोगों के लिए न्याय को सुलभ बनाती है। अफजल गुरू और अजमल कसाब के मामले में एकीकरण क्यूरी की मदद से ही न्यायालय द्वारा निष्पक्ष न्याय सुनिश्चित किया जा सका।

(7) राष्ट्रीय न्याय अकादमी

न्यायिक अधिकारियों को सेवा के दौरान प्रशिक्षण देने के लिए सरकार ने 'राष्ट्रीय न्यायिक अकादमी' की स्थापना की है। इसका पंजीकरण 17 अगस्त, 1993 को सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट, 1860 के तहत हुआ है। यह अकादमी भोपाल में स्थित है, जिसका पंजीकरण कार्यालय दिल्ली में है। इस अकादमी में राज्यों और

केंद्र शासित प्रदेशों के न्यायिक अधिकारियों के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के विभागीय अधिकारियों को भी प्रशिक्षण दिया जाएगा। यह अकादमी न्यायिक शिक्षा, शोध और प्रशिक्षण के क्षेत्र में उत्कृष्टता केंद्र के रूप में कार्य करेगी।

अकादमी के उद्देश्य में न्यायिक सुधार और नीति निर्माण के साथ–साथ बेहतर कुशलता, निष्पक्षता और प्रस्तुति के लिए शोध प्रदत्त सेवाएं शामिल हैं। इसके अतिरिक्त न्यायार्थी हितैषी न्याय प्रणाली के लिए अदालतों के प्रशासन और प्रबंधन में सुधार की प्रमुख उद्देश्यों में शामिल हैं।

(8) नालसा [National Legal Service Authority]

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39 (ए) में सभी के लिए न्याय सुनिश्चित किया गया है और गरीबों तथा समाज के कमजोर वर्गो के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुच्छेद 14 और 22 (1) के तहत राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह सबके लिए समान अवसर सुनिश्चित करे। समानता के आधार पर समाज के कमजोर वर्गो को सक्षम विधि सेवाएं प्रदान करने के लिए एक तंत्र की स्थापना करने के लिए वर्ष 1987 में विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम पास किया गया। इसी के तहत राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (नालसा) का गठन किया गया। इसका काम कानूनी सहायता कार्यक्रम लागू करना और उसका मूल्यांकन एवं निगरानी करना है। साथ ही, इस अधिनियम के अंतर्गत कानून सेवाएँ उपलब्ध कराना भी इसका काम है।

प्रत्येक राज्य में एक राज्य कानूनी सहायता प्राधिकरण, प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक उच्च न्यायालय कानूनी सेवा समिति गठित की गई है। जिला कानूनी सहायता प्राधिकरण और तालूका कानूनी सेवा समितियाँ जिला और तालूका स्तर पर बनाई गई हैं। इनका काम नालसा की नीतियों और निर्देशों को कार्यरूप देना और लोगों को निःशुल्क कानूनी सेवा प्रदान करना और लोक अदालत चलाना हैं।

नालसा के कार्य–

नालसा देश भर में कानूनी सहायता कार्यक्रम और स्कीमे लागू करने के लिए राज्य कानूनी सेवा प्राधिकरण पर दिशा निर्देश जारी करता है। मुख्य रूप से राज्य कानूनी सहायता प्राधिकरण, जिला कानूनी सहायता प्राधिकरण, ताल्लुक कानूनी सहायता समितियों आदि को निम्नलिखित दो कार्य नियमित आधार पर करते रहने की जिम्मेदारी सौंपी गई है–

- सुपात्र लोगों को मुफ्त कानूनी निपटाने के लिए लोक अदालतों का संचालन करना।
- विवादों को सौर्हादपूर्ण ढंग से निपटाने के लिए लोक अदालतों का संचालन करना।

निशुल्क कानूनी सेवाओं में निम्नलिखित शामिल हैं–

1. किसी कानूनी कार्यवाही में कोर्ट फीस और देय अन्य सभी प्रभार अदा करना।
2. कानूनी कार्यवाहियों में वकील उपलब्ध कराना।
3. कानूनी कार्यवाही में आदेशों आदि की प्रमाणित प्रतियाँ प्राप्त करना।
4. कानूनी कार्यवाही में अपील और दस्तावेज का अनुवाद और छपाई सहित पेपर बुक तैयार करना।

(9) प्रशासनिक ट्रिब्युनलः–

प्रशासनिक ट्रिब्युनल अधिनियम, 1985 का पारित होना पीड़ित सरकारी कर्मचारियों को न्याय दिलाने की दिशा में एक नया अध्याय था। प्रशासनिक ट्रिब्युनल्स अधिनियम का स्रोत संविधान का अनुच्छेद 323 (क) है, जो केन्द्र सरकार और राज्यों के कामकाज को चलाने के लिए सार्वजनिक पदों और सेवाओं में नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती और सेवा शर्तो आदि से संबंधित शिकायतों और विवादों पर निर्णय दे सके। अधिनियम 1985 के अंतर्गत स्थापित ट्रिब्युनल, इसके अन्तर्गत आनेवाले कर्मचारियों के सेवा संबंधी मामलों में मूल अधिकार क्षेत्र को प्रयोग करता

है। उच्चतम न्यायालय के दिनांक 18 मार्च, 1997 के निर्णय के परिणामस्वरूप प्रशासनिक ट्रिब्युनल के फैसले के विरूद्ध संबंधित उच्च न्यायालय की खंडपीठ में अपील की जाएगी।

प्रशासनिक ट्रिब्युनल केवल अपने अधिकार क्षेत्र और कार्य विधि में आने वाले कर्मचारियों के सेवा संबंधी मामलों तक सीमित होता है। इसकी कार्याविधि कितनी सरल है, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि पीड़ित व्यक्ति इसके सामने स्वयं उपस्थित होकर अपने मामले की पैरवी कर सकता है। सरकार अपना पक्ष अपने विभागीय अधिकारियों या वकीलों के जरिए रख सकती है। ट्रिब्युनल का उद्देश्य वादी को सस्ता और जल्दी न्याय दिलाना है।

अधिनियम में केंद्रीय प्रशासनिक ट्रिब्युनल और प्रशासनिक ट्रिब्युनल (Control Administration Tribunal) और राज्य प्रशासनिक ट्रिब्युनल स्थापित करने की व्यवस्था है। केन्द्रीय प्रशासनिक ट्रिब्युनल पहली नवम्बर 1985 को स्थापित किया गया। आज इसकी 17 नियमित पीठ है, जिनमे से 15 उच्च न्यायालयों के मुख्य स्थान पर हैं और शेष दो जयपुर और लखनऊ में है। ये पीठ न्यायालयों वाले अन्य स्थानों पर सुनवाई करती हैं। संक्षेप में, ट्रिब्युनल में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और सदस्य होते है। ट्रिब्युनल के सदस्य न्यायिक और प्रशासनिक दोनों क्षेत्रों से लिए जाते हैं, ताकि ट्रिब्युनल को कानूनी और प्रशासनिक दोनों वर्गों की विशेषज्ञ जानकारी का लाभ मिल सके।

(10) न्यायिक जवाबदेही विधियेकः-

न्यायाधीशों के विरूद्ध मामलों की जाँच की अधिक प्रभावी प्रणाली बनाने के उद्देश्य से तैयार न्यायिक मानक और जवाबदेही विधेयक को 29 मार्च, 2012 को लोकसभा की मंजूरी प्रदान की गई। न्यायिक जवाबदेही विधेयक न्यायपालिका मे व्याप्त भ्रष्टाचार से निपटने की व्यवस्था है। न्यायिक मानक और जवाबदेही विधेयक के कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं–

- न्यायाधीशों के लिए अपनी संपत्ति और देनदारियों की घोषणा करना संवैधानिक रूप से अनिवार्य होगा। उसकी पत्नी और बच्चों पर भी यही बात लागू होगी।
- आम आदमी किसी भी न्यायाधीश के खराब व्यवहार के आधार पर शिकायत कर सकता है। इसके लिए राष्ट्रीय न्यायिक ओवरसाइट समिति, स्क्रुटनी पैनल और जाँच समिति बनाना प्रस्तावित है।
- समिति न्यायाधीशों को परामर्श या चेतावनी जारी कर सकती है। न्यायाधीशों को हटाने के लिए संसद में प्रस्ताव लाया जा सकता है, जिस पर समिति विचार करेगी।
- राष्ट्रीय न्यायिक ओवरसाइट समिति में पांच सदस्य होंगे, जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे।
- न्यायाधीशों के विरुद्ध होनेवाली शिकायत और सुनवाई गोपनीय होगी।
- शिकायत सही होने पर न्यायाधीश के विरुद्ध कार्यवाही होगी, जबकि शिकायत गलत होने पर शिकायतकर्ता को एक वर्ष तक की सजा दी जा सकती है।

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की स्वाधीनता सुनिश्चित करने वाले उपबन्धः-

संविधान में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वाधीनता और निष्पदाता सुनिश्चित करने के लिए निम्नलिखित उपबंध हैंः—

1. नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायामूर्ति (उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की दशा में) और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायामूर्ति (उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की दशा में) से परामर्श के पश्चात् की जाती है। जिससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि नियुक्तियाँ राजनीतिक आधार पर या निर्वाचन में लाभ के लिए नहीं की जा रही हैं और राजनीतिक तत्व समाप्त हो जाता है।
2. न्यायाधीशों को भयमुक्त होकर काम करने की छूट है। निर्णय में चाहे जितनी गंभीर भूल हो जाए, उसे कदाचार नहीं माना जाता। न्यायाधीश को कदाचार या

असमर्थता के लिए राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति, न्यायाधीश को हटाने का आदेश तभी देगा जब संसद के दोनों सदनों द्वारा समस्त कदाचार संख्या के बहुमत से और प्रत्येक सदन मे उपस्थित और मत देने वाले कम से कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समावेदन पारित किया जाए। यह एक जटिल और कष्ट साध्य प्रक्रिया है।

3. कार्यपालिका राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करती है। यह निर्णय सिविल सेवकों और सैन्य बलों के लिए लागू होता है। राज्यपालों की भी यही स्थिति है किंतु न्यायाधीशों पर लागू नहीं होता। यदि वह कदाचार नहीं करते हैं तो उन्हें पद से हटाया नहीं जा सकता। प्रसाद का सिंद्धांत स्वतंत्रता के लिए घातक है।
4. न्यायधीशों के वेतन, शर्ते, पेंशन और छुट्टी संसद द्वारा बनाई गयी विधि द्वारा अवधारित किए जाते है और उसमे न्यायधीश के लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। न्यायधीश की पदावधि के दौरान उसका वेतन और भत्ते घटाए नहीं जा सकते (केवल अनुच्छेद 360 के अधीन वित्तीय आपात में कम किये जा सकता है)
5. किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्यों के निर्वहन में किये गए आचरण के विषय मे संसद या राज्य विधानमण्डल में बोर्ड चर्चा नहीं हो सकती। (अनुच्छेद 121 और 211)
6. उच्चतम न्यायालय का सेवानिवृत् न्यायाधीश भारत के किसी न्यायालय का प्राधिकारी के समक्ष अभिवाचन या कार्य नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायधीश रहा हो, उच्चतम न्यायालय या जिस न्यायालय में वह नियुक्त किया गया था। उसमें भिन्न किसी उच्च न्यायालय के समक्ष अभिवचन या कार्य कर सकता है। (अनुच्छेद 124 और 220)
7. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को अपने अपमान के लिए दण्ड देने की शक्ति है।

अमेरिका, ब्रिटेन व भारत में न्यायिक व्यवहार

अमेरिका में न्यायिक व्यवहार लोकहित मामले के आंदोलन के प्रारंभ का श्रेय वास्तविक रूप से अमेरिका को है, जहाँ वर्तमान सदी के छठवें दशक में लोगों के प्रतिनिधित हितों के लिये लोकहित विधि का शुभारम्भ हुआ। यद्यपि उस समय तक प्रशासनिक न्यायाधिकरण अस्तित्व में आ चुके थे, लेकिन इन अधिकरणों द्वारा जनहितों को उचित संरक्षण नहीं दिये जाने के कारण अनेक मामलों में लोगों को अपने अधिकार से अकारण ही वंचित रह जाना पड़ता था। फलतः लोकहित विधि के माध्यम से अल्पसंख्यकों, महिलाओं, बच्चों आदि के शारीरिक और मानसिक तथा समाज के उपेक्षित लोगों के हितों को संरक्षित करने की परिपाटी प्रारंभ हुई। इसी प्रकार उपभोक्ता के हितों तथा पर्यावरण प्रदूषण से जन साधारण की संरक्षा की पहल की गई।

सन् 1965 के आस–पास लोकहित विधि अमेरिका में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा इसके अन्तर्गत ऐसे मामलों पर सुनवाई की जा सकती थी, जो सार्वजनिक नीतियों से संबंधित होने के कारण किसी व्यक्ति –विशेष की बजाय वृहद जन समुदाय पर विपरीत प्रभाव डाल रहे हों। साथ ही साधनहीन और असहाय लोगों को विधिक सेवाएँ उपलब्ध कराने हेतु एक लोकहित विधि परिषदों की स्थापना भी की गई। शासन तंत्र के शोषण से या उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण अशिक्षित तथा असंगठित निर्धन व्यक्तियों के हितों के संरक्षण तथा उन्हें सुलभ न्याय उपलब्ध कराने हेतु एक लोकहित विधि परिषदों की स्थापना भी की गई। शासन तंत्र के शोषण से या उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण अशिक्षित तथा असंगठित निर्धन व्यक्तियों के हितों के संरक्षण तथा उन्हें सुलभ न्याय उपलब्ध कराने हेतु अधिवक्ताओं की उदार सेवाओं की भी आवश्यकता हुई। फलतः इस हेतु अमेरिका की संघीय सरकार ने आर्थिक अवसरों के कार्यालय की स्थापना की, जिसके द्वारा असंख्य असंगठित निचले वर्ग को न्याय दिलाने की पहल की गई। साथ ही अनेक ऐसे स्वयंसेवी संगठन भी आगे आये जिन्होंने बाल–संरक्षण, कारागार व्यवस्था,

जातीय भेदभाव, प्रदूषण, उपभोक्ता–संरक्षण जैसे जन–व्यापक मुद्दों को न्यायालय में उठाकर सामाजिक सुरक्षा की दिशा में उल्लेखनीय योगदान दिया।

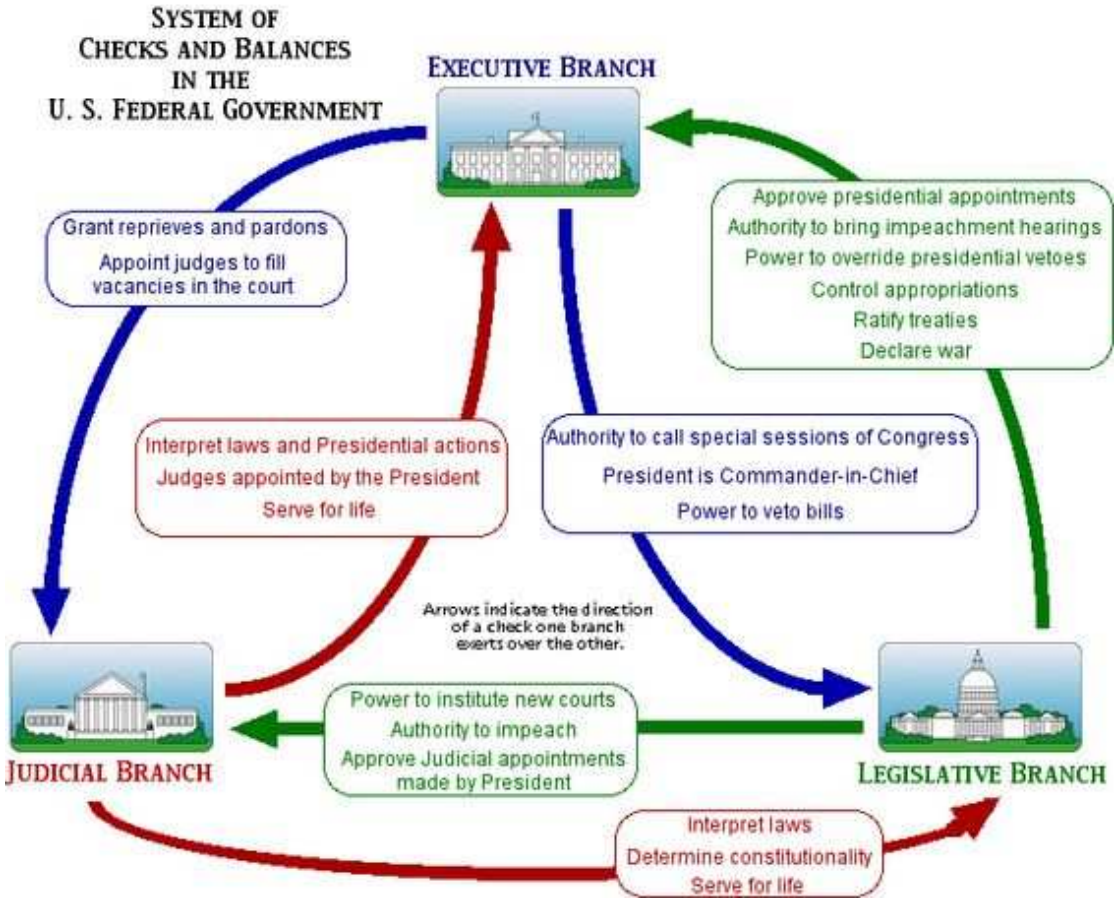

सन् 1974 में अमेरिकी कांग्रेस ने एक 'स्वतंत्र विधिक सेवा निगम' की स्थापना की, जिसके द्वारा विधिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत भूस्वामियों की मनमानी से गरीबों के संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इस हेतु बेदखली संबंधी कानून में आवश्यक परिवर्तन किये जाने का सुझाव दिया गया। सन् 1975 तक अमेरिका में लोकहित विधि का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक हो गया कि इसमें प्रायः सभी प्रकार के सामाजिक हितों सम्बंधी मुद्दों को उठाना सम्भव था। इनमें उपभोक्ताओं तथा पर्यावरण के संरक्षण के अलावा सुधार, नियोजन लाभ, मानव संसाधन तथा प्रसार माध्यम से होने वाली क्षति जैसी महत्त्वपूर्ण बातों पर विशेष ध्यान दिया गया। पक्षकारों के अधिकतर प्रकरण कारखाने, खेती, खान मजदूरी, महिलाओं, बालकों तथा कारावासियों और विकलांगों से सम्बन्धित होते थे, जो उचित साधनों के अभाव में अब तक न्याय प्राप्ति से वंचित थे। तदुपरांत अमेरिका में

लोकहित विधि के विकास हेतु ''सुनवाई के अधिकार'' नियम को अधिक उदार और व्यापक बनाया गया। सन् 1980 के बाद अमरीकी जनता का रुझान लोकहित विधि के प्रति कुछ घटता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि श्रेष्ठतर विधिक सेवा की दृष्टि से इस पद्धति से अमेरिकी न्याय प्रणाली में अपना स्थान बना लिया है, फिर भी वित्तीय कठिनाइयों, परम्परागत न्यायिक प्रक्रिया तथा जनता की रुचियों में परिवर्तन के कारण जनहित–विधि पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकी।

भारत में न्यायिक व्यवहार

भारतीय संविधान इन सभी तीनों समाजों को समाहित करता है। संविधान की पाँचवी अनुसूची प्राचीन समाजों का विशेष ख्याल रखती है। समानता के सिद्धान्त अन्य अधिकारों जो कि भाग–3 में निहित है, के साथ मूलभूत अधिकारों में सम्मिलित हैं। क्रोपॉटकिंन के सिद्धान्त के अनुसार 'प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त होना चाहिए'। भारतीय संविधान के भाग–4 में निहित है तथा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में उपबन्धित है और राज्य के लिए निर्देश है कि वह प्रत्येक समाज को उसकी यथास्थिति से आगे की ओर ले जाये, ताकि नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण हो सके। उदहरणतः पिछड़े वर्गों की आवश्यकताओं की विधिक प्रक्रिया द्वारा सन्तुष्टि।

भारतीय संसद ने आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को रूपान्तरित करने और राज्य कार्य के द्वारा सामाजिक, आर्थिक न्याय स्थापित करने का निश्चय किया है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की प्रोन्नति के लिये संविधान में विभिन्न संशोधन किये हैं। कृषि भूमि सुधार, सामरिक महत्व की आर्थिक संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण जैसे बैंक, बीमा, कोयला, बिजली, परिवहन एवं संचार और औद्योगिक क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार तथा श्रमिक कल्याण के विभिन्न विधानों का निर्माण सामान्य व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों की पुष्टि करते हैं। मानव अधिकारों के सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण से संविधान का मुख्य उद्देश्य अनुच्छेद 38,39 में निहित है। मानव अधिकारों की सामाजिक–आर्थिक श्रेणी के सम्बन्ध में संविधान का दृष्टिकोण निर्देशात्मक है, जबकि राजनीतिक एवं नागरिक अधिकारों को मूलभूत

अधिकार बनाया गया है और न्यायालय द्वारा लागू किये जाने योग्य है, जो कि युक्ति–युक्त निर्बन्धनों के साथ सामाजिक भलाई लिये हैं। आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार भी मूलभूत है, किन्तु उन्हें न्यायालय द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय ने भी यह निर्धारित किया है कि दोनों भागों में समरसता हो और इस सन्दर्भ में संसद ने समुदाय के सामाजिक, आर्थिक अधिकारों से सम्बन्धित भाग–4 को प्राथमिकता प्रदान की है तथा जिसका प्रमुख परिणाम यह है कि सामाजिक, आर्थिक अधिकारों के संरक्षण एवं उन्नयन के लिए विधान की संवैधानिक उन्मुक्तता प्रदान की है, चाहे इससे मूलभूत अधिकारों (राजनीतिक और नागरिक अधिकार) का हनन होता है। 42वां संविधान संशोधन भारतीय गणतंत्र को समाजवाद गणतन्त्र के रूप में विशेषतः घोषित करता है। अनुच्छेद 43(A), जो कि उद्योगों में संलग्न संगठनों, प्रतिष्ठानों, उपक्रमों के प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए उचित वैधानिक कदम उठाने का निर्देश देता है, भी 42वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया है। 44वें संशोधन द्वारा संसद ने सम्पत्ति के अधिकार को मूलभूत अधिकारों की श्रेणी में से हटा दिया है और इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में अछूता अधिकार नहीं है। अतः संविधान में दिये गये प्रावधानों पर विस्तृत दृष्टिकोण डाले तो यह प्रदर्शित होता है कि समाज के कमजोर वर्गो, श्रमिकों, महिलाओं, बच्चों और असहाय व्यक्तियों के संरक्षण के लिये बहुत सारे विधान है।

न्यायिक सक्रियता के मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में अमेरिकी तथा ब्रिटिश न्यायिक व्यवहार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही अग्रणी रहे हैं। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के चौदहवें संशोधन की विशद् व्याख्या की और स्वतंत्रता एवं समानता का साम्राज्य स्थापित किया, मानव मूल्यों को विशेष संरक्षण प्रदान कर 'श्वेत प्राथमिकता' एवं 'अलग किन्तु समान' जैसे मानवता विरोधी सिद्धान्तों को असंवैधानिक घोषित किया है तथा काले गोरे के बीच असमानता की खाई को पाटने का प्रयास किया है। 'विधि की सम्यक प्रक्रिया' तथा 'विधि का समान संरक्षण' खण्ड वाक्य के आधार पर भेदभावकारी कानूनों को लागू करने से इंकार कर समानता के मानदण्ड स्थापित किये हैं तथा सामाजिक कार्यवाही बाद की त्वरित प्रक्रिया के द्वारा

सभी प्रकार के सामाजिक हितों की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है। वहीं ब्रिटेन में 'विधि शासन' सिद्धान्त न्यायिक व्यवहार का प्रेरणा स्त्रोत रहा है।

भारत में अमेरिकी तथा ब्रिटिश न्यायिक सक्रियता का अटूट प्रभाव रहा था। लोकहित वाद की उत्पत्ति पश्चिमी न्यायिक सक्रियता का ही परिणाम है। भारत के उच्चतम न्यायालय ने इसमें महती भूमिका निभाई है। जीवन के ऐसे अनेक क्षेत्रों जैसे–वैयक्तिक स्वतंत्रता, जीवन का अधिकार, स्वास्थ्य, सुरक्षा संबंधी जोखिम, जनजातियों का कल्याण, बालकों, श्रमिकों, महिलाओं, बंधुआ मजदूरों, शिक्षा तथा राजनीतिक सत्ता एवं प्रसार माध्यमों के दुरूपयोग इत्यादि, में न्यायिक उपचार प्राप्त करना सम्भव नहीं था, लोकहित वाद के माध्यम से अब उपचार सरल एवं सुगम हो गया है। इस प्रकार भारत, अमेरिका तथा ब्रिटेन के वरिष्ठ न्यायालयों ने वितरणात्मक न्याय में उल्लेखनीय योगदान किया है किन्तु भारत में हाल ही में आरक्षण विरोधी तथा उदारीकरण एवं निजीकरण की नीति के समर्थन में दिये गये निर्णय सामाजिक न्याय की संकल्पना के विपरीत दिखायी प्रतीत होते है।

संदर्भ-सूची

1. ''कलकत्ता गैस कम्पनी लिमिटेड बनाम पश्चिम बंगाल'' ए.आई.आर 1962, 1044।
2. ''हुसैन आरा खातून बनाम बिहार राज्य'' ए.आई.आर 1979, सुप्रीम कोर्ट 1360।
3. ''फर्टीलाइजर कॉरपोरेशन कामगार यूनियन बनाम भारत संघ'' ए.आई.आर 1981, सुप्रीम कोर्ट 344।
4. जैन, एम.पी.; एवं जैन, एस.एन.; ''प्रिन्सीपल ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ'' संस्करण–3, पृष्ठ 400
5. ''गोरियत बनाम यूनियन ऑफ पोस्ट ऑफिस वर्कस'' (1977) 3, आल ई आर 70, पृष्ठ 96
6. डेनिंग, लार्ड; ''दी डिसिप्लाइन ऑफ लॉ'', 1979, पृष्ठ 144
7. बक्शी, डॉ. उपेन्द्र; ''दी क्राइसिस ऑफ इण्डियन लीगल सिस्टम'', 1982, पृष्ठ 7
8. ''ब्लैक बर्न बनाम अटार्नी जनरल'', 1971, ''डब्ल्यू एल.आर. 1037, तथा आर. बनाम पुलिस आयुक्त एक पक्षीय ब्लेक बर्न'' 2 क्यूबी 118, 1968
9. एम.आई.आर., 1976, सुप्रीम कोर्ट 1465
10. ''रतलाम म्युनिसिपल बोर्ड बनाम वरधीचन्द्र'', ए.आई.आर. 1980, सुप्रीम कोर्ट 1122
11. ''एम.पी. गुप्ता बनाम भारत के राष्ट्रपति तथा अन्य'', एआईआर 1982, सुप्रीम कोर्ट, 149
12. ''हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य'' ए.आई.आर. 1979 सु. को 360, ''मुन्ना और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश'' ए.आई.आर 1982, सुप्रीम कोर्ट 1213
13. ''नेशनल एसोसियशन फॉर दी एडव्हॉसमेंट ऑफ कलर्ड पीपुल'', 1909
14. ''सिर्रा क्लब बनाम मोर्टन'', 405, यू एस 727 (1972) तथा ''यूनाईटेड स्टेट्स बनाम स्क्रेप'' 404, यू.एस. 669 (1973)
15. ''आर.आर.सी बनाम फेडरेशन ऑफ सेल्फइप्लाइड्स''
16. (1971) 1 डब्ल्यू. एल. आर. 1037

17. ''आर. बनाम मेट्रोपोलटिन पुलिस कमिश्नर'' (एक पक्षीय क्लेकबर्न) वाद (1971), डब्ल्यू. एल. आर. 1037
18. ''आर बनाम पुलिस कमिश्नर'' (एक पक्षीय क्लेकबर्न) वाद, 1973, 1क्यू, बी.डी. 241
19. ''जे. देसाई बनाम रोशन कुमार'', ए.आई.आर 1976, सुप्रीम कोर्ट 578
20. ''पीर मोहम्मद बनाम जिला वन अधिकारी'', ए.आई.आर 1974, कोर्ट 192
21. ''विजय मेहता बनाम राजस्थान राज्य'', ए.आई.आई. 1980 , राज 207
22. मेनन, माधव; ''द डाउन ऑफ ह्युमैन राइट्स ज्युरिसप्रूडेंस'' 1987, 1 एस.सी. सी (जे) पी.एस
23. ''बार कांउसिल ऑफ महाराष्ट्र बनाम एम व्ही डामोलकार'' (1996) 1 एस.सी.आर 366
24. ''हुसैन आरा खातून बनाम बिहार राज्य'', ए.आई.आर 1979, सुप्रीम कोर्ट 360
25. ''रतलाम म्यूनिसिपल परिषद् बनाम बरधीचन्द'', ए.आई.आर. 1980, सुप्रीम कोर्ट 1622
26. ए.आई.आर 1979, एस.सी. 765, पृष्ठ 767
27. जैन, एन.एन; ''लॉ जस्टिस एण्ड एफरमेटिव कोर्ट एक्शन'' 21, जे.आई.एल.जे 262
28. स्मिथ, एस.ए.डी; ''ज्यूडिशियल रिव्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव व एक्शन''
29. साठे, एस. पी.; ''पब्लिक पार्टीसीपेशन इन ज्यूडिशियल प्रोसिस न्यू ट्रेंड इन लॉ ऑफ लोकस स्टेडी'', जे.आई.एल.आई, वोल्यूम 26
30. दामोल्कर लोकहित याचिका (1976), 1 एस.सी.आर 306,
31. ''जसभाई मोती भाई देसाई बनाम रोशन कुमार'', ए.आई.आर, 1976, सुप्रीम कोर्ट 578
32. ''विजय मेहता बनाम राजस्थान राज्य'', ए.आई.आर, 1980, राज. 207
33. ''एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ'', ए.आई.आर, 1982 सुप्रीम कोर्ट 188
34. भारत के उच्चतम न्यायालय के नियम, भाग 4, आदेश पैंतीस, नियम 3
35. ए.आई.आर. 1979, सुप्रीम कोर्ट 1360
36. (1979) 4 ए.सी.सी. 458

37. साठे, प्रो. एस.पी.; ''न्यायिक प्रक्रिया में जनता की भागीदारी शीर्षक'' भारतीय विधि संस्थान, 1984, पृष्ठ 1
38. ''इब्राहिम आबूवाकर बनाम रूस्तम जनरल ऑफ एवैक्यू प्रोपर्टी'' ए.आई.आर 1952 एस.सी. 319
39. ए.आई.आर. 1971, एस.सी. 385
40. ''एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ एवं अन्य'', ए.आई.आर 1982, सुप्रीम कोर्ट, पृष्ठ 189–190
41. 1980, 14, सी.एच.डी 458
42. 1887 क्यू. बी.डी. 174
43. ''के.आर शैनोय बनाम उदीपी, म्यूनिसिपैलिटी'', ए.आई.आर. 1974, सुप्रीम कोर्ट 2177
44. ''बर्धमान बनाम सलीम नगरपालिका'' ए.आई.आर 1973, मद्रास
45. ''क्वीन बनाम वाऊमन'' 1898, 1 क्यू बी 663
46. ''जे.एस.देसाई बनाम रोशन कुमार'', ए.आई.आर 1976, सुप्रीम कोर्ट 578
47. ए.आई.आर 1980, सुप्रीम कोर्ट, 1662
48. ''जनता दल बनाम एच एस चौधरी'', ए.आई.आर. 1993, एस.सी. 892
49. ''एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ'', ए.आई.आर. 1982
50. ''जनता दल बनाम चौधरी'', ए.आई.आर 1993, सुप्रीम कोर्ट 892
51. ए.आई.आर 1988, सुप्रीम कोर्ट, 2214–15
52. ए.आई आर 1989, सुप्रीम कोर्ट, 2039
53. ''परमानन्द कटारा बनाम भारत संघ'', ए.आई.आर. 1989, सुप्रीम कोर्ट 2039

अध्याय–पंचम
न्यायिक सक्रियता (जनहित याचिकाओं के विशेष संदर्भ में 1990 से लेकर 2015 तक)

पिछले तीन दशकों (1980–2015) में भारत की न्याय व्यवस्था के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इन दशकों में न्यायपालिका का आकार, प्रक्रिया, व्यवहार, क्षेत्राधिकार और विशेष रूप से उसका लक्ष्य ही बदल गया है। वर्तमान में न्यायपालिका का लक्ष्य व्यक्तिगत न्याय के साथ सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। न्यायपालिका केवल न्याय प्रदान करने का ही कार्य नहीं कर रही है वरन् वह एक प्रशासक, सुधारक, अनुसंधानकर्त्ता और नीति–निर्धारक की भूमिका अदा कर रही है।

न्यायिक सक्रियता कार्यकारिणी की निष्क्रियता का स्वाभाविक परिणाम है। कार्यकारिणी की बढ़ती हुई उदासीनता, स्वेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता तथा निष्क्रियता ने न्यायिक सक्रियता को जन्म दिया है। जेलो में वर्षों में सुनवाई की प्रतीक्षा में बंद कैदी, अवैध बंदीकरण, स्त्रियों, बच्चों और श्रमिकों का शोषण, जेल और महिला संरक्षण गृहों की अमानवीय दशा, पुलिस–अत्याचार, बेगार, ऐसी असंख्य समस्याओं का निराकरण करने में कार्यकारिणी अप्रभावी सिद्ध हुई है। कार्यकारिणी की इस निष्क्रियता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्थिति को न्यायपालिका ने विधि के शासन की विफलता माना। न्यायपालिका, जो पारंपरिक मूल्यों और मानकों का अनुपालन करते हुए अभी तक मूक दर्शक थी, विधि के शासन को सुरक्षित रखने के लिए उठ खड़ी हुई। न्यायपूर्ति पी.एन. भगवती के अनुसार ''विधिक व्यवस्था को बनाए रखना न्यायपालिका का कर्त्तव्य है। विधि के शासन को सुरक्षित रखने के लिए सरकार के प्रत्येक अंग को अपनी शक्तियों की सीमाओं में रहकर कार्य करना चाहिए।'' इस तरह न्यायपूर्ति भगवती ने न्यायिक सक्रियता को संवैधानिक आधार प्रदान किया।

समस्या यह थी कि न्यायपालिका किस तरह कार्यकारिणी के क्षेत्र में प्रवेश कर के समाज में हो रहे अन्याय तथा शोषण को रोक सकती है और उन दशाओं को उत्पन्न कर सकती हैं जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिए आवश्यक है। बाधक वे स्वरोपित प्रतिबंध थे, जो अमेरिका की तरह भारत की न्यायपालिका ने भी अपने ऊपर लगा रखे थे। इन प्रतिबंधों में सबसे मौलिक प्रतिबंध यह था कि न्यायालय में केवल वही व्यक्ति मुकदमा कर सकता है जिसके वैधानिक अधिकारों का अतिक्रमण हुआ हो, उसे अधिकारिता कहा जाता है। दूसरा प्रतिबंध यह था कि न्यायालय किसी भी अवैधानिकता के खिलाफ उस समय तक संज्ञान न लेगा जब तक कि वह मामला औपचारिक रूप से न्यायालय के सामने न लाया जाये। न्यायालय स्वयं से किसी मामले को नहीं उठा सकता था। इन प्रतिबंधों का उद्देश्य न्यायपालिका द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को सीमित रूप से प्रयोग करना था।

संविधान लागू होने के बाद 25–30 वर्षो तक भारत की न्यायपालिका ने भी अमेंरिकी न्यायपालिका द्वारा प्रतिपादित प्रतिबंधों का अनुपालन करते हुए नकारात्मक भूमिका अदा की। लेकिन जब कार्यपालिका की उदासीनता और स्वेच्छाचारिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी तो न्यायपालिका ने अपने पारंपरिक प्रतिबंधों को शिथिल करके कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया। वास्तविकता यह है कि अधिकारिता के नियम को शिथिल करने का परिणाम ही न्यायपालिका की सक्रियता के रूप में सामने आया है।

जनहित विवादों के माध्यम से महिलाओं, बच्चों, मजदूरों, गरीबों, शोषित तथा कमजोर वर्ग के लोगों, जेलों में सुनवाई की प्रतीक्षा में रखे गये बंदियों, पुलिस के अत्याचार के शिकार व्यक्तियों की समस्याओं को न्यायालय के समक्ष लाया गया है और न्यायपालिका ने उनके निराकरण हेतु आवश्यक निर्देश और आदेश दिए है। यहीं नहीं जेलों, महिला संरक्षण–गृहों, बाल अपराधियों के लिए बनाए गए संरक्षण–गृहों की आवासीय दशाओं को सुधारने तथा पर्यवरण सुधार के लिए न्यायपालिका ने समय–समय पर बहुमूल्य निर्देश दिए है। हाल ही में सर्वोच्च

न्यायालय ने ऐसे कई मामलों पर विचार किया है। उदाहरण स्वरूप ऐसे कुछ विवादों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है:–

न्यायिक सक्रियता हेतु प्रस्तुत अपीलें उनको निपटाने एवं अनिर्णित अपीलों को निम्न सारणी एवं चार्ट के माध्यम से समझा जा सकता है–

अपीलों का वर्षवार विवरण:-

वर्ष	प्राप्त अपीलें	निर्णित	अनिर्णित
2006	297	150	147
2007	1662	1461	348
2008	2082	1674	756
2009	3786	2133	2409
2010	4960	4042	3327
2011	7575	3120	7782
2012	7250	3524	11508
2013	8085	2251	
कुल योग	**35697**	**18355**	

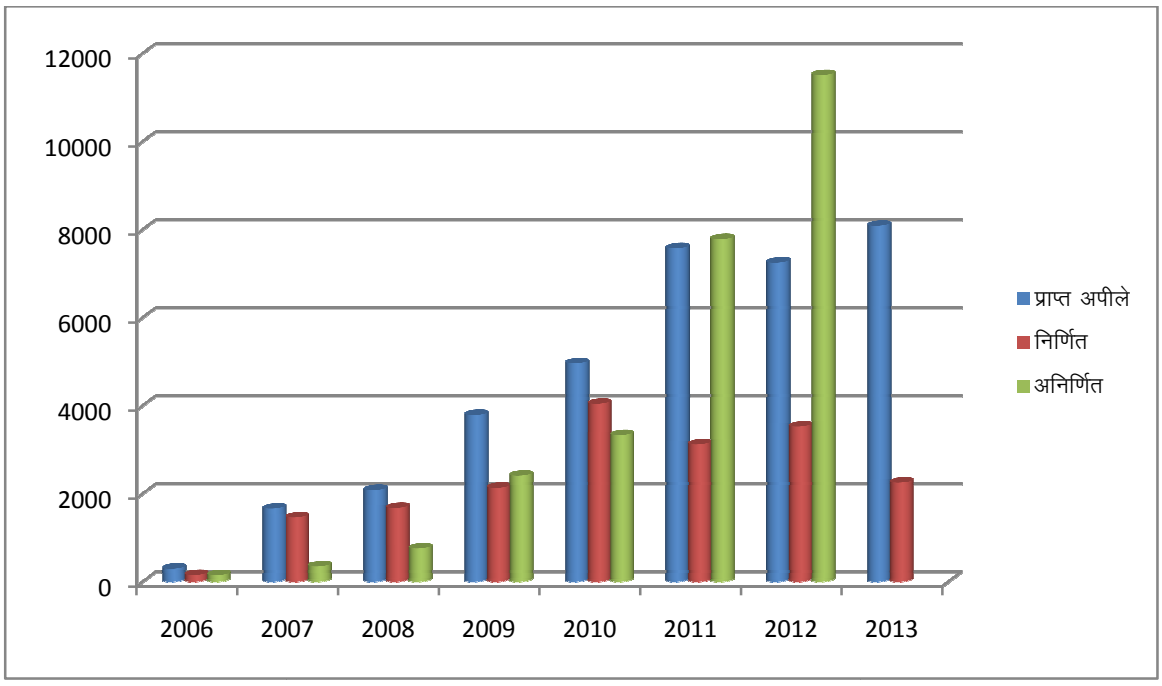

परिवादों का वर्षवार निस्तारण

वर्ष	प्राप्त शिकायतें	निस्तारित शिकायतें	अनिर्णित शिकायतें
2006	54	30	24
2007	290	147	167
2008	550	436	281
2009	395	462	214
2010	420	531	103
2011	580	287	396
2012	646	401	641
कुल योग	**2935**	**2294**	

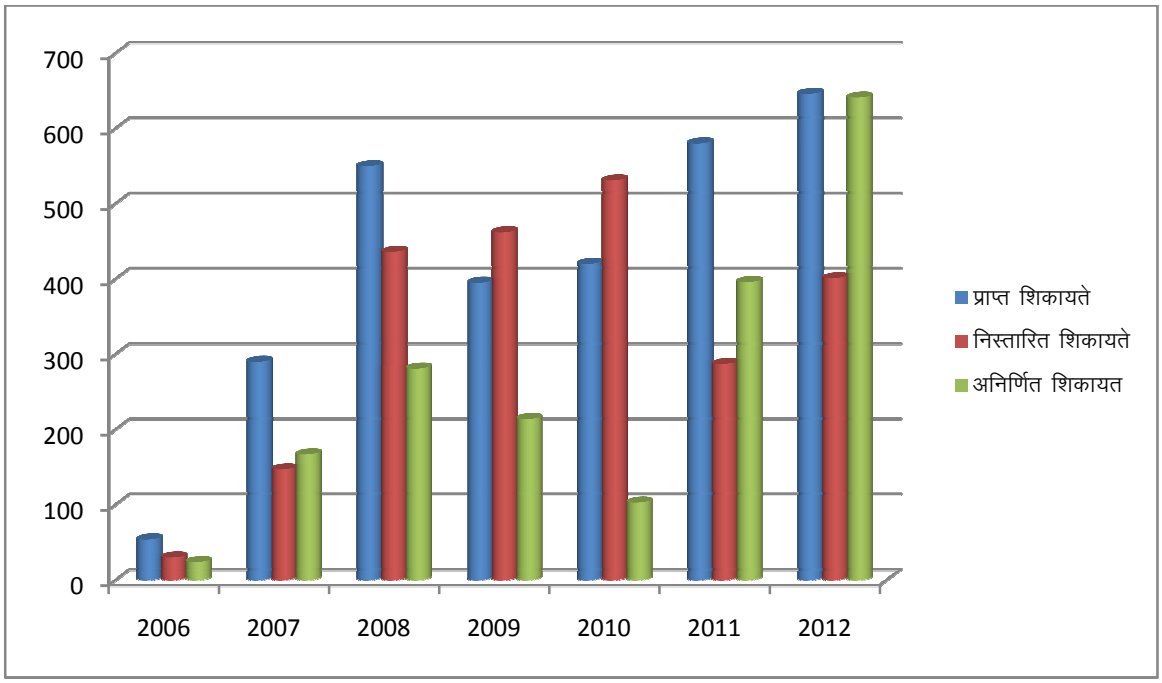

वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं मानव गरिमा के संरक्षण हेतु न्यायिक सक्रियता

संविधान निर्माताओं ने मौलिक अधिकार के अध्याय में अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रावधान किया है। लेकिन यह मौलिक अधिकार पूर्ण नहीं है, विधि के अन्तर्गत स्थापित प्रक्रिया से वैयक्तिक स्वंतत्रता के अधिकार से वंचित किया जा सकता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता की सीमा क्या हो, तथा विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया कैसी हो, के अर्थान्वयन एवं पुनरावलोकन के अन्तर्गत न्यायपालिका ने इस स्वतंत्रता को बहुत ही व्यापक बना दिया है, जो इसकी सक्रियता का स्पष्ट उदाहरण है। न्यायालय ने हजारों लोकहित वादों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुच्छेद 21 का आशय केवल शारीरिक स्वतंत्रता या अस्तित्व से नहीं है बल्कि इसमें न केवल जीवन की सभी न्यूनतम आवश्यकताओं जैसे रोटी, कपड़ा, मकान, घूमने फिरने, उठने बैठने का अधिकार है, साथ ही व्यक्ति को मानव गरिमा से शुद्ध पर्यावरण में जीने का अधिकार भी है और मानव गरिमा के लिए सभी आवश्यक पहलुओं को पूरा करना राज्य का दायित्व है।

अनुच्छेद 21 जो वैयक्तिक स्वतंत्रता या प्राण एवं दैहिक अधिकार का संरक्षण प्रदान करता है कि संदर्भ में मानव गरिमा के प्रति लोकहित वादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता के बारे में न्यायिक अधिकारिता के बारे में जाने बिना हम इस अधिकार की श्रेष्ठता को नहीं समझ सकते।

अनुच्छेद 21 विधायिका तथा कार्यपालिका दोनों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है– गोपालन के मामले उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि अनुच्छेद 21 केवल कार्यपालिका के कृत्यों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है, विधान मंडल के विरुद्ध नहीं। अतएव विधानमंडल कोई विधि पारित करके किसी व्यक्ति को प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता से वंचित कर सकता था किन्तु '**मेंनका गांधी बनाम भारत संघ**' – के मामले में उच्चतम न्यायालय ने गोपालन के मामले में दिए अपने निर्णय को उलट दिया और यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 21 केवल कार्यपालिका के कृत्यों के विरुद्ध नहीं वरन् विधायिका के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करता है। विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधि के अधीन विहित प्रक्रिया, जो किसी व्यक्ति को

उसके प्राण एवं दैहिक स्वाधीनता से वंचित करती है, उचित युक्तियुक्त एवं नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप होनी चाहिए।[1]

1. मेंनका गांधी बनाम भारत संघ वाद :-

'**मेंनका गांधी बनाम भारत संघ के मामले**' में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 को एक नया आयाम दिया है और इसके क्षेत्र को अत्यंत विशद बना दिया है। इसमें न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'प्राण' का अधिकार केवल भौतिक अस्तित्व तक सीमित नहीं है वरन् इसमें मानव गरिमा को बनाए रखते हुए जीने का अधिकार है।[2]

न्यायमूर्ति मुखर्जी ने दैहिक स्वतंत्रता के प्रति अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि साधारण भाषा में दैहिक स्वतंत्रता से व्यक्ति की देह या शरीर से संबंधित स्वतंत्रता अभिप्रेत है और इस अर्थ में दैहिक स्वतंत्रता शारीरिक अवरोध या प्रपीड़न का विरोधी है (ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य ए.आई.आर. 1950 एस.सी. 21)[3] शारीरिक या शारीरिक अवरोध या प्रपीडन से दण्डनीय न होने का नकारात्मक अधिकार दैहिक स्वतंत्रता का सार है, न कि भारतीय राज्यक्षेत्र के किसी भाग में केवल संचरण करने की ओर स्वतंत्रता का।

2. खड़गसिंह बनाम उत्तर प्रदेश वादः-

'**खड़गसिंह बनाम उत्तर प्रदेश के मामलें**' में न्यायमूर्ति आयंगर ने कहा कि दैहिक स्वतंत्रता का प्रयोग अनुच्छेद 21 में सारगर्भित पद के रूप में किया गया है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के अधिकार सम्मिलित है, जिनसे मिलकर किसी व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रताएं बनती है।[4]

3. फ्रेन्सिस कोरल बनाम भारत संघवाद :-

'**फ्रेन्सिस कोरल बनाम भारत संघ के मामले**' में मेंनका गांधी के निर्णय का अनुसरण करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 के अधीन ''प्राण'' शब्द से तात्पर्य पशुवत् जीवन से नहीं वरन् मानव जीवन से है।

इसका भौतिक अस्तित्व ही नहीं वरन् आध्यात्मिक अस्तित्व भी है। प्राण का अधिकार शरीर के अंगों की संरक्षा तक ही सीमित नहीं है जिससे जीवन का आनन्द मिलता है या आत्मा बाह्य जीवन से सम्पर्क स्थापित करती है। वरन इसमें ''मानव गरिमा के साथ जीने'' का अधिकार भी सम्मिलित है।[5]

4. प्रगति वर्गीज बनाम सिरील जार्ज वर्गीज वाद :-

'**प्रगति वर्गीज बनाम सिरील जार्ज वर्गीज के मामले**' में मुम्बई उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने भारतीय तलाक अधिनियम की धारा 10, 17 और 20 को इस आधार पर असंवैधानिक घोषित कर दिया कि इनसें ईसाई महिलाओं के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रदत्त 'मानव गरिमा से जीने' के अधिकार का उल्लंघन होता है। धारा 10 के अधीन एक ईसाई महिला को पति से तलाक लेते समय क्रूरता के साथ–साथ जारकर्म भी साबित करना अनिवार्य होता है जो प्रायः कठिन होता है। धारा 17 और 20 में यह उपबंध है कि जिला जज द्वारा तलाक का आदेश पारित किए जाने के पश्चात भी उच्च न्यायालय के 3 न्यायमूर्तियों की पीठ द्वारा उसकी पुष्टि किया जाना अनिवार्य है।[6]

5. ओलेगा तेलीस बनाम बाम्बे म्यूनिसिपल कार्पोरेशन वाद :-

'**ओलेगा तेलीस बनाम बाम्बे म्यूनिसिपल कार्पोरेशन मामलें**' में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट निर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत 'जीविकोपार्जन का अधिकार' भी मूल अधिकार है किन्तु यह एक आत्यंतिक अधिकार नहीं है इस पर उचित प्रक्रिया के पालन में युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाये जा सकते है।[7]

6. बिसेण्ट परिकुलंगरा बनाम भारत संघ वादः-

'**बिसेण्ट परिकुलंगरा बनाम भारत संघ के मामले**' में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 21 में मानव गरिमा को बनाये रखते हुए जीने के अधिकार में लोक स्वास्थ्य को बनाये रखने एवं उसमें सुधार करने का अधिकार भी आता है। एक स्वस्थ शरीर मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक है। सार्वजनिक स्वास्थ्य को

सुरक्षित रखना एवं सुधार के लिए कदम उठाना एक कल्याणकारी राज्य का परम कर्तव्य है।[8]

7. मोहिन जैन बनाम कर्नाटक राज्य वाद :-

'**मोहिन जैन बनाम कर्नाटक राज्य मामले**' में कर्नाटक राज्य ने राज्य के प्राइवेट मेंडिकल कॉलेजों द्वारा ली जाने वाली ट्यूशन फीस को विनियमित करने हेतु कर्नाटक एज्यूकेशन इंसटीट्यूशन एक्ट 1983 पारित किया। जिसके द्वारा बाहरी छात्रों के लिए निर्धारित ऊँची फीस दर के कारण उत्तर प्रदेश निवासी कु. माहिनी जैन ने प्रवेश पाने पर अनुच्छेद 21 के अधीन उक्त अधिनियम की वैधता को चुनौती दी। उच्च्तम न्यायालय के दो न्यायाधीशों की पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 के अतंर्गत 'प्राणों' के अधिकार में ''शिक्षा पाने का अधिकार'' भी मूल अधिकार है। कॉलेजों द्वारा कैपिटेशन फीस लेना नागरिकों को इस अधिकार से वंचित करता है अतः वह अवैध है।[9]

8.यूनीकृष्णन बनाम आंध्रप्रदेश राज्य वादः-

'**यूनीकृष्णन बनाम आंध्रप्रदेश राज्य के मामले**' में कॉलेज प्रबंधकों ने मोहिनी जैन वाद की पीठ के निर्णय पर पुनर्विचार हेतु आवेदन किया। पांच न्यायाधिपतियों की पूर्व पीठ ने 3–2 के बहुमत से निर्णय दिया कि शिक्षा पाने का अधिकार अनुच्छेद 21 के अधीन मूल अधिकार है किन्तु उस पर एक परिसीमा लगा दी कि यह अधिकार 14 वर्ष के बच्चों तक ही सीमित है। उच्च शिक्षा पाने के मामले में यह अधिकार राज्य की आर्थिक क्षमता पर निर्भर करेगा।[10]

9. टी.एम. पाई फाउण्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक वादः-

'**टी.एम. पाई फाउण्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक**' के मामलें में उच्चतम न्यायालय की 11 सदस्यीय संविधान पीठ ने यूनीकृष्ण मामले में दिए कैपीटेशन शुल्क और छात्रों के प्रवेश से संबंधित निर्णय को उलट दिया है।[11]

10. पी.यू.सी.एन बनाम भारत संघ वादः–

'पी.यू.सी.एन बनाम भारत संघ वाद' में शीर्ष न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसे लोग जो खाद्य सामग्री खरीदने की असमर्थता के कारण भूख से पीड़ित है उन्हें अनुच्छेद 21 के अधीन राज्य द्वारा खाद्य सामग्री मुफ्त पाने का मूल अधिकार है।[12]

11. महाराष्ट्र राज्य बनाम श्रीमति दूबल वादः–

'**महाराष्ट्र राज्य बनाम श्रीमति दूबल वाद**' में बम्बई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि दंड संहिता की धारा 309 जिसके अधीन आत्महत्या एक अपराध है संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन करती है अतः अवैध है।[13]

12. पी. रत्तीनाम बनाम भारत संघ वादः–

'**पी. रत्तीनाम बनाम भारत संघ वाद**' में उच्चतम न्यायालय की दो न्यायाधीशों की पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 के जीवन के अधिकार के अन्तर्गत मरने का अधिकार भी सम्मिलित है।[14]

13. ग्यान कौर बनाम पंजाब राज्य वादः–

'**ग्यान कौर बनाम पंजाब राज्य मामलें**' में उच्चतम न्यायालय की पांच सदस्यीय पीठ ने पी रत्तीनाम के निर्णय को उलटते हुये यह विनिश्चय किया कि अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत 'मरने का अधिकार' शामिल नहीं है अतः भारतीय दण्ड संहिता की धारा 309 और 306 संवैधानिक है और विधिमान्य है। यहाँ जीवन के अन्तिम क्षणों तक गरिमा से मरने के अधिकार की तुलना जीवन की सामान्य अवधि को कम करके अप्राकृतिक रूप से मरने के अधिकार से नहीं की जा सकती है।[15]

14. सुभाष कुमार बनाम बिहार राज्य वाद :–

'**सुभाष कुमार बनाम बिहार राज्य मामलें**' में यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रदूषण मुक्त जल और वायु के उपभोग का अधिकार अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत 'प्राण

का अधिकार' के अन्तर्गत सम्मिलित है और प्रत्येक नागरिक को जल और वायु प्रदूषण से बचाने के लिए अनुच्छेद 32 के अधीन लोकहित वाद संस्थित करने का अधिकार है।''[16]

15. राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग बनाम अरुणाचल प्रदेश राज्य वादः-

'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग बनाम अरुणाचल प्रदेश राज्य वाद' में चकमा शरणार्थियों की सुरक्षा हेतु मानवाधिकार आयोग की अपील पर निर्णय देते हुए न्यायालय ने कहा कि राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक मनुष्य के 'प्राण व दैहिक स्वाधीनता' की रक्षा करे चाहे वह नागरिक हो या अनागरिक।[17]

आर्थिक व सामाजिक सुधार एवं न्यायिक सक्रियता

पिछले तीन दशकों में भारत की न्याय व्यवस्था के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इन दशकों में न्यायपालिका का आकार, प्रक्रिया, व्यवहार, क्षेत्राधिकार और विशेष रूप से उसका लक्ष्य ही बदल गया है। वर्तमान में न्यायपालिका का लक्ष्य व्यक्तिगत न्याय के साथ सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। न्यायपालिका केवल न्याय प्रदान करने का ही कार्य नहीं कर रही है वरन् वह एक प्रशासक, सुधारक, अनुसंधानकर्त्ता और नीति–निर्धारक की भूमिका अदा कर रही है। दूसरे शब्दों में न्यायपालिका न्याय–संबंधी कार्यों के संपादन के अतिरिक्त ऐसे कार्य भी कर रही है जो कार्य मूलरूप से कार्यकारिणी द्वारा संपादित किए जाने चाहिए। न्यायपालिका द्वारा कार्यकारिणी की शक्तियों को प्रयोग करना ही न्यायिक सक्रियता कहलाता है।

न्यायिक सक्रियता कार्यकारिणी की निष्क्रियता का स्वाभाविक परिणाम है। कार्यकारिणी की बढ़ती हुई उदासीनता, स्वेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता तथा निष्क्रियता ने न्यायिक सक्रियता को जन्म दिया है। जेलों में वर्षों से सुनवाई की प्रतीक्षा में बंद कैदी; अवैध बंदीकरण, स्त्रियों, बच्चों और श्रमिकों का शोषण; जेल और महिला संरक्षण–गृहों की अमानवीय दशा, पुलिस–अत्याचार, बेगार, ऐसी असंख्य समस्याओं का निराकरण करने में कार्यकारिणी अप्रभावी सिद्ध हुई है।

कार्यकारिणी की इस निष्क्रियता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्थिति को न्यायपालिका ने विधि के शासन की विफलता माना। न्यायपालिका, जो पारंपरिक मूल्यों और मानकों का अनुपालन करते हुए अभी तक मूक दर्शक थी, विधि के शासन को सुरक्षित रखने के लिए उठ खड़ी हुई। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती के अनुसार ''विधिक व्यवस्था को बनाए रखना न्यायपालिका का कर्तव्य है। विधि के शासन को सुरक्षित रखने के लिए ''सरकार के प्रत्येक अंग को अपनी शक्तियों की सीमाओं में रहकर कार्य करना चाहिए तथा कानून अथवा संविधान द्वारा उन पर आरोपित दायित्वों को पूरा करना चाहिए।'' इस तरह न्यायपूर्ति भगवती ने न्यायिक सक्रियता को संवैधानिक आधार प्रदान किया।

समस्या यह थी कि न्यायपालिका किस तरह कार्यकारिणी के क्षेत्र में प्रवेश करके समाज में हो रहे अन्याय तथा शोषण को रोक सकती है और उन दशाओं को उत्पन्न कर सकती है जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिए आवश्यक हैं।

बाधक वे स्वरोपित प्रतिबंध (Self-resatraints) थे जो अमेंरिका की तरह भारत की न्यायपालिका ने भी अपने ऊपर लगा रखे थे।

इन प्रतिबंधों में सबसे मौलिक प्रतिबंध यह था कि न्यायालय में केवल वही व्यक्ति मुकदमा कर सकता है जिसके वैधानिक अधिकारों का अतिक्रमण हुआ हो इसे अधिकारिता (Standing) कहा जाता है। दूसरा प्रतिबंध यह था कि न्यायालय किसी भी अवैधानिकता के खिलाफ उस समय तक (संज्ञान) न लेगा जब तक कि वह मामला औपचारिक रूप से न्यायालय के सामने न लाया जाए। न्यायालय स्वयं से किसी मामले को नहीं उठा सकता था। इन प्रतिबंधों का उद्देश्य न्यायपालिका द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को सीमित रूप से प्रयोग करना था।

संविधान लागू होने के बाद 25–30 वर्षों तक भारत की न्यायपालिका ने भी अमेंरिकी न्यायपालिका द्वारा प्रतिपादित प्रतिबंधों का अनुपालन करते हुए नकारात्मक भूमिका अदा की। लेकिन जब कार्यपालिका की उदासीनता और स्वेच्छाचारिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई, तो न्यायपालिका ने अपने पारंपरिक प्रतिबंधों को शिथिल करके कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया। वास्तविकता

यह है कि अधिकारिता (Standing) के नियम को शिथिल करने का परिणाम ही न्यायपालिका की सक्रियता के रूप में सामने आया है।

(1) एशियाड श्रमिक केस, 1982 :-

सितम्बर 1982 में सर्वोच्च न्यायालय ने 'एशियाड श्रमिक' नामक केस में एक ऐतिहासिक निर्णय दिया। एशियाड के सिलसिले में जो निर्माण चल रहा था उसमें हजारों श्रमिक लगे हुए थे। इन लोगों को निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी दी गयी। जिन लोगों से काम लिया गया उनमें छोटे–छोटे बच्चे भी शामिल थे। एक समाजसेवी संस्था पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स ने सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इस संस्था ने एक पत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय को सूचित किया था कि एशियाड प्रोजेक्ट में काम करने वाले श्रमिकों के मूल अधिकारों और विधिक अधिकारों का उल्लंघन किया गया है तथा विभिन्न श्रमिक विधियों का उल्लंघन किया गया है और श्रमिक न्यूनतम मजदूरी नहीं दी गयी है। इस पत्र को अनुच्छेद 32 के अधीन एक रिट के रूप में स्वीकार किया गया और न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि देश के श्रमिक वर्ग वे चाहे जिस क्षेत्र में हों, सीधे या किसी संगठन के माध्यम से अपने संवैधानिक एवं विधिक अधिकारों की संरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय में आवेदन दे सकते हैं। उन्हें न्यायालय के प्रक्रियात्मक नियमों का भी पालन करना आवश्यक नहीं। वे न्यायालय को अपने अधिकारों के उल्लंघन के बारे में पत्र द्वारा सूचित कर सकते हैं और न्यायालय का यह परम कर्तव्य है कि वह श्रमिकों के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहारों को रोकने के लिए सम्बन्धित प्राधिकारियों (भारत सरकार, दिल्ली प्रशासन और ठेकेदारों) को समुचित निर्देश दे ताकि विभिन्न श्रमिक विधियों को भलीभाँति लागू किया जाये और श्रमिकों का शोषण न हो। इस मामले में दिल्ली प्रशासन का कहना था कि कम मजदूरी दिये जाने के लिए ठेकेदार जिम्मेंदार है, प्रशासन नहीं। निर्धारित मजदूरी से कम मजदूरी दिये जाने को न्यायालय ने 'जबरी मजदूरी' (forced labour) बतलाया। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा था कि जबरी मजदूरी का अर्थ केवल यह नहीं है कि जोर–जबर्दस्ती द्वारा किसी से काम लिया जाये। ''यदि

आर्थिक मजबूरी की वजह से किसी को बहुत कम मजदूरी से सन्तोष करना पड़े तो इसे भी 'जबरी मजदूरी' ही कहेंगे।''[18]

(2) बन्धुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ :-

श्रमिकों के हितों से संबंधित एक अन्य मुकदमा 1982 में सर्वोच्च न्यायालय के सामने आया। इस मामलों का प्रारम्भ ''बन्धुआ मुक्ति मोर्चा'' नामक एक संगठन के अध्यक्ष स्वामी अग्निवेश द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को लिखे गए एक पत्र में हुआ। बन्धुआ मुक्ति मोर्चा द्वारा फरीदाबाद (हरियाणा) में पत्थर की खानों में कार्यरत मजदूरों का एक सर्वेक्षण करने पर यह पाया गया कि उन खानों में काम करने वाले मजदूर अत्यधिक अमानवीय एवं पाश्विक दशाओं में कार्य कर रहे हैं और उन्हें बन्धुआ बना कर रखा गया है।

न्यायालय ने पत्र को रिट मानकर दो अधिवक्ताओं का एक आयोग नियुक्त किया, जिसमें जाँच करके न्यायालय को रिपोर्ट दी कि संस्था का आरोप सत्य है। न्यायपूर्ति श्री भगवती ने बहुमत का निर्णय सुनाते हुए, अभिनिर्धारित करते हुए हरियाणा सरकार को बन्धुआ मजदूरों को रिहा कराने के आदेश देने के साथ यह भी सुनिश्चित करने के आदेश दिये कि श्रमिकों के लिए कार्य की मानवीय दशाओं को उत्पन्न किया जाए।[19]

(3) तिलोनिया (अजमेंर जिला) के श्रमिकों का केस

तिलोनिया के श्रमिकों का मामला बंकर राय ने, जो कि वहाँ एक शोध संस्थान चलाते है, न्यायालय के समक्ष रखा। उनका कहना है कि वहाँ जो हरिजन महिलाएं कार्य करती हैं उन्हें कम मजदूरी दी जाती है। यह मजदूरी न्यूनतम मजदूरी से भी कम है और उसमें से भी कुछ मजदूरी की पेनल्टी क्लॉज के अन्तर्गत कटौती कर दी जाती है। न्यायालय का अभिमत है कि न्यूनतम मजदूरी दिये बिना काम लेना अनुच्छेद 23 का उल्लंघन है और यह एक प्रकार से बेगार है। यह मामला अभी न्यायालय के पास विचाराधीन है और यह एक सार्वजनिक हित

संरक्षण याचिका है। यदि यह याचिका सफल होती है तो हजारों श्रमिकों को लाभ होगा।[20]

(4) पी. स्वामी बनाम आंध्रप्रदेश वाद

पी. स्वामी बनाम आंध्रप्रदेश के मामले में लोकहितवाद को स्वीकार करते हुये, उच्चतम न्यायालय में मुक्त किये गये बंधुआ श्रमिकों को पर्याप्त मात्रा में पुनर्निवास राशि देने के निर्देश दिये।

रंगनाथ मिश्र ने उच्चतम न्यायालय की ओर से बोलते हुए कहा कि मुक्त किये गये बंधुआ मजदूरों को पर्याप्त पुनर्निवास की राशि दी जानी चाहिए अन्यथा वे पुनः बंधुआ प्रथा के शिकार बन जायेगें।

अतः न्यायालय की पहल पर करीब 2000 पत्थर की खदान में कार्यरत मजदूरों की बंधुआ मजदूर के रूप में पहचान की गयी। राज्य सरकार ने न्यायालय को सूचित किया कि उनमें से 1417 को बंधक प्रथा से मुक्त कर, उनके स्वयं के राज्य तमिलनाडु, उड़ीसा व कर्नाटक भेज दिया गया है।[21]

(5) मुकेश अड़वानी बनाम मध्यप्रदेश राज्य वाद

'मुकेश अड़वानी बनाम मध्यप्रदेश राज्य के मामले' में उच्चतम न्यायालय ने भोपाल के डिस्ट्रिक जज को बंधुआ मजदूरों की स्थिति के बारे में जाँच करने के निर्देश दिये।

जेल-विधान से संबंधित न्यायिक सक्रियता

बिहार (भागलपुर) जेल के विचाराधीन कैदियों का मामला :-

इस मामले की शुरुआत पुलिस आयोग के सदस्य के.एफ. रुस्तमजी द्वारा इण्डियन एक्सप्रेस में लिखे गये एक लेख से हुई। इस लेख में उन्होंने लिखा कि बिहार की जेलों में सैकड़ों कैदी सड़ रहे हैं, उनके मामले वर्षों से विचाराधीन पड़े है। लेख में ऐसे सात कैदियों के नाम दिये गये, जिन्हें जेल में पांच वर्ष से भी

अधिक समय हो गया था और उन पर अभी तक मुकदमा प्रारम्भ नहीं हुआ। इस खबर के आधार पर एडवोकेट श्रीमती हिंगोरानी ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की। प्रेस की खबर के आधार पर उन्होंने भी ऐसे सात विचाराधीन कैदियों के नाम का उल्लेख याचिका में किया था किन्तु याचिका में कहा गया कि ऐसे सैकड़ों कैदी हैं जो बिहार की जेलों में वर्षों से सड़ रहे हैं और उनके मामलों की सुनवाई प्रारम्भ नहीं हुई है। इस याचिका के आधार पर भारत का सर्वोच्च न्यायालय सक्रिय हो गया और न्यायिक सक्रियता का परिचय दिया। न्यायालय ने बिहार राज्य को नोटिस दिये और उससे पूछा कि वह उन कैदियों की सूचीमय हलफनामे सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत करें जिनके मामले वर्षों से विचाराधीन हैं तथा जिनको जेलों में 18 महीनों से अधिक का समय व्यतीत हो चुका है। जब बिहार सरकार ने हलफनामा प्रस्तुत किया तो पता चला कि बिहार की जेलों में इस प्रकार के हजारों कैदी वर्षों से सड़ रहे है। यह याचिका कैदियों की ओर से नहीं थी, फिर भी सर्वोच्च न्यायालय ने इस याचिका के माध्यम से हजारों कैदियों को मुक्त करवाया। सर्वोच्च न्यायालय ने पूछा कि इतने सारे व्यक्ति जेलो में क्यों भरे हुए है? इन कैदियों को जमानत पर क्यों नहीं छोड़ा गया? आमतौर से जब किसी व्यक्ति के मामले पर विचार करना होता है और विचार में अधिक समय लगने की सम्भावना होती है तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाता है। इन कैदियों को प्रति 24 दिन बाद मजिस्ट्रेट के सामने लाने का नियम है, किन्तु वे जमानत के लिए आवेदन प्रस्तुत करने में असमर्थ थे। चूँकि वे इतने गरीब थे कि कानूनी सहायता प्राप्त करने में असमर्थ रहे थे। यदि न्यायालय जमानत के सिद्धान्त भी निर्धारित कर दे, तब भी ऐसे सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि फौजदारी मुकदमों में भी अपराधी को कानूनी सहायता प्राप्त करने का मौलिक अधिकार है। उसे सहायता अनिवार्य रूप से प्रदान की जानी चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिकार की रचना 'रचनात्मक व्याख्या की प्रक्रिया के अन्तर्गत की, जबकि तथ्य है कि 'कानूनी सहायता' प्राप्त करना भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकार नहीं है।

भागलपुर नेत्रहीनता का मामला :-

11 अक्टूबर 1980 को दैनिक समाचार पत्र 'इंडियन एक्सप्रेस' में भागलपुर जेल में कैदियों को नैत्रहीन किए जाने की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस जेल में कैदियों को अंधा बनाने का कार्य 1979 में प्रारंभ हुआ था और सबसे पहले एक हरिजन कैदी को अंधा बनाया गया था । सर्वोच्च न्यायालय ने अपने आदेश में अंधे बनाए गए कैदियों के इलाज आदि के लिए विशेष आदेश दिए और यह कहा कि उन पर होने वाला सारा खर्च बिहार सरकार को वहन करना होगा। इस मामले में न्यायपालिका ने एक प्रशासक की भूमिका निभाई और इस बात के भी निर्देश दिए कि उन अंधे लोगों को कहाँ रखा जाएगा और उनके इलाज आदि की व्यवस्था किस प्रकार की जाएगी ?[22]

रूदल शाह बनाम बिहार राज्य 1981:-

यह मामला रुदल शाह नामक व्यक्ति की जेल में अवैध हिरासत (illegal detention) का था। तथ्य इस प्रकार है कि सेशन जज, मुजफ्फरपुर (बिहार) ने किसी मुकदमें के आरोपी रुदल शाह नामक व्यक्ति को 3 जून 1968 को बरी कर दिया, लेकिन 14 साल तक उसें जेल से रिहा नही किया गया। इसके विरुद्ध एक जनहित याचिका दायर की गई । सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस याचिका की सुनवाई प्रारंभ होने से पहले ही प्रसाशन ने रुदल शाह को रिहा कर दिया । याचिका में याची का इलाज कराने और उसके पुर्नवास के लिए धन देने तथा अवैध बंदीकरण के लिए मुआवजा देने की माँग की गई थी। इस मामले में बिहार सरकार ने रुदल शाह को 35,000/—रुपये की क्षतिपूर्ति दी।

सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन वाद

'सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन' के मामले में एक आजीवन कारावास का दण्ड भुगत रहे कैदी के साथ जेल वार्डन द्वारा क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार के

विरुद्ध एक दूसरे कैदी ने पत्र द्वारा न्यायालय को इस अमानवीय घटना की सूचना भेजी। न्यायालय ने इस पत्र को बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट मानकर जेल–प्राधिकारियों के विरुद्ध निर्देश जारी किया कि उक्त कैदी के साथ अमानवीय व्यवहार न किया जाए और अपराधी व्यक्ति को दण्ड देने की उचित कार्यवाही की जाये। बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट का प्रयोग केवल अवैध कारावास से विमुक्ति के लिए ही नहीं वरन् जेल में कैदियों के विरुद्ध किये गये सभी प्रकार के अमानवीय व्यवहारों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने के लिए भी किया जा सकता है।

बच्चों से संबंधित न्यायिक सक्रियता

शीला बर्से तथा अन्य बनाय भारत सरकार 1986: –

यह याचिका उन समस्त बच्चों की ओर से दायर की गई थी, जो देश की विभिन्न जेलो में बंद थे । यह याचिका 16 वर्ष की आयु से कम के बच्चों को जेल से रिहा कराने तथा बच्चो के लिए बनाए गए संरक्षण–गृह (Homes) रिमाण्ड होम्स, आब्जरवेशन होम्स आदि की स्थिति और आवासीय दशाओं के बारे में सूचना प्राप्त करने और उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए निर्देश देने हेतु दायर की गई थी। इस पर न्यायालय ने देश भर के जिला एवं सेशन जजों को निर्देशित किया कि वे महीने में कम से कम एक बार जेलों का निरीक्षण करके बाल अपराधियों की देखभाल करें। न्यायालय इस मामले में इतना संवेदनशील था कि उसने स्वयं याची को जेलों, रिमाण्ड गृहों को आकर देखने और उनकी स्थिति के विषय में प्रतिवेदन देने की अनुमति प्रदान की और इस पर आने वाले व्यय के लिए भारत सरकार द्वारा 10,000/–रुपये का अनुदान देने का आदेश दिया ।

इस मामले में न्यायालय ने बंदी बच्चो की तरफ से एक सामाजिक कार्यकर्ता को याची बनने की अनुमति दी, उसी को तथ्य एकत्र करने के लिए जेलों आदि का निरीक्षण करने का आदेश दिया और इस पर होने वाले व्यय के लिए सरकार से 10 हजार रुपये दिलवाए। इस मामले में न्यायालय ने सरकार को निर्देश दिया कि वह बच्चों के लिए रिमाण्ड गृहों की संख्या बढाए ओर बच्चों को जेल में न रखा जाए।

न्यायालय ने बच्चों के मुकदमों की अतिशीघ्र सुनवाई के निर्देश दिए और यह भी कहा कि बाल अपराधियों के मामलों की सुनवाई बाल न्यायालयों में ही की जानी चाहिए और इनके मामले की जाँच अधिक से अधिक तीन साल के अंदर पूरी हो जानी चाहिए।

इस मुकदमें का महत्व इस कारण है कि इसमें पूरे देश के बाल अपराधियों के हितों को सुरक्षित करने का मामला उठाया गया था।

महिलाओं के हितों से न्यायिक सक्रियता

महिलाओं के हितो को सुरक्षा प्रदान करने के लिए बहुत सें जनहित–विवाद सर्वोच्च न्यायालय के सामने लाए गए जिनमें से कुछ निम्नलिखित है–

(1) 1982 का दिल्ली के नारी निकेतन का मामला:-

1982 में श्रीमती चिन्नाम्मू शिवदास ने सर्वोच्च न्यायालय को एक पत्र लिखा जिसके द्वारा दिल्ली नारी निकेतन नामक एक महिला उद्धार गृह की अमानवीय दशा की ओंर सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान आकर्षित कराया गया था। न्यायालय ने इस पत्र को एक याचिका के रुप में मान्यता देकर उसका निस्तारण किया। इस मामले में होम की पाशविक स्थिति का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया था कि इस होम में महिलाओं को उनकी विशेष अवधि में सेनेट्री नेपकिन्स उपलब्ध कराने का आदेश दिया। न्यायपालिका महिला–अधिकारो के प्रति कितनी जागरुक और चिन्तित रही है। यह इस मामले से स्पष्ट होता है।[23]

(2) उपेन्द्र बख्शी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य वाद

एक अन्य मुकदमे उपेन्द्र बख्शी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' द्वारा आगरा में स्थित 'महिला प्रोटेक्टिव होम' में व्याप्त अमानवीय दशाओं के प्रति न्ययालय का ध्यान आकृष्ट कराया गया था। याची की ओर से यह कहा गया था कि उक्त होम रहने वाली लडकियो के लिए स्नान गृह नही है और शौचालयो में दरवाजें तक नही है।

(3) आगरा प्रोटेक्शन होम केस

'आगरा प्रोटेक्शन होम' केस में लगभग 70–80 लड़कियां रहती थी। इन लड़कियों के बारे में इण्डियन एक्सप्रेस अखबार में यह खबर छपी कि उनके साथ मानवीय स्तर का व्यवहार नहीं हो रहा है। इन लड़कियों के रहने और कार्य करने के लिए मनुष्योचित परिस्थितियाँ प्रदान नहीं की गयी है। यहाँ तक कि उनके लिए कोई स्नानघर नहीं है और स्नानाघर भी बिना दरवाजे के है। इन लड़कियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे अपने अधिकारों के लिए न्यायालय में जा सकें चूंकि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से वे अलाभकर स्थिति में थीं। ऐसी स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय न्यायालय ने कानून के दो प्रोफेसरों को इन लड़कियों की ओर से पैरवी करने की स्वीकृति प्रदान की।

समाज के कमजोर वर्गों के हित न्यायिक सक्रियता

जनहित विवादों का मूल उद्देश्य समाज के उन वर्गों को न्याय देना है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निर्बल है। इस वर्ग से संबंधित कुछ मामलों जैसे श्रमिक–शोषण का उल्लेख पीछे किया जा चुका है यहाँ एक ऐसे मामले का उल्लेख करना है जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने नीति–निर्माता की भूमिका अदा की।

(1) 'आजाद रिक्शा पुलर्स यूनियन अमृतसर बनाम पंजाब राज्य'

1976 में पंजाब सरकार ने रिक्शा चालकों की सहायता हेतु एक अधिनियम पारित किया जिसका उद्देश्य रिक्शा मालिकों के हाथों रिक्शा चालकों के हो रहे शोषण को रोकना था। इस एक्ट में यह प्रावधान था कि रिक्शा मालिक अपना रिक्शा किसी दूसरे को किराये पर न देंगे। रिक्शा वही चला सकेगें, जिनके पास उनका अपना रिक्शा हो। इस अधिनियम का तुरन्त प्रभाव यह पड़ा कि बड़ी संख्या में रिक्शा चलाने वाले अपनी दैनिक आजीविका से वंचित हो गए। उपर्युक्त रिक्शा चालक यूनियन ने सर्वोच्च न्यायालय में इस अधिनियम को चुनौती दी। सर्वोच्च न्यायालय ने विवादित अधिनियम को अवैध घोषित करने के बजाए पंजाब नेशनल बैंक द्वारा रिक्शा खरीदने के लिए ऋण देने की एक योजना तैयार करने हेतु उक्त

बैंक को आवश्यक निर्देश जारी कर दिए। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने एक नयी रोजगार–नीति का प्रतिपादन किया और असंख्य रिक्शा चालकों को बेरोजगार होने से बचा लिया।[24]

(2) मुम्बई के फुटपाथ आवासियों (ओल्गा तेलिस बनाम बम्बई म्युनिसिपल कारपोरेशन, 1985)

यह मामला भी सार्वजनिक हित संरक्षण से सम्बन्धित है। मुख्य न्यायाधीश के सामने एक पत्रकार ओल्गा तेलिस ने बम्बई के पटरीवासियों का मामला उठाया और न्यायालय ने अन्तरिम आदेश जारी करके पटरीवासियों की सुरक्षा का इन्तजाम किया।

(3) चमारों का केस

चमारों का केस यह सिद्ध करता है कि सर्वोच्च न्यायालय समाज के दुर्बल वर्गों की सुरक्षा के लिए कितना जागरूक है। यह मामला उत्तर प्रदेश के कतिपय जिलों के चमारों का है। इन जिलों में चमार लोग वर्षों से चमड़े, मरे हुए पशुओं की हड्डियाँ आदि बेचने के पुश्तैनी धन्धे में लगे हुए है। जिला परिषदों ने हड्डियां इकट्ठी करने व बेचने के कार्य को ठेके पर देना प्रारम्भ कर दिया। चमार लोग यह कहते हुए न्यायालय में उपस्थित हुए कि इससे उनकी जीविका प्रभावित होती है क्योंकि ठेके अब ठेकेदारों को दिये जायेंगे जो केवल थोड़े–से चयनित चमारों के माध्यम से यह कार्य करेंगे। ये चमार उनके नियन्त्रण में होंगे और इस प्रकार उनका आर्थिक शोषण होगा। ठेकेदार उनको न्यूनतम मजदूरी भी नहीं देंगे क्योंकि ठेके में इसका कोई उल्लेख नहीं है। इससे लघु–जमींदारी प्रथा पनपेगी। इस मामले की सुनवाई इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने की और एक बैंच ने रिट याचिका को खारिज कर दिया। मामला उसके बाद सर्वोच्च न्यायालय के सामने लाया गया। न्यायालय के पास चमारों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति के बारे में पूरे तथ्य नहीं थे। न्यायालय इस तथ्य से भी अपरिचित था कि चमार लोग किस प्रकार से अपना पुश्तैनी धन्धा करते है और ठेकेदारों की नियुक्ति से उनके पुश्तैनी धन्धे पर क्या

प्रभाव पड़ने वाला है? सर्वोच्च न्यायालय ने इसकी जाँच करने के लिए एक जाँच आयोग नियुक्त किया जिसमें डॉ. उपेन्द्र बक्शी तथा कृष्णा महाजन जैसे कानूनविद् रखे गये। इस जाँच आयोग ने कानपुर जिले के सरसोल उपखण्ड में जाकर यह पता लगाया कि चमार लोग मृत जानवरों की चमड़ी का व्यवसाय किस प्रकार करते हैं? ठेकेदारी प्रणाली से उनकी जीविकोपार्जन की वृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है? ठेकेदारी प्रणाली में कितने लोग काम करते हैं आदि। न्यायालय ने राज्य सरकार को निर्देश दिया कि जाँच आयोग का खर्चा जमा करायें।

इस प्रकार इस मुकदमे से पता चलता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने समाज के दुर्बल वर्गों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति का पता लगाने के लिए नयी प्रणाली की शुरूआत की। राज्य सरकार से न्यायालय ने कहा कि वह अपने सहकारी विभाग को निर्देश दे कि वह चमारों को सहकारी संघों में संगठित करके उनमें ठेका लेने की सामर्थ्य विकसित करें ताकि बाह्य व्यक्तियों के बजाय वे स्वयं ठेका ले सकें।

(4) पुलिस ड्राइवर का केस –

सर्वोच्च न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की बैंच ने दिल्ली पुलिस के एक ड्राइवर सिपाही की उस रिट याचिका को स्वीकार लिया जिसमें अन्य विभागों के ड्राइवरों की तुलना में उसको नीची वेतन श्रृंखला देने को चुनौती दी गयी है। रिट याचिका स्वीकार करते हुए बैंच ने कहा कि अनुच्छेद 14 में राज्यों को स्पष्ट निर्देश है कि 'कानून के सामने समानता' के सिद्धान्त से किसी व्यक्ति को वंचित नहीं रखा जा सकता। न्यायमूर्ति चिनप्पा रेड्डी, ए.पी. सेन व बहारुल इस्लाम ने अपने निर्णय में कहा कि यदि समान काम के लिए समान वेतन न दिया जाये तो संविधान में निहित समानता का सिद्धान्त लोगों के लिए बेमानी हो जायेगा। बैंच ने रणधीरसिंह के इस तर्क को स्वीकार किया कि वह दूसरे विभागों में कार्यरत ड्राइवरों से कम काम नहीं करता। न्यायालय ने केन्द्रीय सरकार को निर्देश दिया कि नारायण सिंह को भी रेलवे सुरक्षा दल के ड्राइवरों को दिया जाने वाला वेतन ही दे। न्यायाधीशों ने आदेश दिया कि उच्च वेतन श्रृंखला 1 जनवरी, 1973 से दी जानी चाहिए जिस दिन वेतन आयोग की सिफारिश अमल में लायी गयी थी। न्यायालय ने कहा कि

दिल्ली पुलिस के ड्राइवरों में वर्गीकरण व उनको नीची वेतन श्रृंखला का सुझाव अनुचित और तर्कहीन है।

निर्बल वर्गो से संबंधित अन्य बहुत से मामलों में से ही एक **'बाबू बिगहा का मामला',** 1983 जिसने हरिजनों के साथ हिंसात्मक व्यवहार किया गया था आदि ये सर्वोच्च न्यायालय ने सकारात्मक कार्य किए।

पर्यावरण सरंक्षण एवं न्यायिक सक्रियता

औद्योगिक प्रदूषण कम करने के लिए इस दशक में अनेक जनहित याचिकाओं के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय ने ऐतिहासिक निर्णय दिए हैं। देश भर में प्रदूषण फैलाने वाली 10,000 से ज्यादा औद्योगिक इकाइयों पर सन् 1995 में न्यायपालिका का चाबुक पड़ा। सर्वोच्च न्यायालय और गुजरात उच्च न्यायालय के निर्णय के बाद वर्ष 1995–96 में दस हजार से ज्यादा उद्योगों को या तो बन्द कर दिया गया या उन्हें चेतावनी दी गई या अन्यत्र जाने को कहा गया या फिर प्रदूषण नियन्त्रित करने को कहा गया। न्यायिक हस्तक्षेप ने सुस्त प्रदूषण नियन्त्रण बोर्डों और शहरी निकायों को झकझोर दिया और सरकारी एजेंसियां अब समाधान ढूंढने में उद्योगों की सहायता करने लगी है।

1995 में प्रसिद्ध वकील एम.सी. मेहता की अपील पर न्यायालय ने अपने आदेश में कहा कि जूता और ढलाई उद्योग से आगरा का पर्यावरण दूषित हो रहा है, अतः वहाँ पर्यावरण को बहाल करने के लिए इन उद्योगों को स्थानान्तरित किया जाए। ताजमहल के आस–पास आयरन बाउंड्रियों और ईंट भट्टों के कारण इस ऐतिहासिक इमारत को खतरा बढ़ गया, अतः अगस्त 1995 में 508 उद्योगों को प्रदूषण घटाने या फैक्टरी बंदी का आदेश दिया। फरवरी 1995 में कोलकाता के 30 बड़े उद्योगों को प्रदूषण कम करने के लिए तीन माह की मोहलत दी गई, हावड़ा की 350 आयरन बाउंड्रियों को चेतावनी दी गई और 538 चमड़ा इकाइयों को कोलकाता से बाहर ले जाने का हुक्म दिया गया। प्रदूषण पर न्यायिक सक्रियता के कारण सबसे बड़ा संकट दिल्ली के उद्योगों पर मंडरा रहा है, जहाँ

2064 प्रदूषणकारी और भारी उद्योगों को दिल्ली से बाहर जाना है या फिर बंद होना है।

1. बंगलौर मेडिकल ट्रस्ट बनाम बी.एस. मुडप्पा वाद :-

'बंगलौर मेंडिकल ट्रस्ट बनाम बी.एस. मुडप्पा' के मामले में बिना लोकहित का मूल्यांकन किए लोक उद्यान को नर्सिग होम में परिवर्तित करने के निर्णय को मनमाना एवं विवेकीय शक्ति के दुरूपयोग एवं पर्यावरण प्रदूषण के आधार पर समता के अधिकार का उल्लंघन माना गया।

2. अनुच्छेद 14 से सम्बन्धित पर्यावरणीय मामले :-

विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत सरकार के सकारात्मक तथा नकारात्मक कृत्यों का मूल्यांकन करते समय पर्यावरण संरक्षण पर ध्यान दिया है। उड़ीसा उच्च न्यायालय ने चिल्का झील में मछुआरों के पारम्परिक अधिकारों को संरक्षित करने हेतु बनायी गयी नीति को वैध घोषित किया है। जबकि मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने जल प्रदूषण कारित करने के आधार पर प्रदूषण नियंत्रक बोर्ड द्वारा उद्योगों के उत्पादन को रोकने के निर्देश को इस आधार पर अवैध घोषित किया कि निर्णय लेने की प्रक्रिया में गम्भीर त्रुटि थी। निर्णय बाह्य और असम्बद्ध आधारों पर लिया गया था तथा प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त की अवहेलना की गयी थी। दूसरी तरफ दिल्ली उच्च न्यायालय ने लुप्तप्रायः प्रजातियों में व्याप्त निबंध को उचित ठहराया।

3. रूरल लिटिगेशन एण्ड इन्टाइटिलमेण्ट केन्द्र देहरादून बनाम उत्तर प्रदेश वाद :-

'रूरल लिटिगेशन एण्ड इन्टाइटिलमेण्ट केन्द्र देहरादून बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' मामले में देहरादून के आस–पास पत्थर की खानों के कारण आस–पास के पर्यावरण को प्रदुषित होने का खतरा उत्पन्न हो गया। उच्चतम न्यायालय ने एक समिति नियुक्त की, जिसने इसकी पुष्टि की। परिणामतः उच्च न्यायालय ने पत्थर की खानों में खुदाई का कार्य बन्द कर देने का आदेश दिया।[25]

4. एम.सी . मेहता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया वाद :-

'एम.सी. मेहता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया' के मामले में श्री राय फूड फर्टीलाइजर कम्पनी की एक इकाई को ओलियम नामक घातक गैस को बनाने से तब तक रोका, जब तक कि वह गैस रिसाव रोकने का आवश्यक उपाय नहीं कर लेती।[26]

एक अन्य मामले में पिटीशनर कारखाना द्वारा सार्वजनिक सड़कों और नालियों से गन्दा पानी छोडने पर गुजरात उच्च न्यायालय ने व्यवसाय के अधिकार एवं लोक स्वास्थ्य को उत्पन्न खतरे के बीच संतुलन कायम करने का प्रयास किया।

5. एम. सी. मेहता बनाम भारत संघ वाद (ताजमहल का मामला)

'एम.सी. मेहता बनाम भारत संघ' (ताज महल का मामला) एनियल एण्ड एनवायरमेण्ट लीगल डिफेन्स फण्ड बनाम भारत संघ और टी. एन. गोदावर्मन बनाम भारत संघ में उच्चतम न्यायालय ने अभिमत जाहिर किया कि वाणिज्यिक संस्थानों को अनुमति देने से पूर्व पर्यावरण प्रभाव का आंकलन होना चाहिए और अन्तर्पीढ़ी साभ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अन्य :

- **'सरवानन्द सोनवाल बनाम भारत संघ'** के मामले में लोकहित वाद फाइल करके असम में बांगलादेशी घुसपैठियों के निर्धारण एवं निष्कासन के लिए पारित अवैध प्रवासी अधिनियम 1983 की विधि मान्यता को चुनौती दी गयी।''[27]
- **'मुरली एस देवरा बनाम भारत संघ' (2002)** के मामले में महाराष्ट्र राज्य कांग्रेसी नेता मुरली देवरा ने जनहितवाद के माध्यम से उच्चतम न्यायालय के समक्ष इस समस्या को उठाया कि धुम्रपान से सर्वसाधारण के स्वास्थ्य पर बहुत गंभीर प्रभाव पड रहा है। अतः न्यायालय उसे रोकने का आदेश है।[28]
- **'एम सी मेहता बनाम तमिलनाडु राज्य' (1996)** के मामले में ऐतिहासिक महत्व के निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि 14 वर्ष से कम आयु

के बालको को किसी भी कारखाने, खान या अन्य संकटपूर्ण कार्य में नियुक्त नहीं किया जायेगा।[29]

- **केरल विश्वविद्यालय बनाम काउन्सिल प्रिसींपल ऑफ कॉलेजेज,'** केरल एवं अन्य 21 मई 2007 को उच्चतम न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में देश की सभी शिक्षण संस्थाओं में रैगिंग पर रोक लगा दी है तथा राज्य सरकार को इस मामले में आवश्यक विधि बनाने के निर्देश दिये।''[30]
- **'ध्वनि प्रदुषण पर रोक 'इन री ध्वनि प्रदुषण (2005) इस मामले'** में याचिकाकर्ता अनिल कुमार मित्तल जो पेशे से इंजीनियर थे, लोकहितवाद फाइल करके न्यायालय से सरकार को ध्वनि प्रदूषण रोकने का निवेदन किया था। इस मामले से उच्चतम न्यायालय ने सरकार को निर्देश दिया कि देश भर में व्याप्त ध्वनि प्रदूषण को रोकने के लिये उससे सम्बन्धित कानूनों को कड़ाई से लागू करे।''[31]
- इनके अलावा **वेल्लोर सिटिजन्स वेलफेयर फोरम बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (1996), कामन कॉज बनाम भारत संघ (1996), दिल्ली डेमोक्रेटिंग वर्किंग वूमेंन्स फोरम बनाम भारत संघ (1995), विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (1997), शकुन्तला देवी बनाम विद्युत आपूर्ति उपक्रम (1995), उत्तरांचल राज्य बनाम बलवंत सिंह चौकल (2010) आदि** मामलों में जनहित याचिकाओं के द्वारा उच्चतम ने महत्वपूर्ण निर्णय दिये है, जिससे जनता को विभिन्न गंभीर समस्याओं का निवारण हुआ है।

लोकहितवाद हमारे देश के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का भाण्डाफोड़ करने और इसके लिये दोषी व्यक्तियों को दण्डित करने में सबसे सशक्त साबित हुआ है। इसी के कारण **हवाला काण्ड, बिहार का चारा काण्ड, यूरिया काण्ड, सेन्ट किट्स काण्ड, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सांसदो द्वारा पूर्व प्रधानमंत्री श्री नरसिम्हा राव से धन प्राप्त कर संसद में उनके बहुमत को सिद्ध करने का काण्ड, उत्तरप्रदेश में आयुर्वेदिक घोटाला, दिल्ली में सरकारी भवनों के आवंटन का घोटाला, पेट्रोल पम्प के आवंटन का आवंटन घोटाला** आदि काण्डों को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया और उनकी जाँच की जा रही है।

1996–2014 की कालावधि न्यायपालिका की सक्रियता की दृष्टि से अभूतपूर्व कही जा सकती है। जनहित याचिकाओं के द्वारा शीर्ष पर व्याप्त भ्रष्टाचार को निशाना बनाया जाने लगा । सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ ऐसी जनहित याचिकाओं को स्वीकार किया, जिनमें जैन हवाला मामला भी एक है। अक्टुबर, 1993 में दो पत्रकारों और दो वकीलों के दायर किए इस मामले में शुरुआत बहुत धीमी हुई क्योकि जैन बंधुओं की डायरी बहुत विस्फोटक थी। आरोप है कि C.B.I ने इस डायरी को दो साल तक दबाए रखा, तब मुख्य न्यायाधीश एम.एन. वेंकटचलैया ने दो महीने में ही C.B.I और सरकार को नोटिस जारी किए। सर्वोच्च न्यायालय ने C.B.I के निर्देशक विजय रामाराव को निजी तौर पर जवाबदेह बनाया और उनसे हवाला जाँच की प्रगति के बारे में अदालत को समय–समय पर सूचित करने को कहा। इसी के बाद मामला आगे बढना शुरु हुआ। दूर संचार निविदा के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने उन याचिकाओं को स्वीकार किया जिनमें आरोप लगाया गया था कि कुछ निजी कम्पनियो को सरकारी खजाने और उपभोक्ताओं की कीमत पर फायदा पहुचाया जा रहा है। जब एडवोकेंट एस.एस. तिवारी ने अपनी जनहित याचिका में आरोप लगाया कि दिल्ली में रियासती किराए पर सरकारी कर्मचारियों को मकान आवण्टित करने में भारी भ्रष्टाचार हो रहा हैं तो सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्व मन्त्रियो सहित 72 अतिविशिष्ट व्यक्तियो को बंगले खाली करने के नोटिस दिए।

हवाला काण्ड की चार्जशीट में कोर्ट की भूमिका से भ्रष्टाचार के मामले में न्यायापलिका की बढती सक्रियता का एहसास होता है। 1992 में 3,500 करोड़ रुपए का प्रतिभूति घोटाला, बाद में 300 करोड का दूरसंचार घोटाला और फिर पूर्व केन्द्रीय मन्त्री शीला कौल द्वारा 8,700 सरकारी आवासों के मनमाने आवण्टन का मामला आया, लेकिन इन सारे घोटालों में भरपूर सबूतों के बावजूद देश की अग्रणी जाँच एजेंसी C.B.I हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। उसने सुरागों की पड़ताल नहीं की, जाँच अधूरी छोड दी और कई बार मुख्य अभियुक्तों से पूछताछ तक नहीं की। अन्त में, जनता के बढ़ते दबाव के चलते न्यायालयों को दखल देना पड़ा। राजनीतिज्ञों के खिलाफ बेहद विवादास्पद मामले जनहित याचिका के रुप में सामने लाए गए। मसलन लक्खूभाई पाठक और सेंट किट्स मामले में दुबारा जानकारी

उस समय हुई जब अक्टूबर, 1995 में एडवोकेट ए. सी. प्रधान ने विवादास्पद तान्त्रिक चन्द्रास्वामी के खिलाफ याचिका दायर की। 14 फरवरी 1996 को सर्वोच्च न्यायधीश कुलदीप सिंह और एन. पी. सिंह ने सी.बी.आई. को 1988 से1994 के बीच बिना बारी के सरकारी मकान आंवण्टित किए जाने की जाँच के आदेश, अदालत को मिली 200 शिकायतों के आधार पर दिए।

न्यायधीशों को ऐसा लगा कि C.B.I सत्ताधारियों के बचाने का प्रयास कर रही हैं। अतः न्यायालय ने अपनी निगरानी वाली भूमिका को विस्तार देना शुरु किया । देश के सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय महसूस कर रहे थे कि सी.बी. आई. सत्ताधिशों की आपराधिक कार्यवाहियों का पता लगाने, उनकी जाँच करने और फिर दोषियों को सजा दिलाने के अपने वैधानिक कर्तव्य में असफल रही। ऐसी परिस्थितियों में न्याय दिलाने के लिए न्यायालयों के पास दखलन्दाजी के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा था। जल्दी देश के उच्च न्यायालय भी सर्वोच्च न्यायालय के नक्शेकदम पर चल पड़े। दिल्ली उच्च न्यायालय ने झारखण्ड मुक्ति मोर्चा मामले की जाँच के लिए न्यायालय अधिकारियों के रुप में सी.बी.आई. की नई टीम को नियुक्त किया । इसी तरह पटना उच्च न्यायालय के न्यायमुर्ति एस.एन. झा और न्यायमूर्ति एस. जे. मुखोपाध्याय की खण्डपीठ ने सी.बी. आई निर्देशक जोगिन्दर सिंह को जाँच से दूर रहने और चारा घोटाले की जाँच में किसी भी तरह से दखल न देने का निर्देश दिया ।

न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा ने सी.बी. आई को डायरियों की जाँच करने को मजबूर किया, जिनमें राजनीतिज्ञों को हवाला की रकम देने का जिक्र है। न्यायाधीश कुलदीप सिंह ने सरकारी मकानों में नाजायज तरीको से कब्जा जमाए रखने के मामले में कई नेताओं की खिचाई की ।

न्यायमूर्ति वर्मा की अध्यक्षता वाली पीठ ने अपने व्यवहार से यह स्पष्ट कर दिया कि निगरानी का काम हाथ में लेने का उनका मकसद कार्यपालिका के अधिकारो को हथियाना नही, बल्कि उसे अपना कर्तव्य निभाने का एहसास कराना है। जब सेंट किट्स और लक्खूभाई पाठक मामलों में सी.बी.आई ने आरोप पत्र दाखिल कर दिए

तो सर्वोच्च न्यायालय ने निगरानी रखने की जिम्मेदारी छोड़ देने का स्वतः ही निर्णय ले लिया। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायधीश चेनप्पा रेड्डी के अनुसार ''अदालतों को निगरानी का काम इसलिए हाथ में लेना पड़ा क्योंकि उनके आदेशों को पूरा करने में कार्यपालिका का रिकार्ड खराब रहा है।''उच्चतम न्यायालय ने प्रारम्भ से ही 2 जी स्पेक्ट्रम घोटले की जाँच को गति प्रदान की । 29 अप्रेल 2010 को उसने सी.बी. आई को लापरवाही के साथ काम करने के लिए लताड़ा और जब दागी दूर संचार मन्त्री ए. राजा अपने पद पर बनें रहे तो उसने सरकार की खिंचाई की। इसी के बाद सरकार हरकत में आई। दो हफ्तों के बाद राजा को मजबूरन हटना पड़ा। एक हफ्ते बाद न्यायाधीशों ने प्रधान मंत्री की निष्क्रियता और चुप्पी पर सवाल उठाते हुए इतिहास रच दिया। न्यायालय ने प्रधानमंत्री से शपथपत्र की माँग की।

12 अगस्त, 2010 को उच्चतम न्यायालय ने सरकारी गोदामों में खाद्यान्न के सड़ने सम्बन्धी खबरो का संज्ञान लेते हुए अपने आदेश में कहा कि ख़ाद्यान्न को सडने देने के बजाय गरीबों में निःशुल्क बांट देना चाहिए। 3 मार्च 2011 को उच्चतम न्यायालय ने देश के इतिहास में पहली बार भारत सरकार द्वारा की गई नियुक्ति को अवैध ठहराते हुए पी.जी.थामस को केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त के पद से बेदखल कर दिया ।,

उच्चतम न्यायालय सीबीआई को उसकी लापरवाह जाँच पडताल को लेकर लगातार फटकार लगाता रहा है। मायावती के खिलाफ आय से अधिक सम्पत्ति के छः वर्ष पुराने मामले में एक और स्थगन के बाद सितम्बर 2010 में उच्चतम न्यायालय ने नाराज होकर कहा कि ऐसा लगता है, सी.बी. आई. और उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री एक दूसरे की मिलीभगत से मामले को लम्बा खीचनें में जुटी है। फरवरी 2009 में उच्चतम न्यायालय ने मुलायम के खिलाफ भी आय से अधिक सम्पत्ति के मामले में लापरवाह रुख से नाराज होकर फटकार लगाते हुए कहा कि एजेंसी केन्द्र सरकार के इशारे पर काम कर रही है। 15 जुलाई 2011 को आक्रामक उच्चतम न्यायालय ने वोट के बदले नोट काण्ड 22 जुलाई, 2008 को लोकसभा में भारत–अमेरिका परमाणु करार पर महत्वपूर्ण अविश्वास मतबद्धता की ढीली–ढाली जाँच के लिए

दिल्ली पुलिस की जमकर खिंचाई की। अदालत चाहती है कि हकीकत और सिर्फ हकीकत सामने लाई जाए।

4 जुलाई, 2011 को उच्चतम न्यायालय ने कालेधन की जाँच की 'मन्द गति' के लिए सरकार को लताड़ा और इससे निबटने के लिए 'विशेष जाँच दल' (SIT) का गठन कर दिया। 15 जुलाई 2011 को न्यायालय ने सलवा जुडूम से सम्बन्धित फैसले में विशेष पुलिस अधिकारियों (SPO) को हटाकर सुरक्षा प्रबन्धन के दायरे में कदम रख दिए जो कार्यपालिका के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्र है। 29 जुलाई 2011 को उच्चतम न्यायालय ने पर्यावरण की क्षति पर चिन्ता के कारण कर्नाटक के बेल्लरी जिले में लौह अयस्क खनन पर प्रतिबन्ध लगा दिया, पारिस्थितिकी की क्षति का आकलन करने के लिए उसने पर्यावरण का अध्ययन कराने के लिए भी कहा। 12 दिसम्बर 2011 को उच्चतम न्यायालय ने दिल्ली एवं अन्य राज्यों को निर्देश दिया कि कोई भी व्यक्ति कडाके की सर्दी में मरना नही चाहिए पटरी पर सोने वाले बेघर लोगों के लिए पर्याप्त रैनबसेरों की व्यवस्था की जाए।

न्यायिक सक्रियता की पराकाष्ठा दिखाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने दूरसंचार मन्त्री ए. राजा के दिए 122 विवादास्पद लाइसेन्स रद्द कर दिए। राजा ने वर्ष 2008 में ये लाइसेन्स वितरण के मूल विचार को ही चुनौती दी और उन्हें अवैध घोषित कर रद्द कर दिया । न्यायालय ने कहा कि लाइसेंस आवंटन की प्रक्रिया मनमानी और समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन करने के साथ ही जनहित के विपरीत भी थी।

कोलगेट कोयला घोटाला मामला, सितम्बर 2012 में सर्वोच्च न्यायालय में पहुचा; जब एक वकील एम.एल.शर्मा ने सीएजी रिपोर्ट के आधार पर खदानों का आवंटन रद्द करने की माँग करते हुए जनहित याचिका दायर की। C.B.I जाँच की निगरानी करते हुए न्यायालय ने एजेन्सी से कहा कि उसे जाँच के विवरण अपने राजनीतिक आकांक्षाओं को बताने की जरुरत नही हैं। 6 मई 2013 को सीबीआई ने अपने हलफनामें में सर्वोच्च न्यायालय को बताया कि कोयला घोटाले पर उसकी रिपोर्ट में कानून मन्त्री अश्विनी कुमार और कुछ वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों ने

फेरबदल किए थे। तब जस्टिस आर.एम. लोढा के नेतृत्व वाली तीन न्यायाधीशो की पीठ ने तीखी टिप्पणियां करते हुए यहाँ तक कह दिया कि ''सी.बी. आई. पिजरे में बंद होते तोते की तरह है जो अपने मालिक का राग अपलाता है।''

उच्च तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णयों से ही यह तय हुआ कि अवैध आदेशों को मानना सरकारी अधिकारियों, प्रशासकों, पुलिस कर्मियों आदि किसी के लिए भी जरुरी नहीं। जीने के अधिकार में ढंग से जीने का जीविका का ,शिक्षा का अधिकार शामिल है और राज्य का कर्तव्य है कि उस सबकी व्यवस्था करे, इलाज में लापरवाही करने वाले डॉक्टर के खिलाफ मरीज उपभोक्ता संरक्षण कानून के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है, चुनाव आयोग किसी दल की मान्यता समाप्त कर सकता है। न्यायाधीश सरकार के अधीन नहीं होते, हवाला काण्ड के सिलसिले में ठीक से समयबद्ध जाँच हो, न केवल विवाह के समय अपितु बाद में भी दहेज माँगने वालो को दोषी माना जाए। ये सभी आवश्यक वांछनीय और स्वागत येाग्य कदम कहे जाएंगे और इसे देश का सौभाग्य ही माना जायगा कि संस्थाओं के चतुर्दिक ह्रास के बावजूद कम से कम न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर पर उच्चतम न्यायालय ने उचित मानकों की रक्षा की और सही दिशा में निर्देश दिए।

राष्ट्रीय न्यायिक डाटा ग्रिड के अनुसार जिला अदालतों में लंबित मामले

'Justice delayed is justice denied' अर्थात् न्याय में देरी अन्याय हैं अगर न्याय मिलने में देरी हुई है तो इसका मतलब है कि न्याय मिला ही नहीं। भारत में Pending Cases बहुत ज्यादा केवल उत्तर प्रदेश का ही एक उदाहरण अगर हम लेते हैं तो सिर्फ अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग की रिपोर्ट तहत 76,000 मुकदमें सिर्फ SC व ST Cases के Pending है।

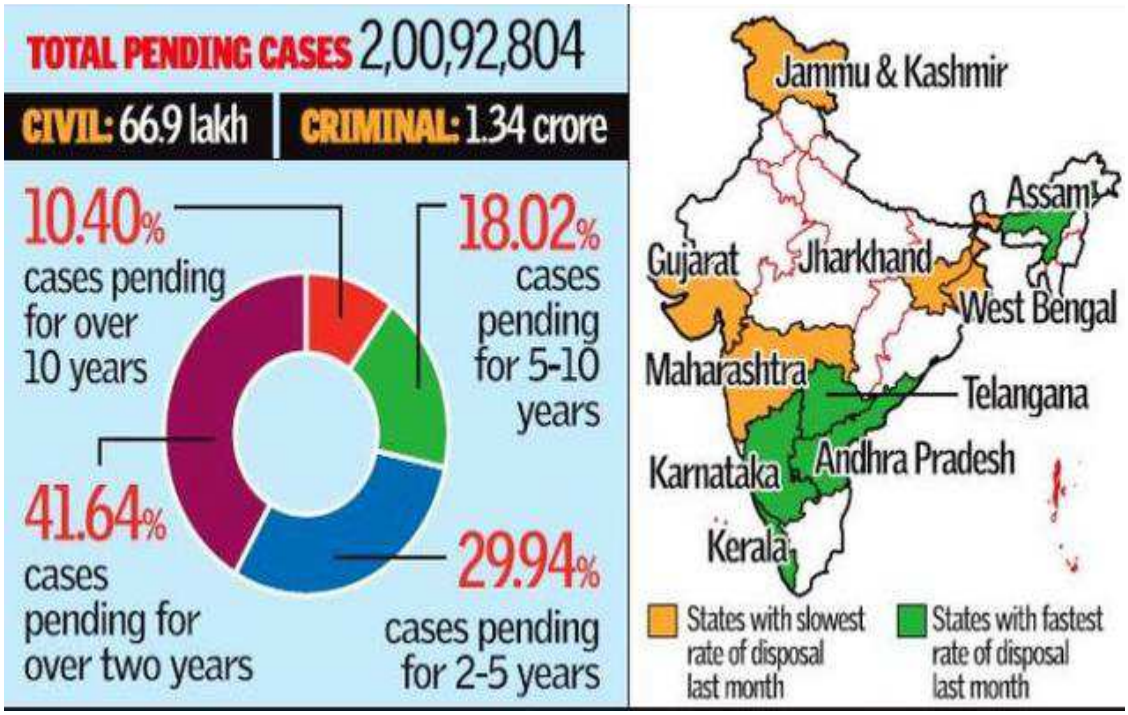

Pending Cases, according to the National Judicial Data Grid

''हमें कम से कम 100 और न्यायधीशों की जरूरत बढ़ती जनसंख्या व लम्बित मामलों के निपटारे के लिए है यदि हमें नई अदालतों की सुविधा मिलती है तो हमें पर्याप्त बुनियादी सुविधाओं की आवश्यकता नहीं होगी। स्टाफ की कमी एक और मुद्दा है।''

विजय वर्मा अध्यक्ष, (District Bar association)

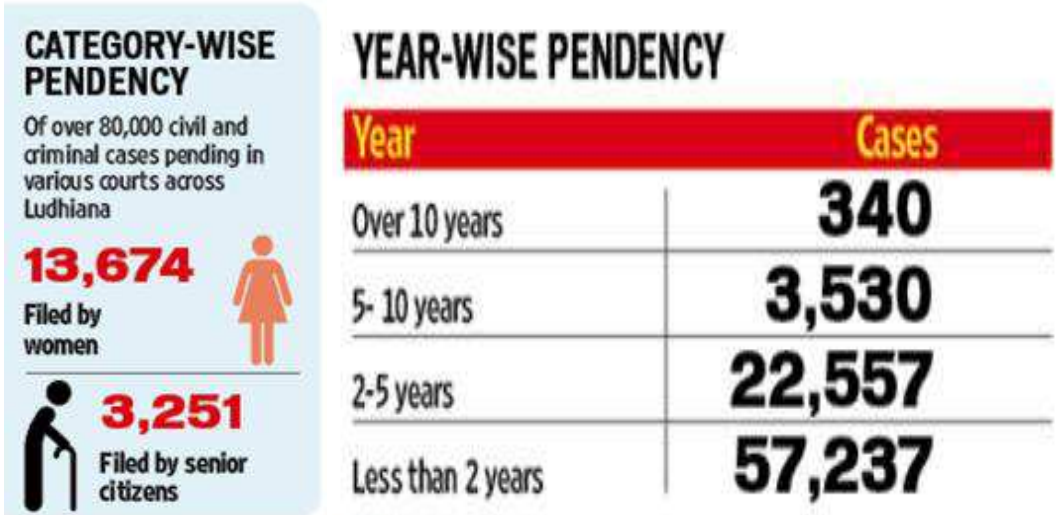

Total Peding Cases

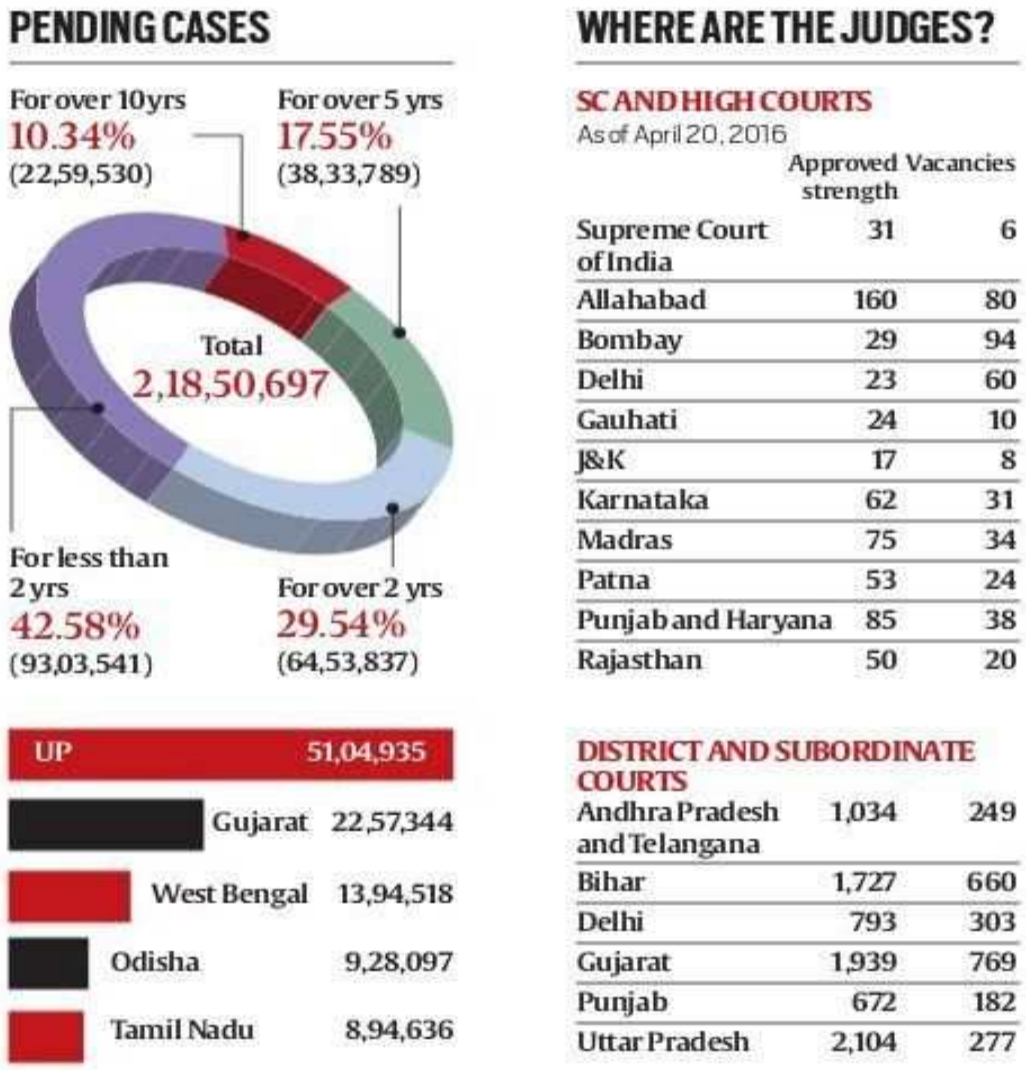

कतिपय अन्य मुद्दों के संदर्भ में न्यायिक सक्रियतावाद

भारत की जनता की आशाओं और आंकाक्षाओं को साकार करने के उद्देश्य से न्यायालय अनेक क्षेत्रों में सक्रियता का परिचय दे रहा है ये सभी क्षेत्र व मुद्दे ऐसे है, जिनका संबंध आम जनता से है। कुछ राजनीतिक है, कुछ न्यायिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों से जुड़े है। हर क्षेत्र जो जनता की परेशानियों और समस्याओं से संबंधित है ऐसे प्रत्येक मुद्दे पर न्यायालय द्वारा समय–समय पर विभिन्न निर्णय दिए गए। इन निर्णयों द्वारा न केवल संविधान को गतिशीलता प्राप्त होती है वरन् विधायी और कार्यपालिका के कृत्यों की समीक्षा भी हो जाती है। अति विशिष्ट व्यक्ति के सड़क से गुजरने पर जनता को असुविधा होना, बन्द का आयोजन, भूमि विवाद, न्यायाधीशों की नियुक्ति व स्थानान्तरण का प्रश्न, पदोन्नति

में आरक्षण के अधिकार की संवैधानिकता का प्रश्न, असम में बांग्लादेशी अवैध प्रवासियों के निर्धारण व निष्कासन का मामला, आरक्षण से जुड़े मुद्दे, प्रेस की स्वतंत्रता आदि अनेक मामलों में न्यायालय ने आगे आकर न्यायिक सक्रियता प्रदर्शित की है जिनका उल्लेख किया जाना न केवल तार्किक होगा बल्कि न्यायोचित भी होगा। जिसके माध्यम से जनता के हितों को निरन्तर संवर्धन व पोषण किया जाता है।

बन्द का आह्वान एवं आयोजन असंवैधानिक है :-

अपने ऐतिहासिक महत्व के निर्णय **भारतीय कम्यूनिष्ट पार्टी (मार्क्सवादी) बनाम भरत कुमार व अन्य** के मामलें में उच्चतम न्यायालय की तीन सदस्यीय पीठ ने केरल उच्चतम न्यायालय के निर्णय की पुष्टि करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि राजनीतिक दलों द्वारा बन्द का आयोजन करना असंवैधानिक और अवैध है। न्यायालय ने कहा कि केरल उच्च न्यायालय द्वारा 'बन्द' और 'हड़ताल' में किया गया भेद सही है और उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। उच्च न्यायालय ने 'बन्द' और 'हड़ताल' में भेद नागरिकों के मूल अधिकारों पर इनके द्वारा पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर किया था। उच्च न्यायालय के अनुसार 'बन्द' से नागरिकों के मूल अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और वे उनके प्रयोग करने से वंचित हो जाते है जबकि हड़ताल का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता है।

प्रस्तुत मामले में केरल चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स के दो नागरिकों ने अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय में रिट फाइल करके यह निवेदन किया कि वह राजनीतिक दलों द्वारा बंद के आह्वान एवं आयोजन को असंवैधानिक घोषित कर दे तथा उन्हें रोक दे क्योंकि इससे उनके अनुच्छेद 19(1) (ए) और अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है। कम्यूनिस्ट पार्टी ने यह कहा कि बन्द का आह्वान उसके अनुच्छेद 19(1) (ए) के अधीन राजनीतिक दल का मूल अधिकार है।

केरल उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि बन्द के आह्वान में नागरिकों को अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से यह धमकी दी जाती है कि वे अपनी

सभी कार्यकलापों और पेशों की रोक दें और घर से बाहर न जाएं अन्यथा उसका परिणाम भयानक होगा। यदि शारीरिक हिंसा न भी हो तो भी नागरिकों में मनौवैज्ञानिक भय व्याप्त हो जाता है जिसके कारण वे अपने मूल अधिकारों का प्रयोग करने से वंचित हो जाते है। बन्द के आह्वान में नागरिकों को यह धमकी निहित रहती है उसके न मानने पर उनके शरीर एवं सम्पति को क्षति पहुंच सकती है। जब किसी नागरिक को बलपूर्वक काम पर जाने या अपने कारोबार या पेशे को करने से रोका जाता है तो उसके मूल अधिकारों का उल्लघंन होता है।

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कोई भी राजनीतिक दल या संगठन यह दावा नहीं कर सकता है कि वह देशभर में उद्योग एवं वाणिज्य को पंगु बना सकता है और उनके मत से सहमत न होने वाले नागरिकों को अपने मूल अधिकारों के प्रयोग करने या राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को पालन करने से रोक सकता है। न्यायालय ने राजनीतिक दल के इस तर्क को भी मानने से इन्कार कर दिया कि अनुच्छेद 226 के अधीन इसके विरुद्ध कोई उपचार प्रदान नहीं किया जा सकता है। न्यायालय ने कहा कि न्यायालय को पिटीशनरों को घोषणात्मक उपचार प्रदान करने की पर्याप्त अधिकारिकता प्राप्त है क्योंकि उनका मामला मूल अधिकारों के उल्लंघन से संबंधित है। राज्य ने बंद को रोकने के लिए कोई कदम नहीं उठाया था। इसको देखते हुए न्यायालय ने कहा कि उसे बन्द के आह्वान एवं आयोजन को असंवैधानिक घोषित करने की पर्याप्त अधिकारिता है क्योंकि बन्द राष्ट्र के हित में नहीं है और उत्पादन में कमी करके राष्ट्र की प्रगति को अवरुद्ध करता है। न्यायालय ने यह घोषणा कि की –'हम प्राइवेट और पब्लिक सम्पति के विनाश की उपेक्षा नहीं कर सकते है जब राजनीतिक दलों या संगठनों द्वारा बन्द लागू किया जाता है। हम इस मत से सहमत है कि जो राजनीतिक दल या संगठन ऐसे बन्द का आह्वान आयोजित करते है नागरिकों को इसके परिणामस्वरूप पहुँची हानि के लिए वे राज्य को प्रतिकर देने के लिए उत्तरदायी है। राज्य ऐसे बन्द के परिणाम स्वरूप हुई हानि की क्षतिपूर्ति के लिए कदम उठाने के दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता है।

डॉ. पी.जी. नजपाण्डे बनाम मध्यप्रदेश राज्य व अन्य के मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा समय–समय किए जाने वाले 'चक्काजाम' सभ्य समाज की गतिविधियों को ठप्प करते है तथा अनुच्छेद 19 व 21 में प्रदत्त स्वतत्रंताओं को बाधित करते है। न्यायालय ने इस संबंध में आवश्यक दिशा निर्देश जारी किए कि चक्काजाम के दौरान यातायात बाधित करना और व्यापारिक संस्थानों को बलपूर्वक बंद करवाना अनुचित है। आंदोलनकारियों को अपने प्रदर्शन हेतु शांतिपूर्वक ढंग अपनाने चाहिए।

सोनिया गाँधी के विदेशी मूल व चुनाव का मुद्दा :–

शीघ्र ही एक लोकहित मुकदमा में (सितम्बर 2001) उच्च्तम न्यायालय ने सोनिया गाँधी को भारतीय नागरिक होना घोषित किया है। मुम्बई और मद्रास उच्च न्यायालय ने सोनिया गाँधी के विदेशी मूल के उद्देश्य के आधार पर लोकसभा चुनाव में उनकी उम्मीदवारी को चुनौती देने वाली दो अलग–अलग याचिकाओं को खारिज कर दिया। न्यायालयों ने साथ ही याचिकाकर्ताओं को बतौर खर्चे के क्रमशः दस व पांच हजार रूपये जमा कराने को भी कहा है। मुम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश वाई.के. सब्बरवाल और न्यायाधीश एस.एच. कपाडिया ने इस संबंध में दायर एक जनहित याचिका को रद्द करते हुए कहा कि यह याचिका पूर्ण रूप से अनुचित, प्रेरित और मीडिया का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से दायर की गई है।

खण्डपीठ का मानना था कि याचिकाकर्ता पर खर्चे के बतौर दस हजार रुपए का जुर्माना लगाया जाए क्योंकि याचिकाकर्ता कानूनी व्यवसाय से जुड़े है और इस नाते उन्हें कानूनी दावपेंच भलीभांति मालूम है। खंडपीठ ने कहा कि इस तरह के मामले के लिए जनहित याचिका दायर करना जनहित याचिका का भारी दुरूपयोग है।

मद्रास उच्च न्यायालय ने भी इस संबंध में दायर एक अन्य जनहित याचिका को सुनवाई के लिए अस्वीकार्य बताते हुए 27 अगस्त को खारिज कर दिया।

कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश एन.के. जैन और न्यायाधीश के. सम्पत की खंडपीठ ने कहा कि राजनीतिक कारणों और प्रचार के लिए यह याचिका दायर की गई है जिसे अदालत अस्वीकार नहीं कर सकती और जब बेल्लारी के निर्वाचन अधिकारी पहले ही श्रीमती गांधी के नामाकंन को स्वीकार कर चुके है तो इस मुद्दे में दखलन्दाजी नहीं की जा सकती। न्यायालय ने प्रार्थी को बतौर खर्चे पांच हजार रुपये जमा कराने को भी कहा है।

अति विशिष्ट व्यक्ति के गुजरने से आम जनता को असुविधाः-

विजय नन्दा चौधरी बनाम स्टेट ऑफ आसाम एवं अन्य के मामले में निर्धारित किया कि अति विशिष्ट व्यक्तियों के सड़क से गुजरने से सामान्य जनता को अनावश्यक परेशानी कारित नहीं की जानी चाहिए तथा सामान्य जनता के साथ असम्मानीय तरीके से व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। अति विशिष्ट व्यक्तियों के सड़क से गुजरने से जनता को परेशानी हो सकती है, क्योंकि व्यक्तियों को आवश्यक कार्य हो सकता है, व्यापार संबंधी कार्य हो सकता है अथवा अत्यावश्यक चिकित्सीय सहायता की आवश्यकता हो सकती है।

डॉ. सुब्रह्ण्यम स्वामी बनाम भारतीय निर्वाचन आयोग के चर्चित वाद में न्यायालय ने निर्वाचन चिन्ह (आरक्षण एवं आवंटन) आदेश 1986 के पैरा 10ए के अधीन चुनाव चिन्ह के प्रयोग में मान्यता प्राप्त व गैर मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों में किए गए भेद को वैध ठहराया। अपीलार्थी जनता पार्टी के अध्यक्ष सुब्रहमण्यम स्वामी की याचिका पर सुनवाई करते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी की पार्टी जो पूर्व में मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय दल की श्रेणी में थी, ने 1996 के आमचुनावों में राष्ट्रीय पार्टी हेतु निर्धारित मापदण्डों के अनुसार स्थान प्राप्त नहीं किए। अतः सितम्बर 2000 में निर्वाचन आयोग ने उक्त पार्टी की मान्यता समाप्त कर दी।

अपने एक ऐतिहासिक महत्त्व के निर्णय डॉ. पी.डी. श्रीवास्तव और अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य 96 के मामले में उच्चतम न्यायालय की पाँच

न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने 4–1 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया है कि मेडिकल और इन्जिनियरिंग कॉलेजों के विशिष्ट पाठ्यक्रमों अर्थात परास्नातक के पाठ्यक्रमों में प्रवेश केवल योग्यता के आधार पर ही किया जा सकता है आरक्षण के आधार पर नहीं। न्यायालय के बहुमत ने यह निर्णय दिया कि आरक्षण के आधार पर प्रवेश राष्ट्र हित में नहीं है, अतः उसकी अनुमति नहीं दी जा सकती है। प्रस्तुत मामले में अपीलार्थियों ने उत्तर प्रदेश परास्नातक मेडिकल शिक्षा (अनुसूचित जाति/अनु0 जनजाति व अन्य पिछडी जातियों के लिए आरक्षण) अधिनियम 1997 की विधिमान्यताओं को चुनौती दी थी। जिसके द्वारा सरकार उपर्युक्त श्रेणी के अभ्यर्थियों के लिए परास्नातक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए आरक्षित श्रेणी के अभ्यर्थियों के लिए न्यूनतम अर्हता 35 प्रतिशत विहित की गई थी जबकि सामान्य अभ्यर्थियों के लिए न्यूनतम 45 प्रतिशत अर्हता अंक विहित किया गया था। बाद में सरकार ने आरक्षित कोटे के अभ्यर्थियों के लिए न्यूनतम 35 प्रतिशत अर्हता अंक को घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया। मध्य प्रदेश सरकार ने तो परास्नातक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए उपर्युक्त कोटे के अभ्यर्थियों के लिए कोई न्यूनतम अर्हता अंक की कसौटी विहित ही नहीं की थी।

न्यायमूर्ति वी0 सुजाता मनोहर ने अपनी ओर से तथा तीन न्यायमूर्ति मुख्य न्यायमूर्ति डॉ. ए.एस. आनन्द, श्री के0 वेंकटास्वामी, एस.वी. मजूमदार और वी. एन. खरे की ओर से उच्चतम न्यायालय का निर्णय सुनाते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 15(4) के अन्तर्गत आरक्षित कोटे के अभ्यर्थियों के लिए परास्नातक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए 20 प्रतिशत और सामान्य वर्ग के अभ्यर्थियों के लिए 45 प्रतिशत न्यूनतम अर्हता अंक निर्धारित करना अनुचित है और अनुच्छेद 15(4) का उल्लघंन है। अतः उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पारित अधिनियम तथा मध्यप्रदेश सरकार द्वारा जारी किया गया सरकारी आदेश अवैध है। इससे परास्नातक पाठ्यक्रमों में मेडिकल शिक्षा के स्तर में प्रतिकूल प्रभाव डालता है और राष्ट्रहित में नहीं है।

आरक्षित कोटे का अभ्यर्थी सामान्य कोटे के अभ्यर्थी के ऊपर वरिष्ठता बनाए रखने का हकदार नहीं:–

अपने एक ऐतिहासिक महत्व के निर्णय अजीत सिंह बनाम पंजाब राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय की पांच सदस्यीय संविधान पीठ (मुख्य न्यायमूर्ति एस. आनन्द, श्री के. वेंकटस्वामी, श्री जी. वी. पटनायक, श्री एस. पी. कुदूकर ओर एस.जे. राव) ने सर्वसभ्भत्ति से यह अभिनिर्धारित किया है कि आरक्षण कोटे के अन्तर्गत चयनित अभ्यर्थी सामान्य कोटे में चयनित अभ्यर्थी के ऊपर अधिकार के रूप में वरिष्ठता का दावा नहीं कर सकता है। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 16(4क) कोई मूल अधिकार प्रदान नहीं करता है। न ही वे किसी संवैधानिक कर्तव्य पर विचार करने की विवेक शक्ति निहित करता है कि क्या वर्णित परिस्थितियों में आरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता है?

न्यायालय ने कहा कि पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जाति तथा जनजाति के अभ्यर्थियों को सरकारी सेवा में प्रतिनिधित्व देते समय प्रशासन में कार्यकुशलता बनाए रखने पर ध्यान देना भी परम आवश्यक है।

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि रोस्टर के आधार पर आरक्षित कोटे में प्रोन्नत पद पर स्थानापन्न करने की तारीख से सामान्य कोटे के अभ्यर्थियों जो निम्न स्तर पर नियुक्ति के समय उनसे वरिष्ठ थे और बाद में प्रोन्नत हुए है, आगे ज्येष्ठता नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत निम्न स्तर में एक सामान्य कोटे के अभ्यर्थियों जो निम्न स्तर पर नियुक्ति के समय उनसे वरिष्ठ थे और बाद में प्रोन्नत हुए है, आगे ज्येष्ठता नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत निम्न स्तर में एक सामान्य कोटे का अभ्यर्थी ज्येष्ठ था। जब बाद में प्रोन्नति प्राप्त कर लेता है, तो आरक्षित कोटे को अभ्यर्थी इस बीच और आगे प्रोन्नति नहीं प्राप्त कर लेता है तो वह आरक्षित कोटे के अभ्यर्थी से ज्येष्ठ माना जायेगा। भले ही आरक्षित कोटे का अभ्यर्थी उस स्तर पर उससे पहले प्रोन्नति पा चुका हो। संक्षेप में, यदि आरक्षित कोटे का अभ्यर्थी तथा सामान्य कोटे के अभ्यर्थी दोनों की नियुक्ति निचले स्तर के पद पर एक तारीख को हुई थी और सामान्य कोटे का अभ्यर्थी ज्येष्ठ था जो उच्च स्तर के पद पर प्रोन्नति पाने पर अपनी ज्येष्ठता पुनः प्राप्त कर लेगा अर्थात ज्येष्ठता का निर्धारण प्रथम नियुक्ति की तारीख से किया जायेगा।

(न्यायपालिका ने संविधान के आरक्षण संबंधी उपबंधों का सर्वदा वस्तुनिष्ठ और ऋजुपूर्ण रीति से निर्वाचन किया है। न्यायालय ने वास्तविक रूप से पिछड़े वर्गों के हितों और समाज के शेष लोगों जो अपनी योग्यता के आधार पर प्रगति करने का प्रयास कर रहे हैं उनके हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी सलाह दी है कि सरकार कतिपय पदों और सेवाओं को विनिर्दिष्ट करे जैसे कि रिसर्च और डवलपमेंट आरगनाइजेशन मेंडिकल तथा इंजीनियरिंग के अतिविशिष्ट पाठ्यक्रमों न्यूक्लियर तथा अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र आदि जहाँ पद की उच्च तकनीकी प्रकृति के कारण आरक्षण दिया जाना उचित नहीं है। यही नहीं कई राजनीतिक दलों तथा पिछड़े वर्गों के संघों ने न्यायालय के निर्णयों को पसन्द नहीं किया है, जो ऐसे वर्गो को केवल वोट बैंक की दृष्टि से देखते हैं और राष्ट्र के हित का ध्यान नहीं रखते हैं। आरक्षण प्रावधानों का मुख्य उद्देश्य पिछड़े वर्गों की सहायता करना हैं न कि शेष लोगों को दण्डित करना। आरक्षण की शक्ति का अत्यधिक प्रयोग संविधान की मूल भावना के विपरीत होगा और उसके आदर्शों को विकृत कर देगा जिसके परिणामस्वरूप देश की एकता एवं अखण्डता ही संकट में पड़ जायेगी। अतः आरक्षण का प्रयोग एक सीमा के अन्दर ही किया जाना चाहिए और धीरे– धीरे इसे समाप्त करने का कदम उठाना चाहिए जैसा कि के0सी0 बसन्त कुमार के मामले में उच्चतम न्यायालय ने सुझाव दिया है।

कुछ अन्य आरक्षण संबंधी मामले जिसमें समय पर न्यायालय ने अपनी सक्रियता का परिचय दिया। **नोलेज ट्रस्ट एवं अन्य बनाम उड़ीसा राज्य** के मामले में अपीलार्थी ने उडीसा राज्य के व्यावसायिक शिक्षण संस्थान (प्रवेश एवं शुल्क निर्धारण) विनियमन अधिनियम 2007 को चुनौती दी। उक्त वाद में राज्य सरकार द्वारा स्थापित कॉलेजों में काउन्सलिंग के दौरान सीट वृद्धि के साथ ही अनेक नए कॉलेजों की स्थापना के प्रस्ताव को भी मंजूरी दी गई। सरकार ने सभी नवस्थापित कॉलेजों में वृद्धि की गई। 30 प्रतिशत सीटों पर 15 प्रतिशत प्रबंधन कोटे से तथा 15 प्रतिशत अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण विद्यार्थियों से भरने की स्वीकृति दी। न्यायालय ने नव स्थापित कॉलेजों के लिए सीटों पर किए गए उक्त आरक्षण को अनुच्छेद 14 के अधीन विभेदकारी मानते हुए अवैध घोषित किया।

जी.के. मोहन एवं अन्य बनाम भारत संघ मामले में उच्चतम न्यायालय ने रक्षा अनुसंधान एवं विकास संस्थान के तकनीकी वर्ग में भर्ती नियम 1995 के उपनियम 6(4) (9) को वैध ठहराया। अपीलार्थी को उक्त नियम की अनुसूची 111 में वर्णित योग्यता धारी होने के कारण उच्च श्रेणी में पदस्थापित किया गया जबकि अन्य को इन योग्यताओं के अभाव में निम्न श्रेणी में पदस्थापित किया गया। न्यायालय ने यह विनिश्चय दिया कि योग्यता के आधार पर किया गया वर्गीकरण अनुच्छेद 14 व अनुच्छेद 16 का उल्लंघन नहीं है।

प्रेस्टन कॉलेज एवं अन्य बनाम मध्यप्रदेश राज्य के मामले में न्यायालय ने गृहस्थान के आधार पर किए जाने वाले आरक्षण को वैध ठहराया। प्रस्तुत मामले में नेशनल काउन्सिल फॉर टीचर्स एजूकेशन एक्ट की धारा 14 को वैध ठहराया जिसके अनुसार मध्यप्रदेश में एन.सी.टी.ई. द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थानों में बी.एड. पाठ्यक्रम 2006 हेतु मध्यप्रदेश के निवासियों हेतु कुल स्थानों के 75 प्रतिशत स्थान आरक्षित रखे गए। शेष 25 प्रतिशत स्थान अन्य राज्यों के विद्यार्थियों के लिए रखे गए। न्यायालय ने यह विनिश्चय प्रस्तुत किया कि उक्त प्रकार का आरक्षण अनुच्छेद 14, 15(1) व 16(2) का अतिक्रमण नहीं है एवं वैध है।

महेन्द्र कामराय एवं अन्य बनाम असम राज्य के मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 15(4) के अन्तर्गत अनुसूचित जाति व जनजाति का आरक्षण उस राज्य का मूल निवासी होने पर प्राप्त है परन्तु अन्य राज्यों में उक्त आरक्षण का लाभ प्रदान करना भारत सरकार के निर्देशों पर निर्भर नहीं अपितु संवैधानिक प्रावधानों द्वारा निर्धारित किया जाएगा।

मण्डल आयोग के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रोन्नति में आरक्षण लागू नहीं किए जाने के निर्देश के प्रत्यूत्तर में संसद ने 77वां (संविधान संशोधन) अधिनियम 1995 पारित करके अनुच्छेद 16 में एक नया खण्ड (4क) जोडा है जो यह उपबन्धित करता है कि अनुच्छेद 16 में की गई बात राज्य के अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के किसी वर्ग के लिए, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की

राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, प्रोन्नति के लिए आरक्षण के लिए कोई उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी।

85वें संविधान संशोधन अधिनियम 2001 द्वारा खण्ड (4क) में जोड़ी गई शब्दावली ''किसी वर्ग की प्रोन्नति के मामले में'' के स्थान पर ''किसी वर्ग के लिए प्रोन्नति के मामले में पारिणामिक ज्येष्ठता के साथ'' शब्दावली अन्तः स्थापित की गई है। यह संशोधन भूतलक्षी प्रभाव से लागू किया गया, जो समाज के लिए हितकर व्यवस्था नहीं है।

भारत संघ बनाम वीरपाल सिंह चौहान के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सरकारी नौकरियों में प्रोन्नति के लिए जाति को आधार बनाया जाना संविधान के अनुच्छेद 16(4) का उल्लंघन है। आरक्षित वर्ग को प्रोन्नति पाने का हक है, किन्तु हर स्तर पर नहीं है। यह उच्चतम न्यायालय द्वारा इन्द्रा साहनी के मामले में दिये गये निर्णय का उल्लंघन करता है, अतः असंवैधानिक है।

अपने एक ऐतिहासिक महत्व के फैसले **पी.जी. इंस्टीट्यूट ऑफ मेंडिकल एजूकेशन एण्ड रिसर्च बनाम फैकल्टी एसोसिएशन** के मामले में उच्चतम न्यायालय की पांच सदस्यीय पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अकेले काडर पदों पर अनुच्छेद 16(1) और 16(4) के अधीन सामान्य श्रेणी के सदस्यों की पूर्ण अवहेलना करके पिछड़े वर्गों के लिए शत–प्रतिशत आरक्षण नहीं किया जा सकता है, चाहे वह सीधी भर्ती द्वारा हो या रोस्टर के चक्रानुक्रम के अनुसार किया गया हो। इस विनिश्चय ने न्यायालय ने पूर्व के निम्नलिखित मामलों यूनियन ऑफ इण्डिया बनाम माधव यूनियन ऑफ इण्डिया बनाम ब्रिजलाल ठाकुर तथा सुरेन्द्र चन्द्र बनाम जे.बी. अग्र मामले में दिए अपने निर्णयों को उलट दिया है।

नवीं अनुसूची का विनिश्चिय :-

उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति वाई.के. सब्बरवाल की अध्यक्षता वाली 9 सदस्यीय संविधान पीठ ने अपने एक ऐतिहासिक व युगान्तकारी निर्णय में

कहा कि संविधान की मूल भावना सर्वोपरि है और सरकार को मूल अधिकारों व नीति निर्देशक तत्वों में संतुलन बनाए रखना चाहिए।

तमिलनाडू सरकार के आरक्षण कानून और गुजरात व पश्चिम बंगाल के भूमि सुधार कानूनों के खिलाफ दायर याचिकाओं पर निर्णय देते हुए यह व्यवस्था दी है कि संविधान की 9वीं अनुसूची में शामिल कानूनों की भी न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। इस व्यवस्था के पश्चात् केन्द्र और राज्यों द्वारा बनाए गए 284 कानूनों को चुनौती दी जाती है जिन्हें न्यायिक समीक्षा से बचाने हेतु 9वीं अनुसूची में डाल दिया गया था। इसमें विभिन्न राज्यों के भूमि सुधार कानून व जमीन हदबंदी कानून भी शामिल है। केन्द्रीय कोयला खान एक्ट 1974, अतिरिक्त भत्ता एक्ट 1974, कोफेपोसा एक्ट 1974, रुग्ण कपड़ा इकाई एक्ट 1974 और एस्मा भी अब न्यायिक समीक्षा के दायरे में आ गए है।

न्यायालय ने 9वीं अनुसूची के कानूनों की समीक्षा हेतु 24 अप्रैल 1973 की तारीख तय की है क्योंकि इसी दिन केशवानन्द भारती वाले मामले में उच्चतम न्यायालय की 13 सदस्यीय संविधान पीठ ने ऐतिहासिक फैसला दिया था कि संसद को संविधान के मूल ढांचे में संशोधन का अधिकार नहीं है। न्यायालय का यह विनिश्चय आरक्षण संबंधी कानूनों की समीक्षा के लिए विशेष महत्व रखता है।

बढ़ता भ्रष्टाचार :-

एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिज्ञों और जनप्रतिनिधियों को भ्रष्ट होना अत्यंत ही शर्मनाक स्थिति है। भारत में भ्रष्टाचार के बढ़ने का कारण है विधियों और विनियमों की बहुलता तथा नियंत्रणों, लाईसेंसो और परमिटों की वर्तमान पद्धति, राजनीतिक इच्छा और संस्थागत व्यवस्था का अभाव, भ्रष्टाचार के मामलों को तय करने में देरी और किसी कार्यवाही या दण्ड की अनिश्चितता है। भूमण्डलीकरण और उदारीकरण ने भ्रष्टाचार को बढाने में योगदान दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने व्यापार के क्षेत्र में बडे पैमाने पर प्रवेश किया है। इन कम्पनियों के बड़े बजट है। व्यापार पर सरकार की ओर से लगे प्रतिबंध हट गए है। इस स्थिति ने भ्रष्टाचार

को बढ़ाया है। बोफोर्स तोप का सौदा हो या टू–जी स्प्रेक्टम घोटाला सभी प्रकार के घोटाले में इस उदारीकरण व्यवस्था का हाथ रहा है। घोटाले और कांड उच्च स्तर के भ्रष्टाचार है। इसमें राजनीतिक रूप से शक्तिशाली लोग व्यवस्था को अपने पक्ष में तोड़–मरोड़ लेते है। फलतः राज्य की प्रायोजनाओं का धन उनकी जेब में आ जाता है।[32]

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने रिश्वत के बाजार में क्रान्ति ला दी है। भारत में उभरते हुए बाजारों में अपने पैर जमाने की खातिर ये कम्पनियाँ राजनीतिज्ञों को भारी रिश्वत देती है जिससे उन्हें ठेके मिल सके। बढ़ते हुए भ्रष्टाचार ने राजनीति में किसी को अछुता नहीं छोडा है। बड़े–बड़े सांसद, विधायक इसकी चपेट में आ रहे हैं ऐसे में विधायिका की विश्वसनीयता पर लोगों का भरोसा उठ रहा है।[33] विगत कुछ घोटालों का विश्लेषण करे तो भ्रष्टाचार की चरम सीमा का पता चलता है[34]–

वर्ष	**घोटाला**	**राशि (रुपये में)**
1989	बोफोर्स घोटाला	64 करोड़
1992	हर्षद मेहता घोटाला	5000 करोड़
1995	तेलगी घोटाला	4300 करोड़
1996	चारा घोटाला	950 करोड़
2001	सिक्योरिटी घोटाला	4000 करोड़
2008	सत्यम घोटाला	24,000 करोड़
2009	मधु कोडा घोटाला	4000 करोड़
2010	कामनवेल्थ घोटाला	800 करोड. (C.V.C. के अनुसार)
2010	आदर्श सोसायटी	79 करोड़
2010	टू जी स्प्रेक्टम घोटाला	1.77 लाख करोड़ रूपये

उपरोक्त घोटालों ने जनता को हिला दिया। अन्ना हजारे ने भ्रष्टाचार के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। जिसमें भारतीय जनता की सहभागिता देखकर लगा कि

अब भ्रष्टाचार का अन्त हो जायेगा। 27 अगस्त 2011 भारत का ऐतिहासिक दिन था, जब संसद ने जनलोकपाल विधेयक पारित किया। किन्तु अभी भी यह प्रश्न अनुत्तरित है कि क्या लोकपाल जैसी संस्थाए भ्रष्टाचार की चपेट में तो नहीं आ जायेगी? उनका हर प्रवर्तन निदेशालय, सी बी आई जैसा तो नहीं हो जायेगा। टू–जी स्प्रेक्टम घोटाले को लेकर जो हंगामा लोक लेखा समिति में हुआ वह संसद की गरिमा गिराने वाला था। इसकी पुनरावृति न हो, तो तभी संसदीय व्यवस्था की साख बनी रह सकती है। निर्वाचित प्रतिनिधियों का आचरण शुद्ध होना अति–आवश्यक है यदि किसी वजह से उच्च जनप्रतिनिधि का आचरण सन्देह के घेरे में आ जाता है तो उसे अपने पद से त्यागपत्र देकर नैतिकता का प्रमाण देना चाहिए। यह अत्यंत खेदजनक बात है कि पिछले दशकों में हमारे देश में लोकतांत्रिक आदर्शों का निरंतर अवमूल्यन हुआ है। सत्ता में बैठे शीर्ष लोगों के आचरण पर अंगुलियां उठती रही है। उन पर गंभीर आरोप लगे है, विभिन्न जाँच रिपोर्टों में उन्हें दोषी ठहराया गया है, फिर भी वे कुर्सी पर जमें रहे।[35] बड़े–बड़े घोटाले हुए किन्तु इन घोटाले की नैतिक जिम्मेदारी किसी ने नहीं ली, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकती।

संसदीय विशेषाधिकार का हनन :-

सदन में शोर शराबा करना, नारे लगाना, अध्यक्ष के आदेशों की अनदेखी करना और यहाँ तक की एक दूसरे पर हिंसा एवं बल प्रयोग करना एक आम बात हो गई है। ऐसा लगता है कि सदस्यों ने इन सबको भी अपना विशेषाधिकार मान लिया है। संसद और विधानसभा में सांसद और विधायक एक दूसरे पर जूते चप्पल मारकर सदन की अवमानना करते है ऐसे में न्यायपालिका के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ जाती है। कितनी बार ऐसी स्थिति आ चुकी है जब विधायिका और न्यायपालिका के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई जैसे– उत्तर प्रदेश विधानसभा व विधायक केशव सिंह का मामला, मणिपुर विधानसभा के अध्यक्ष बोरो सिंह का मामला, इनाडु समाचार पत्र के सम्पादक का मामला आदि।[36]

भारत एक लोकतांत्रिक देश है हमने अपने यहाँ संसदीय शासन पद्धति अंगीकृत किया है। संसद एवं विधानसभाओं में देश की असंख्य जनता प्रतिनिधित्व कुछ चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। यहाँ प्रतिनिधि अपने एवं जनता की समस्याओं को सदन तक पहुँचाते है, उन पर चर्चा करते है।

बढ़ता खर्चा घटता काम :-

संसदीय लोकतंत्र दिन–प्रतिदिन खर्चीला होता जा रहा है पिछले छह दशकों में वह कई सैकड़ों गुना बढ़ गया है। साठ वर्ष पूर्व प्रत्येक सांसद को 45 रूपए प्रतिदिन का भत्ता मिलता था, जिसकी यदि वर्तमान सांसद पर होने वाली राशि से तुलना की जाए तो अत्यंत आश्चर्य होता है।

वर्तमान लोकसभा अर्थात् पन्द्रहवीं लोकसभा में सांसदों के वेतन और अन्य सुविधाओं में जबरदस्त बढ़ोतरी की गई। वेतन पचास हजार रूपये कर दिया गया। इसके साथ निर्वाचन क्षेत्र और कार्यालय के भत्ते 20–20 हजार से बढ़ाकर 40–40 हजार प्रतिमाह कर दिये गये। इस प्रकार सांसदों को कुल 1.4 लाख रूपये हर महीने के मिलने लगे। उनके वेतन और भत्तो में हुई यह वृद्धि 150 प्रतिशत की थी, जो अब तक की सबसे बड़ी वृद्धि है। इसके अलावा उपस्थिति भत्ता एक हजार से बढ़ाकर 2000 रूपये किया गया जो उन्हें रजिस्टर में हस्ताक्षर करने पर मिलता है। इसके लिए सदन की कार्यवाही में भाग लेना जरूरी नहीं है।[37]

सांसद किराए के बिना फ्लैट या बंगला पा सकते हैं डेढ़ लाख रूपये की मुफ्त टेलीफोन काल कर सकते है, पचास हजार यूनिट बिजली प्रति वर्ष खर्च कर सकते है, यही नहीं, हर साल 34 जो क्लास की हवाई–यात्रा तथा हवाई अड्डे से अपने निवास तक आने जाने के लिए यात्रा भत्ता भी उन्हें मिलता है। रेल्वे फर्स्ट–क्लास का पास और एक पास दूसरे दर्जे का भी मिलता है। जीवनसाथी के लिए प्रति वर्ष आठ हवाई यात्राएं और पहले दर्जे का रेल यात्रा का पास मिलता है। इसके अलावा प्रत्येक कार्यकाल में सांसद 75 हजार रूपये के फर्नीचर अलाउंस के भी हकदार होते है। इन सुविधाओं में कोई संशोधन नहीं किया है। हां पहले एक

सांसद को कार खरीदने के लिए ब्याज मुक्त एक लाख रूपये मिलते थे, जबकि अब वे चार लाख रूपये प्राप्त कर सकते हैं।

लोकसभा सचिवालय के अनुसार संसद की एक दिन की कार्यवाही पर करीब 7.65 करोड़ रुपए का खर्च आता है और हंगामें के कारण छः दिन से अधिक नष्ट होने से 45 करोड़ रूपये से अधिक की राशि बेकार हुई। वर्ष 2010–11 के लिए दोनों सदनों और संसदीय कार्य मंत्रालय का कुल बजट अनुमानतः 535 करोड रूपए है और एक साल में संसद तीन बार यानी बजट सत्र, मानसून सत्र और शीतकालीन सत्र के लिए बैठती है। पिछले पांच सालों (2005–2009) हर साल संसद की औसतन 70 बैठकें हुई। इस लिहाज से एक सत्र की एक दिन की कार्यवाही पर 7.65 करोड़ रूपए खर्च आता है। संसद का यह बजट न सिर्फ बैठकों के लिए निर्धारित होता है बल्कि इसमें कर्मचारियों और अन्य संबंधित गतिविधियों का खर्च भी शामिल है। 535 करोड़ रूपये के सालाना बजट में से लोकसभा अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के लिए 67 लाख, विपक्ष के नेता तथा उसके कार्यालय आदि के लिए 93 लाख, 545 सदस्यों के लिए 171 करोड़ रुपए तथा 172 करोड़ रुपए लोकसभा सचिवालय के लिए निर्धारित होते है। इसमें विभिन्न दलों के मुख्य सचेतकों के कार्यालयों के लिए 29 लाख रूपए तथा 87 लाख रूपए अन्य मदों पर खर्च किये जाते है। इसी प्रकार राज्य सभा के सभापति और उपसभापति के लिए 72 लाख रूपए, विपक्ष के नेता तथा उनके कार्यालय के लिए 88 लाख रूपए, 250 सदस्यों के लिए 75 करोड़ रुपए, सचिवालय के लिए 96 करोड़ रुपए, राजनीतिक दलों के सचेतकों के लिए 17 लाख रूपए तथा अन्य मदों के लिए 61 लाख रूपए का प्रावधान रहता है। इस प्रकार लोकसभा और राज्यसभा की एक दिन की कार्यवाही चलाने पर लगभग 7.65 करोड़ रूपये खर्चा आता है।[38]

संसद की स्थिति

भुगातन मद	14वीं लोकसभा	15वीं लोकसभा
वेतन	16,000	50,000
दैनिक भता	1000	2000
संसदीय क्षेत्र भत्ता	20,000	40,000
कार्यालय भत्ता	20,000	40,000
अन्य सुविधाओं पर	85,000	95,000
कुल (रूपए प्रतिमाह)	1,42,000	2,27,000

फ्लैट/बंगले का किराया शामिल नहीं **(सभीआंकडे रूपए में)**[39]

प्रश्न यह है कि सांसद हो या विधायक उनके वेतन भत्तों में इतनी वृद्धि के बावजूद इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि वे सदन में उपस्थित भी रहेंगे। प्रश्नकाल में प्रश्नकर्ता सांसद विधायक ही गैर हाजिर हो जाते है। इसी तरह जब उन्हें वेतन दिया जा रहा है, तब कार्यालय अथवा संसदीय क्षेत्र भत्ते का क्या औचित्य है? वे क्षेत्र में जाए या नहीं जाए, उन्हें भत्ता तो मिलेगा? प्रतिदिन होने वाले खर्चो को देखते हुए सांसदों और विधायकों से आशा की जाती है कि वे हंगामें करके सदन स्थगित न करें। जनता की मेहनत की कमाई इस तरह व्यर्थ न करे। संसद आम जनता को यह लगना चाहिए कि उनके करो से जो वेतन भत्ते सांसद विधायक ले रहे है उसकी एक एक पाई वसूल हो रही है।

चुनाव सुधारः-

2 मई 2002 को उच्चतम न्यायालय ने अपने महत्वपूर्ण निर्णय में निर्वाचन आयोग को निर्देश दिया कि वह चुनाव में खड़े होने वाले प्रत्याशियों के बारे में आपराधिक रिकार्ड, शिक्षा, सम्पत्ति और देनदारी आदि का विवरण जनसंचार एवं समाचार के माध्यमों से मतदाता को दे। न्यायालय ने कहा कि मतदाता को अपने प्रत्याशियों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना उनका संवैधानिक अधिकार है। चुनावों में भ्रष्टाचार को रोकने की दिशा में यह एक सराहनीय कदम था।

उच्चतम न्यायालय के निर्देश के अनुसार, 9 जून 2002 को निर्वाचन आयोग ने संसद और विधानसभाओं में चुनाव में नामांकन के साथ हलफनामे में व्यक्तिगत पृष्ठभूमि, शैक्षिक योग्यता, सम्पत्ति तथा वित्तीय दायित्वों के विवरण के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण देने को अनिवार्य बना दिया। इस पर राजनीतिक दलों में हडकम्प मच गया। इस स्थिति से निपटने के लिए सर्वदलीय बैठक बुलाई गई थी जिस पर सभी दलों ने इस अधिसूचना का जमकर विरोध किया और यह निर्णय लिया कि चुनाव सुधार पर कानून बनाने की शक्ति संसद को है। बाद में सरकार ने विधेयक द्वारा चुनाव कानून (लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम) में संशोधन कर दिया जिसके अनुसार सांसदों और विधायकों को, अन्य प्रत्याशियों को नहीं, जीतने के बाद अपने बारे में सम्पत्ति आदि सम्बन्धित सदन के पीठासीन अधिकारी को सूचनाएँ देने का प्रावधान कर दिया और इस प्रकार उच्चतम न्यायालय और चुनाव आयोग के आदेशों को निरस्त कर दिया।

किन्तु उच्चतम न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक फैंसले ''भारत संघ बनाम एसोसिएशन फार डेमोक्रेटिक रिफार्मस[40] में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में किये गये संशोधनों को असंवैधानिक घोषित कर दिया और अपने 2 मई 2002 के पूर्व निर्देशों को यथावत रखा, जिसमें प्रत्याशियों के लिए नामांकन पत्र भरते समय अपना आपराधिक रिकॉर्ड, अपनी सम्पत्ति, देनदारी और शैक्षणिक योग्यता की जानकारी देने को अनिवार्य करने की बात कही गई थी। उच्चतम न्यायालय की तीन सदस्यीय खण्ड पीठ ने यह निर्णय दिया कि मतदाता का सूचना का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 19 में प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अन्तर्गत एक मूल अधिकार है और उक्त संशोधन उसका अतिक्रमण करता है, अतः असंवैधानिक है। न्यायालय ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में किए संशोधनों को अविधिमान्य घोषित करने के बाद चुनाव आयोग को निर्देश दिया कि यह वर्तमान निर्णय को लागू करने के लिए नई अधिसूचना जारी करे। न्यायालय ने सरकार द्वारा लागू चुनाव सुधार कानून को चुनाव में धन, बल की ताकत के प्रयोग को रोकने के लिए अधूरे मन से किया गया प्रयास बताते हुए कहा कि 2 मई का उसका आदेश अन्तिम है। न्यायालय ने यह कहा कि संसद उक्त कानून को बनाने के लिए सक्षम नहीं है क्योंकि मतदाताओं

को अपने प्रत्याशियों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने का, जिसे वे मत देते हैं, मूल अधिकार है। खण्डपीठ ने यह भी कहा कि विधायिका यह नहीं घोषणा कर सकती कि न्यायालय का निर्णय मानने के लिए राज्य बाध्य नहीं है या उसका कोई प्रभाव नहीं है। न्यायमूर्ति श्री शाह ने कहा कि मत देने के अधिकार का कोई अर्थ नहीं होगा यदि नागरिकों को प्रत्याशियों के पूर्व रिकार्डों की भली भाँति जानकारी नहीं दी जाती है।

न्यायालय ने यह निर्णय पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज, लोक सत्ता और एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफार्मस द्वारा लोकहित वाद के माध्यम से चुनाव कानून में किए गए संशोधन की विधिमान्यता को चुनौती दी जाने वाली याचिका की सुनवाई करते हुए दिया। उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय अत्यंत साहसिक एवं प्रशंसनीय है। इससे निश्चित ही राजनीति के अपराधीकरण पर रोक लगेगी और हमारी विधायिकाओं में स्वच्छ छवि के लोग जायेंगे, जिससे देश का लाभ होगा। राजनीतिज्ञों को इस निर्णय को खुलेमन से स्वीकार करना चाहिए और न्यायपालिका के प्रति विरोध का भाव त्याग देना चाहिए। इस निर्णय का देश की जनता ने स्वागत किया है।

लाभ का पद :-

'लाभ का पद' पदावली की संविधान में या लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 में कोई परिभाषा नहीं दी गई है। इसके अर्थ को न्यायिक निर्णयों के द्वारा समझा जा सकता है।[41] 'लाभ का पद' से तात्पर्य ऐसे पद से है जिससे लाभ मिल सकता हो या जिससे व्यक्ति युक्तियुक्त रूप से लाभ प्राप्त करने की आशा कर सकता है। 'लाभ' शब्द से अभिप्रेत है– धन संबंधी लाभ। लाभ की मात्रा का इस बात के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण स्थान है कि कोई पद लाभ का पद है या नहीं।[42] लाभ वेतन या पारिश्रमिक के रूप में मिलना चाहिए न कि प्रतिकरात्मक या मानदेय के रूप में, जो उसके पद के कार्यों के पालन में होने वाले आवश्यक खर्चे के लिए ही पर्याप्त हो।[43] इस उपबंध का उद्देश्य संसद सदस्यों का कार्यपालिका से स्वंतत्रता को सुनिश्चित करना है। यदि वे कार्यपालिका के दबाव में रहेंगे तो स्वतंत्र

रूप में अपने कार्यों का निर्वहन नहीं कर सकेंगे क्योंकि उससे उनके कर्तव्य और स्वहित में ठकराव होगा। के0वी0 रोहमरे बनाम शंकर राव[44] के निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि बम्बई इण्डस्ट्रिएल ऐक्ट, 1946 के अधीन गठित मजदूर बोर्ड के सदस्यों को दिये गये मानदेय भत्ते लाभ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे उनके व्यक्तिगत खर्चे के लिए ही पर्याप्त नहीं होते है। इसीलिए मजदर बोर्ड की सदस्यता को अनुच्छेद 191 के अन्तर्गत लाभ का पद नहीं कहा जा सकता है। सदस्यता को अनर्हता के लिए केवल लाभ का तत्व ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह लाभ का पद भारत सरकार के या राज्य सरकार के अधीन हो।

जया बच्चन बनाम भारत संघ[45] समाजवादी पार्टी की राज्य सभा सदस्या जया बच्चन को राज्य सभा सदस्यता से इस आधार पर निरर्ह घोषित कर दिया गया है कि वे उत्तर प्रदेश फिल्म निगम की अध्यक्षा के रूप में लाभ का पद धारण करती थी। उनके विरुद्ध एक सदस्य ने राष्ट्रपति को इसके लिये आवेदन दिया था। राष्ट्रपति ने इसे चुनाव आयोग के विचारार्थ भेज दिया था। चुनाव आयोग ने इस आरोप को सत्य पाया और राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश भेज दी। राष्ट्रपति ने आयोग की सिफारिश पर उन्हें संसद की सदस्यता के निरर्ह घोषित कर दिया। जया बच्चन ने इस विनिश्चय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की। उनका तर्क था कि यद्यपि सरकार ने उन्हें उपर्युक्त पद का मिलने वाली सभी सुविधायें प्रदान की थीं किन्तु उन्होंने इसका उपयोग नहीं किया था। किन्तु उच्चतम न्यायालय ने उनके तर्क को अस्वीकार कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि उनका पद लाभ का पद था क्योंकि वह पद स्थायी था और उसको धारण करने वाला उससे युक्तियुक्त रुप से कुछ लाभ पा सकता था। वास्तविक धन संबंधी लाभ पाना आवश्यक नहीं है।

इसके पश्चात् मामला आगे बढ़ा और अनेक सांसदों के विरुद्ध इस प्रकार के आवेदन उनको निरर्ह करने के लिये राष्ट्रपति को दिये गये। इसमें कांग्रेस अध्यक्षा सोनिया गांधी के विरुद्ध भी एक आवेदन दिया गया जो राष्ट्रीय सलाहाकार परिषद की अध्यक्षा थी। इस भय से कि कहीं चुनाव आयोग द्वारा उन्हें लोकसभा की

सदस्यता से निरर्ह घोषित न कर दिया जाये उन्होंने दोनों उक्त पदों से त्याग पत्र दे दिया। उन्होंने पुनः रायबरेली से चुनाव लड़ा और लोकसभा के लिए निर्वाचित हुई। इस बीच लोकसभा अध्यक्ष तथा साम्यवादी दल के कई सदस्य तथा अन्य पार्टी के अनेक सदस्यों के विरुद्ध चुनाव आयोग को ऐसे ही आवेदन दिये गये। इस बीच उत्तर प्रदेश सरकार के एक विधेयक पारित करके बहुत से विधायकों को इस अनुच्छेद पारित करके सभी सांसदों को जो लाभ का पद धारण किये थे इस निरर्हता से बाहर निकाल दिया। उपर्युक्त घटनाये इस बात को दर्शाती है कि इस विषय पर बनायी गयी विधि त्रुटिपूर्ण है और उसमें सुधार करने की अत्यंत आवश्यता है। जब सांसद और विधायक ही भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहे है तो वे किस नैतिक बल से देश में व्यापक भ्रष्टाचार को दूर कर पायेंगे? वे एक मंत्री होते हुए भी कई निगमों के अध्यक्ष बनकर इसका लाभ ले रहे हैं।

न्यायिक अवमानना का मामला :-

मणिपुर विधानसभा अध्यक्ष मामला[46] मणिपुर विधानसभा अध्यक्ष श्री वोरो बाबू सिंह का मामला न्यायालय के अवमान से संबंधित एक ऐतिहासिक महत्व का मामला है। उच्चतम न्यायालय की 5 न्यायाधीशों की पीठ ने मणिपुर के विधानसभा अध्यक्ष को न्यायालय के आदेशों का उल्लघंन करने का दोषी पाया और न्यायालय के अवमान की कार्यवाही प्रारम्भ की। श्री वोरो बाबू सिंह ने विधानसभा के सदस्यों को दल–बदल अधिनियम के अधीन निरर्हण कर दिया। उच्चतम न्यायलय ने अध्यक्ष के आदेश को निरस्त कर दिया और यह आदेश दिया कि उनके वेतन का भुगतान कर दिया जाए। मणिपुर विधानसभा के सचिव श्री मनीलाल सिंह ने उनके वेतन का भुगतान कर दिया। उससे क्रोधित होकर अध्यक्ष ने सचिव को नौकरी से हटा दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह आदेश दिया कि सचिव का नौकरी से हटाया जाना असंवैधानिक है और 4 अगस्त तथा 21 अगस्त 1992 के आदेशों द्वारा यह निर्देश दिया कि सचिव को नौकरी पर पुनः बहाल किया जाए और उन्हें वेतन दिया जाए। अध्यक्ष के उक्त आदेशों की अवहेलना करके न्यायालय का अवमान किया। उच्च न्यायालय ने अध्यक्ष को न्यायालय के अवमान का दोषी पाया और न्यायालय के

समक्ष उपस्थित होने का आदेश दिया। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि दसवीं अनूसूची के अधीन जब अध्यक्ष अपनी शक्ति का प्रयोग करता है तो वह न्यायालय की अधिकारिता के अधीन रहता है। यह उसका प्रशासनिक कार्य है, जो विधानसभा के अध्यक्ष के कार्यों से पृथक है, वह अपने प्रशासनिक कार्यो के लिए न्यायालय की अधिकारिता अधीन है। अध्यक्ष ने यह तर्क दिया कि वह अध्यक्ष के रूप में न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं है। न्यायालय के कई आदेशों के पश्चात् अध्यक्ष महोदय न्यायालय में उपस्थित नहीं हुए। अन्त में, न्यायालय ने केन्द्र सरकार को निर्देश दिया वह अध्यक्ष को बल प्रयोग करके न्यायालय के समक्ष उपस्थित करे। अन्त में, 24 मार्च 1993 को श्री वोरो बाबू सिंह न्यायालय में उपस्थित हुए और शपथ पत्र दाखिल किया कि उन्होने न्यायालय के सभी आदेशों का पालन किया है और करने के लिए तैयार है और उक्त घटना के लिए दुःख प्रकट किया। इस पर न्यायालय ने उनके विरुद्ध अवमान की कार्यवाही समाप्त कर दी। उच्चतम न्यायालय का प्रस्तुत निर्णय लोकतांत्रिक सिद्धांतों और विधि शासन के अनुरुप है। यह निर्णय यह स्पष्ट करता है कि कोई भी व्यक्ति संविधान और विधि से ऊपर नहीं है।

इन री विनय चन्द्र मिश्र के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपनी अवमानना शक्ति का पूर्ण विवेचन किया है और यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 129, 215 और 142 के अधीन उसे स्वप्रेरणा से अवमानना करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 129 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को न केवल अपनी अवमानना के लिए दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है बल्कि उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयों की अवमानना के लिए भी दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय की तीन सदस्यीय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 129, 215 और 142 को अधीन उसे स्वप्रेरणा से अवमानना करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 129 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को न केवल अपनी अवमानना के लिए दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है बल्कि उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयों की अवमानना के लिए भी दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय की तीन सदस्यीय ने यह निर्णय दिया

कि अनुच्छेद 129 और 142 के अधीन अवमानना के लिए दण्ड देने की उसकी शक्ति को किसी अधिनियम के द्वारा परिसीमित नहीं किया जा सकता है। (जैसे–न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 और अधिवक्ता अधिनियम)[47]

लोक सम्पत्ति का दुरुपयोग :-

जे0 जयललिता बनाम गर्वनमेंट ऑफ तमिलनाडु व अन्य में पिटीशन उच्चतम न्यायालय के सामने अनुच्छेद 32 के तहत इसलिये लाया गया कि स्टेडियम को किसी अन्य उद्देश्य के लिए प्रयोग में न लिया जाय। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि एक बार इस अतंर्राष्ट्रीय स्टेडियम के प्रयोग की आंशिक अनुमति इसलिये दी गयी थी कि राज्य के मुख्यमंत्री के स्वागत में इकट्ठी भीड को कोई परेशानी न हो, (तथा आमत्रंण पत्रों की छपाई में आये खर्चे को देखते हुये) लेकिन उसमें शर्त लगाई थी कि बाढ़ के पीछे स्थित मैंदान में कोई क्रियाकलाप (प्राकृतिक या सिंथेटिक) नहीं होना चाहिए तथा स्टेडियम को खेल के अलावा क्रियाकलाप के लिये दिये जाने को एक नजीर के रूप में उद्धरण नहीं किया जायेगा तथा किसी को इससे कोई अन्तर्निहित अधिकार नहीं मिल जाता कि वह हमेशा स्टेडियम को खेल के अतिरिक्त उद्देश्य के लिए प्रयोग में ला सकता है। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि यह दलील कि राज्य इसे किराये पर उठाकर कुछ राजस्व अर्जित कर सकता है, यह बिल्कुल नयी बात है।[48]

जी. छाम्बिराज बनाम स्टेट के मामले में पिटीशनर, (अखिल भारतीय अधिवक्ता संघ सचिव था) उसने एक लोकहित मुकदमा न्यायालय में प्रत्युत्तर दाताओं के विरुद्ध परमादेश प्राप्त करने हेतु दायर किया, पिटीशनर में बताया गया कि जनसामान्य को उपलब्ध सुविधाओं में व्यवधान डाला व लोक सम्पदा का दूरूपयोग किया। इस वाद में पिटीशनर ने कहा कि तमिलनाडु के मुख्यमंत्री ने अपने दत्तक पुत्र के विवाह में राज्य सरकार के विस्तृत संसाधनों का बड़े पैमाने पर दुरुपयोग किया। इसे न्यायालय ने गलत ठहराया।[49]

अध्यादेशों का दुरुपयोग

डी.सी. बाधवा बनाम बिहार राज्य[50] के मामले में बिहार के गवर्नर द्वारा अध्यादेशों के प्राख्यापित व पुनः प्राख्यापित करने को चार पिटीशनर्स द्वारा चुनौती दी गई। जिन अध्यादेशों को चुनौती दी गई, वे है (1) **बिहार फोरेस्ट प्रोड्यूस (रेग्यूलेशन ऑफ ट्रेड) थर्ड ऑर्डीनेंस, 1983 (2) दी बिहार इण्टरमीडिएट एज्यूकेशन काउन्सिल थर्ड ऑर्डीनेंस 1983 व (3) दी बिहार ब्रिक्स सप्लाई (कन्ट्रोल) थर्ड ऑर्डीनेंस, 1983।** पिटीशन नं0 1 गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पोलिटिक्स व इकोनोमिक्स, पूना में अर्थ शास्त्र के प्रोफेसर है, उन्होंने अनेक वर्षों से भारतीय राजनीति के संवैधानिक कृत्य पर अध्ययन करने में लगाये हैं, वह देश के प्रशासनिक कृत्यों के परिक्षण व प्रोत्साहन में गंभीर रुप से इच्छुक है। अन्य पिटीशनर ने बिहार सरकार द्वारा अध्यादेशों के समय–समय पर प्राख्यापित व पुनः प्राख्यापित किये जाने को चुनौती दी। दूसरी और रेस्पोण्डेन्ट ने कहा कि उक्त चारों पिटीशनर्स को बिहार राज्य में समय–समय पर अध्यादेश प्राख्यापित करने की जो व्यवस्था चल रही है, उसे चुनौती देने को कोई अधिकार नहीं है वे केवल बाहरी व्यक्ति है, इन्हें कोई विधिक हित नहीं है कि वे बिहार राज्य की इस प्रवृति को चुनौती दें। उच्चतम न्यायालय ने रस्पोण्डेन्ट की दलील को निरस्त करते हुए कहा।''[51]

उच्चतम न्यायालय ने **एस0पी0 गुप्ता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया** में न्यायाधीश भगवती के कथन संदर्भित किया जिसमें यह कहा गया कि ''जनता का कोई सदस्य जिसे पर्याप्त हित है वह किसी विधि या संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन होने पर या लोक दायित्व के उल्लंघन पर लोक क्षति के लिए न्यायिक प्रतितोष के लिए कार्यवाही कर सकता है एवं वह ऐसे लोक दायित्व के प्रवर्तन, संवैधानिक व विधिक प्रावधानों की पालना की माँग कर सकता है।[52]

माननीय मुख्य न्यायाधीश पी0एच0 भगवती के उपर्युक्त निर्णय को ध्यान में रखते हुए उच्चतम न्यायालय ने इस मामले में अभिनिर्धारित किया कि विधि शासन हमारे संविधान का सार है और यह विधि शासन के लिए आवश्यक है कि राज्य के

द्वारा प्रयोग की गई शक्ति चाहे वह विधायी है अथवा कार्यपालिकीय या अन्य प्राधिकारिता द्वारा प्रयोग की गई है, उसे संविधान की सीमा में होना चाहिए और यदि कार्यपालिका द्वारा ऐसी प्रवृत्ति अपनायी जाती है जिससे घोर व व्यवस्थित तरीके से इसकी सीमाओं का उल्लंघन किया जा सकता है। पैटीशन नं0 1 को जनता के सदस्य के रूप में पर्याप्त हित होगा कि वह ऐसी प्रवृति को याचिका दायर कर चुनौती दे सकता है और यह न्यायालय का संवैधानिक दायित्व होगा कि वह याचिका को ग्रहण करे एवं ऐसी प्रकृत्ति का विधिक न्याय निर्णयन करें।[53]

सब कमेटी ऑन जुडीसियल एकाउण्टेबिलिटी बनाम भारत संघ तथा राज वीरबल बनाम रबी राय के मामले में उच्चतम न्यायालय के सामने भारतीय संविधान के अनुच्छेद 121, 124 व जजेज (इन्क्वायरी) एक्ट, 1968 की धारा 3 व 6 के निर्वाचन को लेकर विवाद खडा हो गया। नौवी लोकसभा के 108 सदस्यों ने एक प्रस्ताव प्रेसीडेंट को रखा कि प्रेसीडेन्ट उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश वी. रामास्वामी को पद से हटाने के लिए प्रस्ताव रखें। प्रस्ताव को स्पीकर द्वारा स्वीकार कर लिया गया। उसने समिति का गठन किया, जिसमें न्यायाधीश पी0बी0 सांवत, उच्चतम न्यायालय के कार्यरत जज, न्यायाधीश पी0डी0 देसाई, बम्बई उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीश चिनप्पा रेड्डी को जजेज एक्ट 1968 के तहत रखा। इसी दौरान नौंवी लोकसभा भंग हो गयी तथा भारत संघ ने यह कदम उठाया कि जाँच को लोकसभा भंग होने के साथ समाप्त किया जाता है।[54]

भारत सरकार के उपर्युक्त निर्णय को चुनौती दी गई तथा उच्चतम न्यायालय में पिटीशन फाइल किया गया कि वह भारत संघ को निर्देश दे कि वह मामले में पहल करे। रिट पिटीशन का अनुमति देते हुए उच्चतम न्यायालय ने 4 के विरुद्ध 1 के बहुमत से अभिनिर्धारित किया कि प्रस्ताव जो 108 सदस्यों ने प्रेसीडेंट के लिए रखा कि न्यायाधीश रामास्वामी को उसके पद से हटाया जाये, उस प्रस्ताव को स्पीकर द्वारा स्वीकार करना तथा समिति का गठन करना नौंवी लोकसभा के भंग होने के कारण खत्म नहीं हो जायेगा। न्यायालय ने आगे अभिनिर्धारित किया कि जजेज एक्ट संसद द्वारा अनुच्छेद 124(5) के तहत बनायी गयी विधि है। यह

समाप्त के सिद्धांत को रोकेगी तथा संविधान का अनुच्छेद 118 व जजेज एक्ट की धारा 3 व 6 भी इसे समाप्त होने से रोकेगी। निश्चित ही यह निर्णय संविधान की संसद पर सार्वभौमिकता का परिचायक सिद्ध हुआ है। यह निर्धारित किया गया कि ऐसे अभियोजन के लिए अनुमोदन प्रदान करने के बारे में सरकार की अस्वीकृति, पुनरावलोकन योग्य होती है और मनमाना होने पर इसका विखण्डन किया जा सकता है।[55]

संसदीय विशेषाधिकार और न्यायिक सक्रियतावादः-

यह प्रश्न कि क्या कोई विशेषाधिकार संसद के किसी सदन को प्राप्त है या नहीं? या क्या न्यायालय उस विशेषाधिकार के सदन द्वारा अनुचित ढंग से प्रयोग किये जाने की स्थिति में उसकी जाँच कर सकते है, काफी मतभेदपूर्ण रहा है।

इनाडू समाचारपत्र के सम्पादक का मामला[56] - 1984 में इनाडू समाचारपत्र सम्पादक के मामले में इस प्रश्न को यह चर्चा का विषय बना दिया है कि विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध कर दिया जाये और न्यायालय तथा विशेषाधिकारों के संबंध को स्पष्ट कर दिया जाए। तेलगू दैनिक इनाडू के प्रधान सम्पादक को एक लेख प्रकाशित करने के कारण आन्ध्र प्रदेश विधान परिषद की अवमानना के दोषी पाया गया और उन्हें सदन के समक्ष उपस्थित होकर क्षमा माँगने का आदेश दिया गया। सम्पादक ने इस आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की। न्यायालय ने उसे गिरफ्तार न करने का आदेश दिया। इस आदेश के बावजूद सदन में इस मामले पर चर्चा हुई और सदस्यों ने यह विचार व्यक्त किये कि विशेषाधिकारों के मामले में सदन सर्वोच्च है और न्यायालय को इसमें हस्तक्षेप करने की कोई शक्ति नहीं है और सम्पादक को गिरफ्तार करके सदन के समक्ष लाया जाना चाहिए। इस विवाद को बढता देखकर मुख्यमंत्री श्री रामाराव ने हस्तक्षेप किया और सदन से अनुरोध किया कि इस बात पर बहस स्थगित कर दे क्योंकि उन्होंने राष्ट्रपति से इस मामले को न्यायालय के परामर्श के लिए भेजने का अनुरोध किया है। यद्यपि मुख्यमंत्री के बुद्धिमतापूर्ण हस्तक्षेप के कारण एक गम्भीर विवाद बहरहाल टल गया किन्तु इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि उच्चतम न्यायालय

के निर्णय के पश्चात् यह मामला फिर न उठाया जाए। सदन के उपर्युक्त दृष्टिकोण से इसकी पुष्टि हो जाती है। इसका एक स्थायी समाधान आवश्यक है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि सदन का यह दावा गलत है कि वह सर्वोच्च है। भारत में संविधान सर्वोच्च है। विधान मण्डल संविधान से अपनी समस्त शक्ति प्राप्त करता है। विधान मंडल उस सीमा तक सर्वोच्च है, जहाँ तक संविधान उसे शक्ति प्रदान करता है और न्यायपालिका इस शक्ति के प्रयोग की वैधता एवं अवैधता की सर्वदा जाँच कर सकती है। यही सिद्धांत विशेषाधिकारों के मामले में भी लागू होता है। ऐसी स्थिति में यह उचित होगा कि विशेषाधिकारों का संहिताकरण कर दिया जाये। यद्यपि विधान मण्डल इसके पक्ष में नहीं है किन्तु इस प्रकार के विवादों को देखते हुए संहिताकरण के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं रह जाता है।

तमिलनाडु प्रेस का मामला – तमिलनाडु विधानसभा अध्यक्ष ने वहाँ के कतिपय समाचारपत्रों के सम्पादको के विरुद्ध सदन की अवमानना के लिए नोटिस जारी किया और जिसमें उन्हें सदन के समक्ष उपस्थित होकर सफाई देने को कहा और न आने पर गिरफ्तारी का वारंट जारी किया। समाचारपत्रों में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि अन्ना डी.एम.के. दल के एक विधायक ने डी.एम.के. के विधायक के ऊपर सदन में आक्रमण किया। अध्यक्ष का कथन है कि यह रिपोर्ट असत्य है और इसे प्रकाशित करके सम्पादकों ने सदन का अपमान किया था। सम्पादकों ने अपनी गिरफ्तारी के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में स्थगन आदेश प्राप्त कर लिया। अध्यक्ष महोदय ने यह मत व्यक्त किया की वे न्यायालय के आदेश को मानने के लिए बाध्य नहीं है। उपर्युक्तघटनाओं से यह स्पष्ट है कि जब तक विशेषाधिकारों का संहिताकरण नहीं किया जाता समय–समय पर न्यायपालिका और विधानमंडल के बीच विवाद उठते ही रहेंगे। इसमें सरकार के दोनों अंगो की गरिमा एवं प्रतिष्ठा को आघात पहुंचता है। लोकतांत्रिक प्रणाली में विधानसभा अध्यक्ष का दावा उचित नहीं है। जनता को विधानमंडल के भीतर की गतिविधियों की जानकारी पाने का अधिकार है। समाचार पत्रों की इस स्वतंत्रता की समुचित सुरक्षा होनी चाहिए।[57]

दल–बदल विधि के अधीन स्पीकर की शक्ति

हाल में जो घटनायें घटी है उससे यह बात स्पष्ट हो जाता है कि संसदीय विशेषाधिकारों का संहिताकरण अत्यंत आवश्यक है। दल बदल विरोधी कानून के अधीन प्राप्त अपनी शक्तियों का प्रयोग जिस तरह नागालैण्ड, मणिपुर, मेघालय और मध्यप्रदेश आदि राज्यों के विधानसभा अध्यक्षों ने किया है उससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। मणिपुर विधानसभा के अध्यक्ष ने 7 विधायकों को उक्त कानून के अन्तर्गत राजनीति में प्रेरित होकर सदन की सदस्यता से निरर्ह घोषित कर दिया। इस निर्णय को विधायकगणों ने उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी। न्यायालय ने दल–बदल विरोधी विधि को तो संवैधानिक घोषित कर दिया, किन्तु उसके पैरा 7 को अवैध घोषित कर दिया। जिसके अधीन अध्यक्ष के निर्णय को न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर कर दिया गया था। न्यायालय ने यह आदेश दिया कि उक्त विधायकों को विधानसभा की बैठक में भाग लेने और मत देने दिया जाये। अध्यक्ष महोदय ने न्यायालय के आदेश की अवहेलना की और कहा कि वे इसे मानने के लिए बाध्य नहीं है। इस पर न्यायालय ने उनके विरुद्ध अवमानना के लिये कार्यवाही की थी। बहुत कशमकश के पश्चात् अध्यक्ष महोदय ने न्यायालय में शपथ लेकर यह कहा कि वे न्यायालय के आदेश का पालन करेंगे। इस प्रकार न्यायपालिका और विधानमंडल के बीच विवाद को टाला गया।[58]

उपर्युक्त घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि दल बदल विरोधी अधिनियम के अधीन प्राप्त शक्ति का प्रयोग अध्यक्षों ने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया है। ऐसी दशा में सुझाव है कि दसवीं अनुसूची में संशोधन करके अध्यक्षों के निर्णय के विरुद्ध न्यायालयों में अपील करने का उपबंध किया जाना चाहिए।

सांसदों द्वारा रिश्वत लिए जाने का मामला –

अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय **पी.बी. नरसिम्हाराव बनाम राज्य (सी.बी.आई.एस. पी.ई.)**[59] के मामले में उच्चतम न्यायालय के पाँच सदस्यीय विधानसभा पीठ ने 3–2 के बहुमत से (न्यायमूर्ति एन0राय, एस0पी0 भरुचा और राजेन्द्रबाबू) यह अभिनिर्धारित

किया है कि अनुच्छेद 105(2) के अधीन संसद सदस्यों को प्राप्त विशेषाधिकारों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है और केवल न्यायिक कार्यवाहियों तक सीमित नहीं है बल्कि संसद की कार्यवाहियों में निडरतापूर्वक भाग लेने और मतदान करने तक है और वहाँ वे जो कुछ कहते है उसके लिए उनके विरुद्ध कोई सिविल और आपराधिक कार्यवाही नहीं की जा सकती है, अतः जिन सदस्यों ने नरसिम्हा राव सरकार के विरुद्ध लाए गए अविश्वास प्रस्ताव के विरुद्ध रिश्वत लेकर मतदान किया था उन्हें अनुच्छेद 105(2) का संरक्षण प्राप्त होगा और उनके विरुद्ध किसी षड्यंत्र या अवैध करार के लिए किसी भी न्यायालय में कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती है। किन्तु जिन सांसदों ने मतदान में भाग नहीं लिया उनके विरुद्ध सम्बन्धित विधि के अनुसार कार्यवाही चलाई जा सकती है।

अनुच्छेद 356 : न्यायिक निर्णय

एस0आर0 बोम्मई बनाम भारत संघ के मामलें में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायधीशों की संविधान पीठ ने ऐतिहासिक महत्व के निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 356 के अधीन राज्यों राष्ट्रपति शासन लागू करने और विधानसभा को भंग करने की राष्ट्रपति शक्ति सशर्त है, यह आत्यन्तिक शक्ति नहीं है। वह न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन है। यदि विधानसभा का भंग किया जाना अवैध पाया जाता है तो न्यायालय उसे पुनर्जीवित कर सकता है।[60]

उच्चतम न्यायालय के उक्त निर्णय को यदि अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन दुर्भावना से प्रेरित होकर राजनीतिक आधारों पर लागू किया जाता है तो न्यायालय उसे न केवल अवैध घोषित कर सकता है वरन् भंग विधानसभा को पुनर्जीवित भी कर सकता है। जो कि अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग पर रोक लगाने में निश्चित रूप से सहायक होगा। न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 356 के प्रयोग के लिए निहित किए गए मार्गदर्शक सिद्धांत स्वागत योग्य है। अनुच्छेद 356 का प्रयेाग राजनीति से प्रेरित होकर किया गया था।

लोक प्राधिकारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार संबंधी कार्यवाहियाँ –

अनुकूल चन्द्र प्रधान बनाम भारत संघ के मामले में एक अधिवक्ता ने एक लोकहित मुकदमा उच्चतम न्यायालय में इसलिये दायर किया कि 'जैन डायरियों से मिली सूचनाओं से ज्ञात हुआ है कि हवाला संव्यवहार में अपराधियों, शीर्षस्थ राजनेता, सरकारी अफसरों की मिली भगत से अवैध स्त्रोत व अवैध तरीके से रिश्वत ली गई है, अतः न्यायालय द्वारा भारत संघ को निर्देश दिये जायें कि सी.बी. आई. द्वारा शीघ्र अन्वेषण पूरा किया जाय। पिटीशन में दो अन्य अपराधियों के मामलों में अन्वेषण कर शीघ्र चार्जशीट दाखिल करने के लिए कहा–जिसमें पूर्व प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव भी सम्मिलित थे– सेन्ट किट फोरजरी व लक्खुभाई पाठक छल का मामला। उच्चतम न्यायालय ने चन्द्रा स्वामी जो इन मामलों में एक अभियुक्त था उसे आदेश दिया गया कि न्यायालय के अगले आदेश तक वह भारत छोड़ने की कोशिश न करे अथवा जब तक न्यायालय की अनुमति न मिल जाए वह भारत न छोड़े। उच्चतम न्यायालय ने मामले के अन्वेषण को प्रगति को आगे निगरानी हेतु सूचीबद्ध किया, क्योंकि सी.बी.आई. अन्वेषण राजनीतिक प्रभाव के कारण धीमा पड गया था।[61]

विनीत नारायण बनाम भारत संघ के मामले में एक लोकहित मुकदमा उच्चतम न्यायालय में दाखिल किया गया कि सरकारी एजेन्सीज जैसे सी.बी.आई. व राजस्व प्राधिकारी अपने विधिक दायित्व को निर्वाह करने में असफल रहे है क्योंकि वे धावे या छापे में जब्त 'जैन डायरियों' के संबंध में अन्वेषण के कार्य को पूरा करने में असफल रही है। पिटीशन में बताया गया कि हवाला संव्यवहार में अपराधियों, शीर्षस्थ राजनेताओं व अधिकारियों का हाथ है कहीं अपराध व भ्रष्टाचार के बीच नजदीकी संबंध हैं। विधि शासन देश में प्रजातंत्र का संरक्षण चाहता है कि सरकारी एजेन्सीज को उनके विधिक दायित्व को पूरा करने के लिए मजबूर किया जाए तथा प्रत्येक के विरुद्ध, चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति हो, विधि के अनुसार कार्य करें।[62]

उच्चतम न्यायालय ने कहा, कि मामले के तथ्य व परिस्थितियाँ इंगित करती है कि यह अत्यंत लोक महत्व का मामला है, इस मामले की पूर्ण रूप से न्यायालय

द्वारा जाँच की जानी चाहिए। ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि समस्त सरकारी एजेन्सीज, जिन्हें विधि के अनुसार कार्य करने का दायित्व सुपुर्द किया गया है, वे मस्तिष्क में संविधान के द्वारा निहित समता की अवधारणा व विधि शासन को ध्यान में रखकर कार्य करें – कि आप कितने भी बड़े है, विधि आपके ऊपर है'' अतः जिस व्यक्ति के विरुद्ध आरोप लगाये गये है, उसके विरुद्ध ऋजुता के आधार पर; अन्वेषण शीघ्रता से किया जाना चाहिए उसकी कोई भी हैसियत हो, इसे ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए।[63]

उच्चतम न्यायालय ने अफसोस जाहिर किया कि लम्बे अर्से से सरकारी एजेन्सीज द्वारा मामले का अन्वेषण पूरा नहीं किया गया है, जिस आधार पर न्यायालय को मामले का विचारण करना है। न्यायालय ने निर्देश दिया, कि बिना न्यायालय की अनुमति के कोई समझौता नहीं किया जाय तथा किसी अपराध का शमन नहीं किया जायेगा।

अत्यंत लोक महत्व का मामला होने के कारण न्यायालय ने सी.बी.आई. व अन्य सरकारी एजेन्सीज को मामले का शीघ्र अन्वेषण करने के निर्देश दिये तथा कहा कि यह देश के हित में नहीं है कि इस कार्य को पूरा करने में और विलम्ब न किया जाय।

लोकहित वाद हमारे देश के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ करने और इसके लिए दोषी व्यक्तियों को दण्डित करने में सबसे सशस्त्र साबित हुआ है। इसी के कारण, हवाला काण्ड, बिहार का चारा काण्ड, यूरिया काण्ड, सेन्ट किट्स काण्ड, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सांसदों द्वारा पूर्व प्रधानमंत्री श्री नरसिम्हा राव से धन प्राप्त कर संसद में उनके बहुमत को सिद्ध करने का काण्ड, उत्तर प्रदेश में आयुर्वेदिक घोटाला, दिल्ली में सरकारी भवनों के आवंटन का घोटाला, पेट्रोल पम्पों के आवंटन का घोटाला आदि काण्डों कों न्यायालय के समक्ष उठाया गया और उनकी जाँच हो रही है। उच्चतम न्यायालय ने भी नरसिम्हा राव के तीन वरिष्ठ मंत्रियो श्रीमती शीला कौल, पं0 सुखराम और कैप्टन सतीश शर्मा प्रत्येक को 50,00,000 पचास लाख रुपये बतौर दण्ड स्वरुप उदाहरणात्मक प्रतिकार

सरकार को देने का आदेश दिया। इससे निश्चय ही मंत्रीगण, तथा उच्च पदो पर आसीन कर्मचारीगण भयभीत होगे और भ्रष्टाचार की विभीषिका कम होगी। यद्यपि यह कार्य कार्यपालिका का है, किन्तु अनेक कारणो से उसमें भ्रष्टाचार से लडने की इच्छा शक्ति नही रह गई है। हमें न्यायपालिका को इस मुद्दे पर पूर्ण समर्थन देना चाहिए।

भ्रष्टाचार के मामले में अनुमति आवश्यक नहीं -उच्चतम न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया है कि भ्रष्टाचार के मामले में मुख्यमंत्रियो और मंत्रियो तथा प्रशासनिक अधिकारियो पर मुकदमा चलाने से पूर्व किसी से अनुमति लेने की आवश्यकता नही है। न्यायालय ने 3 पूर्व मुख्यमंत्रियो, बिहार के लालू प्रसाद,उनकी पत्नी राबडी देवी, पंजाब के पूर्व मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल, केरल के पूर्व मुख्यमंत्री करुणाकरन तथा वर्तमान मुख्यमंत्री वी. एस. अच्युतांनद पंजाब की उप मुख्यमंत्री राजिन्दर कौर भट्टल सहित कई वरिष्ठ नेताओं, जिनके विरुद्ध भ्रष्टाचार के मामले चल रहे है, द्वारा फाइल याचिका को खारिज कर दिया न्यायालय के दो न्यायमूर्तियो की पीठ जिसमें श्री अरिजित पसायत ओर श्री एस0 एच0 कपाडिया थे, नें यह निर्णय दिया।

केन्द्रीय जाँच एजेंसियों को पूर्ण स्वायत्ता: सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र और राष्ट्रीयकृत बैंकों के वरिष्ठ अधिकारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप की जाँच की पूर्ण छूट:-

अपने एक ऐतिहासिक महत्व के निर्णय विनीत नारायण बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने केन्द्रीय जाँच एजेन्सियों जैसे – केन्द्रीय जाँच ब्यूरो, केन्द्रीय सतर्कता आयोग, प्रवर्तन निदेशालय, आदि का पुनर्गठन स्वतंत्र और सशक्त बनाने के लिए सरकार को विस्तृत निर्देश दिया है। न्यायालय उपर्युक्त एजेन्सियों को सरकार से अनुमति लिए बिना सरकार, सार्वजनिक क्षेत्र और राष्ट्रीयकृत बैकों के वरिष्ठ अधिकारियो को खुली छूट दे दी है।

मुख्य न्यायमूर्ति श्री जे0 एस0 वर्मा ने करोडों रुपये के जैन हवाला काण्ड के मामले में फाइल की गई लोकहित याचिकाओं का निपटारा करते हुए इन एजेसियो के पुनर्गठन के लिए और उन्हें सशक्त बनाने के लिए जॉच एजेंसियो को स्वायतशासी बनाने ओर कामकाज करने की पूरी स्वतंत्रता दिलाने के लिए आवश्यक निर्देश जारी किए। न्यायालय ने विभिन्न हवाला कांडो में उच्च पदस्थ लोगो के विरुद्ध जाँच तक सी.बी.आई. तथा अन्य जाँच एजेंसियों की हिचक से संबंध में महत्वपूर्ण निर्देशो की चर्चा करते हुए सरकार को आदेश दिया कि वह केन्द्रीय सतर्कता आयोग को कानूनी दर्जा प्रदान करे औंर केन्द्रीय जाँच ब्यूरो पर उसकी निगरानी सुनिश्चित करे

उच्चतम न्यायालय का निर्णय सर्वथा स्वागत योग्य है। न्यायालय आदेश उच्च स्थानो पर व्याप्त भ्रष्टाचार को राकने में प्रभावी भूमिका निभा सकती है। इससे कार्यपालिका को ऐसा लगता होगा कि न्यायपालिका उसके अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रही है, किन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि आज जिस तरह वरिष्ठ अधिकारियो तथा राजनीतिज्ञों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगा रहे है, उस स्थिति में निष्पक्ष जाँच करा कर लोगो को दण्डित करना आवश्यक हो गया है अन्यथा लोगो के मन में यह धारणा बैठती जा रही है कि बड़े लोग अपराध करके भी छूट जायेगें। वास्तव में हवाला काण्ड, चारा घोटला, सांसद रिश्वत काण्ड यूरिया घोटाला आदि जो अनेक मामले सामने आए है उनमें सी.बी.आई. की भूमिका पर संदेह उत्पन्न हुए है। और इससे कार्यपालिका भी बदनाम हुई। यदि न्यायपालिका के निर्देशो पर अमल किया जाये और जाँच एजेंसियो को स्वतंत्रापूर्वक काम करने दिया जाये तो कार्यपालिका भी बदनामी से बचेगी और निष्पक्ष जाँच की सम्भावना बढेगी और उन एजेसियों को दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमा चलाने और दंडित कराने में आसानी होगी।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की कार्य वाहियो में स्थगन आदेश देने पर रोकः-

सत्यनारायण शर्मा बनाम राजस्थान राज्य के मामले में भ्रष्टाचार के रोकने की दिशा में एक ठोस कदम उठाते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम 1988 के अधीन मामलों में कोईभी न्यायालय स्थगन आदेश नहीं दे सकता है। न्यायालय का यह निर्णय ऐसे मामलों के शीघ्र परीक्षण करने में सहायक होगा । एक सामान्य प्रकिया के अनुसार अपराधीगण न्यायालय से परीक्षण के विरुद्ध स्थगन ले लेते है और परीक्षण अनिश्चित काल तक लटका देते है और इस प्रकार अधिनियम का उदेश्य विफल हो जाता है। इसी उदेश्य से अधिनियम की धारा 19 के अधीन संशोधन द्वारा न्यायालयो को ऐसे मामलो में स्थगन आदेश देने पर रोक लगा दी गई है। इस रोक के बावजूद यह पाया गया कि अनेक मामलो में कई उच्च न्यायालयों द्वारा स्थगन आदेश दे दिया जाता था। सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया है। अधिनियम में उसके शीघ्र परीक्षण के लिए उक्त संशोधन किया गया है। उच्चतम न्यायालय का यह कदम भ्रष्टाचार के मामले को शीघ्र निपटाने में सहायक होगा ।

कालेधन और न्यायिक कदम :-

अवैध खनन करके, सरकारी विकास योजनाओं के धन की चोरी करके, रिश्वतखोरी व टैक्स की चोरी करके, जो धन देश तथा विदेश में जमा किया जाता है, वह काला धन है। ग्लोबल फाईनेंशियल इन्टेग्रिटी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, टैक्स जस्टिस नेटवर्क तथा इसिपेस्न्सी इंटरनेशनल आदि सभी विश्व की आर्थिक संस्थाओं के अध्ययन विश्व के प्रमुख अर्थशास्त्रियों का अनुमान तथा भारतीय रिजर्व बैक के द्वारा छापी गई मुद्रा (नोट) आदि बातें इस बात का पक्का प्रमाण है कि भारत का लगभग 400 करोड रुपये का काला धन है। इसके लगभग 75 प्रतिशत स्विटरजलैण्ड, मॉरिशस, इटली, दुबई, सिंगापुर, लक्जमवर्ग आदि में जमा है तथा लगभग 25 प्रतिशत काला धन देश में ही जमीन, सोना व अन्य कार्यों में लगा है।

इस काले धन की सच्चाई को उजागर करने हेंतु न्यायापालिका ने आजादी के इतिहास में प्रथम बार ऐतिहासिक व निर्णायक फैसला सुनाते हुए जो टिप्पणियाँ की है, उससे सरकार की सच्चाई जनता के समक्ष आ चुकी है। माननीय सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि काला धन राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए बहुत बडा खतरा है। सरकार कोर्ट के दखल के बाद ही कुछ कार्यवाही करती है।सरकार अपने लोकतांत्रिक एवं संवैधानिक दायित्वों को गंभीरता एवं प्रमाणिकता के साथ नही निभा रही है। सरकार की नीयत ठीक नही है। सुप्रीम कोर्ट की यह टिप्पणी सरकार के मुंह पर बड़ा तमाचा है। काले धन ने सरकार का मुँह काला कर दिया है और सुप्रीम कोर्ट बार–बार कह रही है कि सरकार विदेशों में काला धन जमा करने वालों के नाम क्यों नहीं बता रही है? सरकार जब संवैधानिक लोकतांत्रिक, राष्ट्रीय दायित्व निभाने में विफल हो गयी है, तो माननीय सुप्रीम कोर्ट ने स्वयं पहल करके एस.आई.टी. अर्थात कालेधन पर विशेष जाँच दल का गठन किया है। माननीय सुप्रीम कोर्ट का यह निर्णय हमारे इस जनहित व राष्ट्रहित के आन्दोलन की आवश्यकता, वैधानिकता व प्रमाणिकता का सबसे बड़ा सबूत है। माननीय सुप्रीम कोर्ट का यह निर्णय दर्शाता है कि हम सही थे और सरकार पहले भी गलत थी आज भी गलत है।

नोट फॉर वोट का मामला –

22 जुलाई 2008 संसद की गरिमा के पतन का दुभार्ग्यशाली दिन रहा, जब संसद में भाजपा सांसदों द्वारा नोट लहराकर यह कहा गया कि, यह नोट सत्तारूढ़ पार्टी के कुछ वरिष्ठ सांसदों ने उन्हें सत्ता के पक्ष में वोट डालने के लिए दिए है। यह प्रकरण परमाणु विधेयक पर मतदान में यूपीए 1 को बचाने के संदर्भ में था। यह मामला तीन वर्ष तक दबा रहा, किन्तु हाल ही (2011) में न्यायालय के सख्त आदेशों से इसकी पुनः जाँच प्रारम्भ हुई जिसमें न्यायालय ने सी.बी.आई. को जाँच में ढिलाई बरतने के लिए फटकार लगाई। इसी का परिणाम है कि इस मामले में लिप्त संजीव सक्सेना, सुहैल हिस्दुस्तानी को गिरफ्तार किया गया। कुछ वरिष्ठ सांसदों अमरसिंह, अशोक अर्गल, महावीर भगोरा, फग्गन सिंह कुलस्ते को भी गिरफ्तार किया गया। 15 जुलाई 2011 को वकील प्रशान्त भूषण की याचिका पर

सुप्रीम कोर्ट ने वोट के बदले नोट कांड की ढीली–ढाली जाँच के लिए दिल्ली पुलिस की खिंचाई की और न्यायालय ने यह कहा वह चाहती है कि हकीकत और सिर्फ हकीकत सामने लाई जाए। सांसद अमर सिंह का जेल जाना, संसद की गरिमा पर प्रश्न चिन्ह है। न्यायपालिका की निगरानी और सजगता से ही यह संभव हो पाया है। अभी जाँच जारी है।

समसामयिक सन्दर्भ में न्यायिक सक्रियता

- मद्रास उच्च न्यायालय के द्वारा 12 मार्च 2016 को दिये गये एक निर्णय में तमिलनाडु राज्य के सभी विद्यालयों (प्राइवेट विद्यालय भी शामिल) में राष्ट्रीय गान को गाना अनिवार्य कर दिया। यह निर्णय मद्रास उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश संजय कृष्ण कौल और न्यायमूर्ति एम.एम. सुंद्रेश द्वारा एन. सेलवा पिरन्मल की याचिका की सुनवाई में लिया गया। याचिका में याचिकाकर्त्ता ने कहा था कि तमिलनाडु के विद्यालयों में राष्ट्रीय गान को नहीं गाया जा रहा है। याचिकाकर्त्ता ने तमिलनाडु के विद्यालयों में राष्ट्रीय गान संबंधी वास्तविक स्थिति को न्यायलय में बताया। ज्ञातव्य है कि संविधान के अनुच्छेद 51(क) जो कि प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, में इसका प्रावधान है कि प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वो संविधान का पालन करे, और उसके आदर्शो, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।
- इसी सन्दर्भ में 30 मार्च 2016 को उच्चतम न्यायालय में सडक दुर्घटनाओं के पीड़ित लोगों को सहायता करने वाले लोगों को पुलिस या किसी अधिकारी द्वारा बेवजह परेशान किये जाने से बचाने के सन्दर्भ में केन्द्र के दिये निर्देशों को मंजूरी दी। उच्चतम न्यायालय ने यह आदेश Save life foundation नामक संगठन द्वारा दायर की गयी याचिका के सन्दर्भ में दिया।
- बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश डी.एच. बघेला और न्यायमूर्ति एम.एस. सोनक की पीठ ने सामाजिक कार्यकर्त्ता विधा पाल और वरिष्ठ अधिवक्ता निलिमा वतीक की याचिका की सुनवाई करते हुए याचिका में महाराष्ट्र के अहमद नगर के शनि सिंगडापुर मन्दिर में सैकड़ों वर्ष से जारी महिलाओं के

प्रवेश पर रोक को चुनौती दी। उल्लेखनीय है कि यह अकेला मामला नहीं है जहाँ स्त्रियों के मंदिर में प्रवेश पर प्रतिबंध है, बल्कि ऐसे कई अन्य मंदिर भी है। केरल के सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश पर प्रतिबन्ध के विरूद्ध वकीलों के एक समूह द्वारा उच्चतम न्यायालय में याचिका भी दायर की गयी। उच्चतम न्यायालय ने 11 जनवरी, 2016 को इस याचिका पर सुनवाई करते हुए कहा था कि संविधान के तहत ऐसा नहीं किया जा सकता। मंदिर धार्मिक आधार पर तो प्रवेश पर पाबंदी लगा सकते हैं, लेकिन लैंगिक आधार पर नहीं।

- हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने समाचार–पत्रों में छपी रिपोर्ट के आधार पर भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) को 500 करोड़ या अधिक का ऋण लेने वाले दिवालिया कर्जदारों की सूची उपलब्ध कराने का निर्देश दिया। उल्लेखनीय है कि समाचारपत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि सार्वजनिक बैको ने वर्ष 2013 से 2015 के बीच 1.14 लाख करोड़ रूपये के ऋणों को बट्टे खाते में डाल दिया था।

  9 फरवरी 2016 को एक RTI के उत्तर में RBI ने याचिकाकर्ता को सूचना दी कि कि मार्च 2012 में समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में एनपीए (वह ऋण जिसके वापस वसूले जाने की संभावना नगण्य होती है।) 15551 करोड़ रूपये था, जो मार्च 2015 में समाप्त होने वाला वित्तीय वर्ष में 52542 करोड़ रूपये क पहुंच गया था। वस्तुतः वर्ष 2004 से 2015 के बीच में 2.11 लाख करोड़ रूपये बुरे ऋण के रूप में थे, जिनमें से आधे से अधिक (1.14 लाख करोड़ रूपये) 2013 – 2015 के दौरान बट्टे खाते में डाल दिये गये। उपर्युक्त RTI में RBI ने याचिकाकर्ता को बड़े कर्जदारों के नाम उपलब्ध कराने में असमर्थता जताई थी, परन्तु सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश के पश्चात् RBI को बड़े कर्जदारों की सूची सर्वोच्च न्यायालय को उपलब्ध करानी पड़ी।

  न्यायालय के अनुसार यह एक बहुत बड़ी जालसाजी है जिसमें सार्वजनिक बैंक तथा वित्तीय संसथान ऋण वापसी न होने के बावजूद बड़े पैमाने पर उन्हीं लोगों को ऋण दे रहे है। न्यायालय ने भारतीय रिजर्व बैंक को भी अपना कार्य सही तरीके से नहीं करने के लिए फटकार लगाई, क्योंकि RBI

का कर्त्तव्य है कि वह बैंको का निगरानी करे, परन्तु RBI बैंकों को ऐसे व्यक्ति/कम्पनी को ऋण देने से नहीं रोक पाया, जिनसे ऋण वसूली को संभावना नगण्य थी। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार दिवालिया घोषित हो चुके ऐसे व्यक्ति बड़े–बड़े व्यवसाय चलाते है, परन्तु बैंको का ऋण नहीं लौटाते। न्यायालय ने ऐसे कर्जदारों से बकाया धन वसूलने का निर्देश भी दिया।

- उच्चतय न्यायालय की सामाजिक न्याय पीठ ने 5 फरवरी 2016 को कारागार सुधार हेतु गाइड लाइंस जारी की। भारत में पिछले 35 वर्षों से कारागार सुधार पर चर्चा होती रही है परन्तु दुर्भाग्यवश संविधान में प्रदत्त अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत सभी को प्रदान किये गये गरिमा के साथ जीवन को सुनिश्चित नहीं किया जा सका है। विशेषकर कारागार में सजा काट रहे कैदियों के मामले में इसमें और सुधार की आवश्यकता है। यह दिशा–निर्देश न्यायमूर्ति मदन लोकुर और आर.के. अग्रवाल द्वारा जारी की गयी है।

  जून, 2013 में उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायधीश आर. सी. लाहोटी ने तत्कालीन मुख्य न्यायधीश को कारागार में सजा काट रहे कैदियों के अमानवीय स्थिति के विषय में पत्र लिखा था। जुलाई, 2013 इस पत्र को उच्चतय न्यायालय में याचिका के रूप में रजिस्टर्ड कर लिया गया। मार्च 2015 में सामाजिक न्याय पीठ ने एक आदेश जारी किया, जिसने कारागार में बंद कैदियों के बारे में सूचना माँगी गयी। इसमें एक तथ्य उभर कर सामने आया कि कारागारों में उनकी क्षमता से अधिक विचाराधीन कैदी बंद है। इसके बाद गृह मंत्रालय के ब्यूरो ऑफ पुलिस रिसर्च एंड डवलपमेन्ट को निर्देश दिया कि तीन महीने के अन्दर कारागारों के मॉडल प्रिजन मैनुअल की समीक्षा करें।

- उच्चतम न्यायालय ने 13 मई 2016 को अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में 'सुब्रमणियन स्वामी बनाम भारत संघ वाद' में आपराधिक मानहानि सम्बंधी औपनिवेशिक अपराध को समाप्त करने सम्बन्धी याचिका को खारिज कर दिया। न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा और न्यायमूर्ति प्रकुल्ल सी. पंत की पीठ वाली अदालत के मुताबिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रा का अधिकार एक अनन्य अधिकार नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने मानहानि से जुडे 156 साल पुराने दंडात्मक कानून की

संवैधानिक वैधता को बरकरार रखा। उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार की कीमत पर किसी दूसरे साख को सूली पर नहीं चढ़ने दिया जा सकता। वस्तुतः न्यायालय ने कांग्रेस उपाध्यक्ष राहुल गांधी, दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविन्द केजरीवाल, भाजपा नेता सुब्रमण्यन स्वामी एवं अन्य की तरफ से दायर याचिकाओं को खारिज कर दिया, जिसमें ब्रिटिश राज वाले दंडनीय प्रावधानों को अपराध की श्रेणी से बाहर रखने की माँग की गई थी। मतलब यह कि इन सभी को अब अपने खिलाफ दर्ज आपराधिक मानहानि मामलों को सामना करना होगा। हालांकि न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय का जहाँ कुछ लोगों ने स्वागत किया, तो वहीं कुछ लोगों ने इसे गलत ठहराया है।

- तमिलनाडु के पोंगल के मौके पर अब जल्लीकट्टू खेल नही हो सकेगा। उच्चतम न्यायालय ने इसके आयोजन पर लगा प्रतिबंध हटाने सम्बन्धी केन्द्र की अधिसूचना पर 12 जनवरी 2016 को रोक लगा दी। उच्चतम न्यायालय ने पर्यावरण एवं वन मंत्रालय और तमिलनाडु सरकार के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि जल्लीकट्टू प्राचीन परम्परा और संस्कृति का हिस्सा है और इसे नहीं रोका जाना चाहिए। न्यायालय ने इसके साथ ही 7 जनवरी 2016 को जारी अधिसूचना को चुनौती देने वाली याचिकाओं पर केन्द्र और अन्य को नोटिस जारी किए।

  वरिष्ठ अधिवक्ता के.के. वेणुगोपाल, आनंद ग्रोवर, सी ए सुंदरम और सिद्धार्थ लूथरा सहित कई वरिष्ठ अधिवक्ताओं ने उच्चतम न्यायालय के पुराने फैसलों का हवाला देते हुए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की अधिसूचना पर अंतरिम रोक लगाने का अनुरोध किया। इनका तर्क था कि 21वीं सदी में संस्कृति और परंपरा के नाम पर पशु के साथ क्रूरता नहीं की जा सकती है।

संदर्भ सूची

1. ए.आई.आर.; 1978 एस.सी 597
2. ए.आई.आर.; 1978 एस.सी 597
3. ए.आई.आर.; 1950 एस.सी 21
4. ए.आई.आर.; 1963 एस.सी 1295
5. ए.आई.आर.; 1981 एस.सी 746
6. ए.आई.आर.; 1997 एस.सी 349
7. ए.आई.आर.; 1986 एस.सी 180
8. $(1987)_3$ एस.सी.सी. 165
9. $(1982)_3$ एस.सी.सी. 666
10. $(1987)_3$ एस.सी.सी. 645
11. ए.आई.आर.; 2003, एस. सी. 355
12. $(2000)_5$ स्केल 30
13. (1987) क्रिमिनल लॉ जर्नल 743
14. $(1994)_3$ एस.सी.सी., 394
15. $(1996)_2$ एस.सी.सी. 649
16. ए.आई.आर.; 1991, एस. सी. 420
17. $(1996)_1$ एस.सी.सी. 742
18. पुखराज, डॉ. जैन व फड़िया, डॉ. बी.एल.; ''भारतीय शासन एवं राजनीति'', साहित्य भवन प्रकाशन, 21वां संशोधित संस्करण, आगरा (उ.प्र.), 2016, पृष्ठ सं. 361
19. वही, पृष्ठ सं. 362
20. वही, पृष्ठ सं. 363
21. ए.आई.आर. 1998; सुप्रीम कोर्ट
22. सईद, एस.एम.; ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'', भारत बुक सेन्टर प्रकाशक, लखनऊ, पृष्ठ सं. 558

23.वही, पृष्ठ सं. 559

24.वही, पृष्ठ सं. 560

25.$(1996)_2$ एस.सी.सी. 431

26.$(1996)_2$ एस.सी.सी. 176

27.ए.आई.आर. 2005; एस.सी. 2920

28.ए.आई.आर. 2002; एस.सी. 40

29.$(1996)_6$ एस.सी.सी. 756

30.2007 (7) स्केल 390

31.ए.आई.आर. 2005; एस.सी. 3036

32.कश्यप, सुभाष; ''भारतीय राजनीति सिद्धांत, समस्याएँ और सुधार'', गुप्त विश्व प्रकाशन, पृष्ठ 205

33.दैनिक भास्कर, 17, अप्रैल 2011

34.राजस्थान पत्रिका जयपुर, 9 नवम्बर 1994

35.बावेल, बसंतीलाल; ''संसदीय विशेषाधिकारों का पुर्नविचार जरुरी'', राजस्थान पत्रिका, 14 अप्रैल 1999

36.राजस्थान पत्रिका, 5 जनवरी 2011, जयपुर संस्करण

37.दैनिक भास्कर, 22 मार्च 2011, जयपुर संसकरण

38.दैनिक भास्कर, 22 मार्च 2011, जयपुर संस्करण

39.ए.आई.आर., 2002 एस.सी. 2113 ''सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ'', ए.आई. आर. 2004, एस.सी. 2112, पृष्ठ 179–181

40.''देवरस बनाम केशव'', ए.आई.आर. 1958, बम्बई 314

41.''खाना सुबाना बनाम काग रीसप्पा'', ए.आई.आर. 1994, एस.सी. 653

42.''उमराव सिंह बनाम दरबारा सिंह'', ए.आई.आर. 1969, एस.सी. 262

43.ए.आई.आर. 1975; एस.सी. 575

44.ए.आई.आर. 2006; एस.सी. 2119

45.ए.आर.आर. 1991; एस.सी. 2177

46.(1995) 2 एस.सी.सी. 584, सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन, 1998

47.(1991)$_1$ एस.सी.सी. 53

48.ए.आई.आर. 1996; मद्रास 56

49.ए.आई.आर. 1987

50.उपर्युक्त पैरा नं0 3 पेज 582

51.ए.आई.आर. 1982; एस.सी. 149

52.उपर्युक्त पैरा 582 पैरा 3 में

53.(1991) 4 एस.सी.सी. 699

54.''बद्रीनाथ बनाम गवर्नमेंट ऑफ तमिलनाडु'', ए.आई.आर. 1986, मद्रास, 3, बख्शीश सिंह ब्रार बनाम गुरमेज कौर'' (1987) एस.सी.सी. 663

55.दी हिन्दुस्तान टाइम्स, 30 मार्च 1984

56.ए.आई.आर. 1998; एस.सी. 2120

57.(1994)3 एस.सी.सी. 2101

58.''1995(7) स्केल एस.पी. 6 यह मामला विनीत नारायण बनाम भारत संघ''

59.ए.आई.आर. 1996; एस.सी. 3386,

60.पैरा 3 पृष्ठ 3387

61.दी टाइम्स ऑफ इण्डिया, 7 दिसम्बर 2006

62.इंडिया टुडे, 17 अगस्त 2011

63.राजस्थान पत्रिका, 7 सितम्बर 2011

षष्ठम् अध्याय
सरकार एवं न्यायपालिका के मध्य उत्पन्न विवादः-कारण एंव निवारण

आधुनिक राज्यों में शक्ति पृथक्करण को शासन व्यवस्थाओं की आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति पृथक्करण द्वारा शासन का प्रत्येक अंग अपनी–अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करे तभी प्रभावी तथा नियंत्रित व्यवस्था स्थापित हो सकती है। भारतीय संविधान में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को अपनाया गया है जिसके अंतर्गत व्यवस्थापिका कानून का निर्माण करती है। कार्यपालिका उसे कार्यान्वित करती है तथा न्यायपालिका उनकी व्याख्या करती है तथा कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करती है। शासन विभिन्न कार्य करने वाले अंगों से बनता है परंतु उसका एक साझा कार्य तथा उद्देश्य होता है जिसकी सफलता के लिए उसकी एकरूपता तथा सहयोग आवश्यक होता है। विभिन्न अंगो में पृथकता की सुदृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती। लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में कल्याणकारी राज्य की कल्पना की गई है इसलिए कार्यपालिका के कार्य तथा शक्ति मे वृद्धि हो गई है। भारतीय संविधान में राज्य के तीनों अंगों कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका की शक्तियों व कार्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया। शासन के तीनों अंगों में परस्पर सम्बन्ध होते हुए उनके कार्यों को पृथक–पृथक रखा गया। राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण का उल्लेख किया गया है। जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि राज्य लोकसेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखने के लिये कदम उठायेगा।[1]

भारतीय संविधान का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उसने विधायिका कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों के विभाजन की व्यवस्था दी हैं। शक्तियों का यह विभाजन स्पष्ट कर देता है कि संविधान का उद्देश्य किसी को श्री असीमित अधिकार और शक्ति प्रदान करना नहीं है। चूंकि शक्तियों की सीमाबद्धता का निर्धारण संस्थाएँ स्वयं नहीं कर सकती इसीलिए शासन की प्रक्रिया में इन

शक्तियों के टकराव के फलस्वरूप उठने वालें विवादों के हल के लिए एक निष्पक्ष संस्था की भूमिका महत्वपूर्ण है। संसद राज्यों की विधानसभाएँ व केन्द्र और राज्यों की कार्यपालिका यह काम करने में तब असमर्थ हो जाती हैं जब उन्हीं की कार्यप्रणाली पर प्रश्न खड़ा किया जाता है। अतः न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या का दायित्व सौंपा गया है और इस प्रकार से वह संविधान की रखवाली करती हैं।

हमारे देश में लिखित संविधान की व्याख्या, केन्द्र और राज्यों के बीच समन्वय तथा मौखिक अधिकारों की रक्षा के निमित्त एक स्वतन्त्र न्यायपालिका का गठन किया गया हैं। जाहिर हैं, उस दृष्टि से न्यायपालिका की भूमिका भारत में न्याय करने से लेकर मूल अधिकारों की रक्षा और सरकार के विभिन्न अंगो को अपने निर्धारित कार्यक्षेत्र में रहने के लिए निर्देशित करने तक विस्तृत हैं अर्थात् भारत में उच्चतम न्यायालय न सिर्फ संविधान की रक्षा करता हैं बल्कि किसी भी सरकार अथवा शक्ति द्वारा उसका उल्लंघन किये जाने से भी बचाता है।

विगत कुछ वर्षों से न्यायपालिका की सक्रियता काफी बढ़ी है, न्यायपालिका की इस सक्रियता के फलस्वरूप नागरिकों के बीच न्यायपालिका की ख्याति और लोकप्रियता बढ़ी हैं, वहीं दूसरी ओर न्यायपालिका की सक्रियता बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों के बीच चर्चा और विवाद का केन्द्र भी बनी हुई है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह द्वारा न्यायालय के लिए ''ओमररीच'' शब्द का प्रयोग किया गया हैं, यानि न्यायपालिका को अपनी सीमा से बाहर जाने की बात कही गयी हैं, प्रधानमंत्री ने यह बात सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की उपस्थिति में कहीं है। प्रधानमंत्री के इस वक्तण्य से न्यायिक सक्रियता पर बहस छिड़ गई थी। न्यायालय को इस तरह की नसीहत कई अन्य नेताओं द्वारा भी समय–समय पर दी गयी है, अब प्रश्न यह उठता हैं कि राजनेता क्यों बार–बार न्यायालय को नसीहत देते है? क्या उन्हें अपनी सीमा का ज्ञान हैं? क्या न्यायालय सरकार के परामर्श के अनुसार निर्णय देने को बाध्य है? क्या वास्तव में न्यायालय अपनी सीमा – रेखा से बाहर जाकर कार्य कर रही है? इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं कि जिन पर गम्भीर चिन्तन एंव मनन करने की आवश्यकता है।

पिछले कुछ समय में बदलती राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों के मद्देनजर देश की न्याय व्यवस्था के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया हैं आज न्यायपालिका सिर्फ न्याय प्रदान करने का कार्य नहीं कर रही, बल्कि एक प्रशासक सुधारक और नीति–निर्धारक की भूमिका भी अदा कर रही हैं। दरअसल आज की परिस्थिति में न्याय पालिका को ऐसे कार्य भी करने पड़ रहे हैं, जो मूल रूप से कार्यपालिका के कार्य क्षेत्र में आते हैं। इसी स्थिति में, जबकि न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका की शक्तियों का प्रयोग किया जाता है न्यायिक सक्रियता उस संवैधानिक व्यवस्था को पुनःजीवित करने का प्रयास हैं, जिसे कार्यपालिका ने तोड़–मरोड़ दिया हैं।

सरकार के तीन अंग है वे हैं–कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका। इन तीनों अंगों के कार्यक्षेत्र निर्धारित किए गए हैं, दुर्भाग्य है कि विधायिका एवं कार्यपालिका अपने निर्धारित जिम्मेदारियों को नहीं कर रही है। विधायिका कानून निर्मात्री संस्था है और यह संस्था दिन प्रतिदिन अपनी विश्वसनीयता को खोती जा रही है। कार्यपालिका से जुड़े हुए व्यक्ति जन आकांक्षाओं को पूरा करने में असफल सिद्ध हुए हैं। छोटी–छोटी समस्याओं को सुलझाने में वे निष्क्रिय रहे हैं, ऐसी स्थिति में न्यायपालिका का सक्रिय होना स्वाभाविक है। एक तरफ व्यवस्थापिका की विश्वसनीयता में कमी आई है तो दूसरी तरफ कार्य पालिका ने भी अपनी जिम्मेदारी से मुँह फेर लिया है।

सरकार (कार्यपालिका) एवं न्यायपालिका के मध्य उत्पन्न विवाद

यहाँ प्रश्न उठता हैं ऐसी कौन सी परिस्थिति आ खडी होती है, जिसमें अदालत को इतनी सक्रियता दिखानी पड़ जाती हैं? अक्सर अदालतों को यह कदम आमजन की सुरक्षा के लिये ही उठाना पड़ता हैं। कार्यपालिका की बढ़ती हुई उदासीनता, स्वेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता और निष्क्रियता ने ही न्यायिक सक्रियता को जन्म दिया हैं।

(1) न्यायाधीश की नियुक्ति से सम्बन्धित विवाद :–

भारतीय संविधान के अनुसार भारतीय संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित है और वह उनका प्रयोग या तो स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा

संविधान के प्रावधानों के अनुरूप अप्रत्यक्ष रूप से अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा कर सकता है। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। व्यवहार में राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री तथा विधि मंत्रालय के अनुसार कार्य करता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 के अनुसार (i) भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा, जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और जब तक संसद विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती तब तक सात (ii) से अनाधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा।

(2) उच्चतम न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात्, जिनसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना आवश्यक समझे। राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और वह न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा, जब तक वह 65 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है। जैसा कि संविधान की इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि उस किसी भी व्यक्ति को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है जिसमें निर्धारित योग्यताएँ हों।

(a) परंतु संविधान के लागू होने से सन् 1964 में श्री जफर इमाम को उनकी वरिष्ठता के बावजूद नियुक्त नहीं किया गया था किन्तु यह नियुक्ति उनके स्वास्थ्य की दशा के कारण नहीं की गई थी तथा श्री गजेन्द्र गढ़कर को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया।

(B) सन् 1973 में जब मुख्य न्यायाधीश श्री सीकरी सेवानिवृत्त हुए तो नए मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में पूर्व परम्परा का अनुसरण नहीं किया गया। तथा श्री अजीत नाथ रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति बाबत् सेवानिवृत्त होने वाले मुख्य न्यायाधीश श्री सीकरी से कोई परामर्श नहीं लिया गया। परम्परा के विपरीत हुई इस नियुक्ति की देशव्यापी प्रतिक्रिया हुई। इस नियुक्ति के विरोध में श्री रोलट, श्री हेगड़े व श्री ग्रोवर ने त्यागपत्र दिये। अन्त में इस नियुक्ति की वैधता को दिल्ली उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। 26 जनवरी 1974 को इन याचिकाओं पर विचार विमर्श हुआ। चुनौती देने वालों ने अधिकार पृच्छा याचिकाओं में यह माँग की थी कि श्री अजीतनाथ रे को मुख्य न्यायाधीश के

पद पर कार्य करने से रोका जाये। उनका यह तर्क था कि इस पद पर नियुक्ति करने से पूर्व राष्ट्रपति को तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री सीकरी से अवश्य विचार विमर्श करना चाहिये था। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। अतः यह नियुक्ति अवैधानिक है।

दिल्ली उच्च न्यायालय ने इस याचिकाओं के सम्बन्ध में अपनी पांच सदस्यीय विशेष पीठ में अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा कि– ''मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के बाद भी एक न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद से अलग नहीं हो जाता। इसलिए यदि न्यायाधीश श्री रे कोबारन्टों के अंतर्गत मुख्य न्यायाधीश के पद से अलग कर दिया जाय तो भी वह उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश बने रहेंगे और इस तरह से संविधान की धारा 124 (2) के अंतर्गत वरिष्ठता की परिपाटी की नियुक्ति के कानूनन अनिवार्यता मानने की शर्त पर भी वह पुनः मुख्य न्यायाधीश बनाये जाने के अधिकारी होगें।

(C) जनवरी 1977 में मुख्य श्री अजीतनाथ रे के कार्यकाल की समाप्ति पर वरिष्ठता के आधार पर श्री एच.आर. खन्ना को मुख्य न्यायाधीश के पद पर पदोन्नत किया जाना चाहिये था। लेकिन जस्टिस मिर्जा हमीदुल्ला बैग को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। इसके विरोध में श्री खन्ना ने त्याग पत्र दे दिया।

वर्ष 1978 में श्री वाय.बी. चन्द्रचूड को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर वरिष्ठता के सिद्धांत को स्वीकार किया गया।

दिनांक 23 जुलाई 1998 को महामहिम राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन ने अनुच्छेद 143 के अंतर्गत उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा स्थानांतरण के संबंध में उच्चतम न्यायालय को नौ सवाल भेजे थे, जिससे कि निर्धारित कानून की व्याख्या के बारे में संदेह दूर हो सके। दिनांक 28 अक्टूबर 1998 को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश श्री एस.पी. भरूचा की अध्यक्षता वाली नौ न्यायाधीशों की संविधान पीठ द्वारा ऐतिहासिक फैसला दिया गया। जिसमें यह उल्लेखित किया गया कि अकेले प्रधान न्यायाधीश की राय को परामर्श प्रक्रिया नहीं माना जा सकता। न्यायधीशों की नियुक्ति तथा स्थानान्तरण के विषय में प्रधान न्यायाधीश को सुप्रीम कोर्ट द्वारा 1993 के अपने फैसले में तय निर्देशों का पालन करना होगा। जिसमें परामर्श प्रक्रिया का दायरा और बढ़ा लिया था। परामर्श प्रक्रिया

का पालन किये बगैर की गई नियुक्ति या तबादले की सिफारिश मानने के लिए सरकार बाध्य नहीं है। सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए प्रधान न्यायाधीश को चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श किया जाना चाहिये। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए ही वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श किया जाना चाहिये। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के तबादलों के लिए सुप्रीम कोर्ट के 4 वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श के साथ सबंधित उच्च न्यायालयों के पुरूष न्यायाधीशों की राय ली जाय।

दिनांक 28 नवम्बर 1998 को राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन के उच्चतम न्यायालय के चार न्यायधीशों की नियुक्ति संबंधी फाइल में टिप्पणी की, कि यदि अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति जैसे समाज के पिछड़े वर्गों, जो कुल आबादी का 25 प्रतिशत है तथा महिलाओं का समुचित ध्यान रखा जाता है, तो वह संविधान के सिद्धांतों और देश के सामाजिक लक्ष्य के अनुकूल होगा। राष्ट्रपति ने यह भी कहा कि उच्चतम न्यायालय में कामकाज की अधिकता तथा समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व की जरूरत को देखते हुए पदों को रिक्त रखना वांछनीय है। नवम्बर 1998 के मुख्य न्यायधीश ने विधिमंत्री श्री थंबीदुरई के पास न्यायधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक फाईल भेजी थी, जिसमें न्यायाधीश श्री एम.बी. शाह, श्री डी.पी. महापात्र, श्री बेनर्जी और श्री आर.सी. लाहोटी के नाम थे।[2]

वस्तुतः जब देश आजाद हुआ था। तब उस समय समाज के दलित शोषक वर्ग के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई थी, ताकि ये समाज के अन्य वर्गों की बराबरी पर आ सकें। यह व्यवस्था केवल 10 वर्षों के लिए की गई थी, परन्तु हकीकत यह है कि यह व्यवस्था आज भी चल रही है तथा भविष्य में भी चलती रहेगी। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति संबंधी फाईल पर राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन ने यह टिप्पणी की, कि उच्चतम न्यायालय में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं को भी उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। साथ साथ महामहिम राष्ट्रपति ने यह भी उल्लेख किया कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति से सबंधित सुपात्र व्यक्ति पेशे में उपलब्ध होते हुए भी उन्हें उचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाना औचित्यपूर्ण नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जानबूझकर इस वर्ग के लोगों को इस पद पर नियुक्ति नहीं किया जा रहा

है। वैसे तो राष्ट्रपति ने यह टिप्पणी की है उन्होनें कोई आदेश नहीं दिया है और न ही न्यायमूर्ति श्री आनंद द्वारा प्रस्तावित नामों पर हस्ताक्षर करने से इन्कार किया है। यह सही है कि समाज में अनेक तबकों को विधायिका तथा न्यायपालिका एवं कार्यपालिका में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। इस समय उच्चतम न्यायालय में अनुसूचित जाति को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह स्थिति हमेशा रहेगी। अभी तक संवैधानिक स्थिति यह है कि उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति में आरक्षण लागू नहीं है। मेरिट के आधार पर न्यायाधीशों का चयन होता है। न्याय एक ऐसा मुद्दा है जिसे राजनीति से ऊपर रखा जाना चाहिये। सन् 1947 में जब लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में भारत को बनाने का संकल्प देशवासियों ने लिया था, उसके पीछे यही आशय था कि अब भारत का शासन किसी राजा या सम्राट से आदेश ग्रहण नहीं करेगा, बल्कि उसकी शक्ति का स्त्रोत जनता होगी। लोकतंत्र में ये मूल्य आज भी कायम है। इस बात का प्रमाण हमारे राष्ट्रपति स्वयं है जो बिना किसी आरक्षण के देश के शीर्षस्थ शिखर पर पहुंचे है।

2. न्यायाधीशों के स्थानान्तरण से सम्बन्धित विवाद :-

भारत में न्यायाधीशों के स्थानान्तरण को लेकर कार्यपालिका और न्यायपालिका में टकराव की स्थिति आती है। न्यायाधीशों के स्थानांतरण में कार्यपालिका द्वारा रूचि रखना न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। हमारे संविधान के नीति निर्देश तत्वों में अनुच्छेद 50 में यह उल्लेख है कि राज्य, न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के लिए कदम उठायेगा। संविधान में यह स्पष्ट निर्देश है कि न्यायपालिका कार्यपालिका के प्रभाव से स्वतंत्र होगी। संविधान सभा के सदस्यों का विचार था कि न्यायपालिका समाजिक क्रांति लाने में सहायक होगी। उन्होने न्यायपालिका को नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण का दायित्व सौंपा। जब कार्यपालिका नागरिकों के मौलिक अधिकार का अपहरण के प्रयत्न करती है तो पीड़ित नागरिक न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकते है।

3. क्षमादान के अधिकार से सम्बन्धी विवाद :-

हमारे देश में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के मध्य नियंत्रण तथा संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 72 के अनुसार राष्ट्रपति को क्षमादान का अधिकार दिया गया है। लेकिन राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है। राष्ट्रपति दण्ड को पूर्ण रूप से क्षमा कर सकते है, स्थगित कर सकते है अथवा दण्ड में परिवर्तन कर सकते है। इस अधिकार का प्रयोग केवल तीन प्रकार के दण्डों पर कर सकते हैं :–

1. यदि दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो।
2. यदि दण्ड ऐसे मामलों में दिया गया हो, जो केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आता हो।
3. यदि अपराधी को मृत्युदण्ड दिया गया हो। व्यवहार में राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मंत्रिमण्डल के परामर्श से करेगा।

क्षमादान एक अनुग्रह है, जिसकी माँग अधिकार के रूप में नहीं की जा सकती। क्षमादान केवल दण्ड को समाप्त नहीं करता, अपितु दण्डित व्यक्ति को उस स्थिति में ला देता है जैसे उसने अपराध किया ही न हो अर्थात् वह निर्दोष हो जाता है। क्षमादान का उपयोग परीक्षण के पूर्व, उसके दौरान और उसके पश्चात् सभी स्थितियों में किया जा सकता है।

अनुच्छेद 161 के अधीन राज्य के राज्यपाल को भी किसी सिद्धदोष व्यक्ति के अपराध को क्षमा, प्रविलम्बन या परिहार करने की शक्ति प्राप्त है किन्तु राष्ट्रपति या राज्यपाल के क्षमादान की शक्ति में अंतर है :–

1. राष्ट्रपति को सभी प्रकार के मृत्यु दण्डादेश के मामलें में क्षमादान की शक्ति प्राप्त है, जबकि राज्यपाल को मृत्यु दण्डादेश के मामलें में क्षमादान की शक्ति प्राप्त नही है।
2. राष्ट्रपति को सेना न्यायालय/कोर्ट मार्शल के दण्डादेश के मामले में क्षमादान की शक्ति प्राप्त है, जबकि राज्यपाल को ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं है।

अन्य मामलों में मृत्युदण्ड के प्रविलम्बन, परिहार या लघुकरण के मामले में राज्यपाल की शक्ति राष्ट्रपति के समान ही है।

मारूराम बनाम भारत संघ के मामले[3] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि क्षमादान की शक्ति का प्रयोग करते समय दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 433 (1) में

निहित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर करना चाहिये। न्यायालय ने कहा कि क्षमादान की शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के परामर्श से करता है।

कुलजीतसिंह बनाम उपराज्यपाल दिल्ली यह प्रकरण[4] रंगा एवं बिल्ला के नाम से प्रसिद्ध है, के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 72 एवं अनुच्छेद 161 में कार्यपालिका को क्षमादान की शक्ति को उचित और युक्तियुक्त रूप से प्रयोग करना चाहिये। इस मामले में राष्ट्रपति ने रंगा और बिल्ला दोनों सिद्धदोष व्यक्तियों के क्षमादान की याचिका को अस्वीकार कर दिया था। इन दोनों की मृत्युदण्ड की सजा को उच्चतम न्यायालय ने अनुमोदित कर दिया था। यह तर्क दिया गया कि राष्ट्रपति के इस शक्ति के प्रयोग के कोई मार्गदर्शक सिद्धांत विहित नहीं किये गये हैं। इसके कारण इसका मनमाना प्रयोग किया जा सकता है। न्यायालय ने निर्णय दिया कि उपर्युक्त सिद्धदोष व्यक्तियों के मामले में राष्ट्रपति ने क्षमादान की शक्ति का प्रयोग न करके उचित ही किया है, क्योंकि उन्होंने जघन्य अपराध किया था और सभी न्यायालयों द्वारा उनके मृत्युदण्ड का अनुमोदन कर दिया गया था।

शेरसिंह बनाम पंजाब राज्य[5] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों को यह सुझाव दिया कि वे अनुच्छेद 72 और अनुच्छेद 161 अथवा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 432 तथा 433 के अधीन क्षमा के लिये दिये गये आवेदनों को यथाशीघ्र निपटाने का प्रयास करें। मुख्य न्यायाधिपति श्री चन्द्रचूड़ ने न्यायालय के बहुमत का निर्णय सुनाते हुए कहा कि कार्यपालिका को इस मामले में स्वतः एक नियम बना लेना चाहिये कि प्रत्येक क्षमादान के आवेदन को आवेदन की तिथि से 3 माह के भीतर निपटा दिया जाय। क्षमादान के लिये आवेदनों को विलम्ब से निपटाने के कारण न्याय करने में अवरोध उत्पन्न होता है और जन साधारण का न्याय प्रशासन से विश्वास उठ जाता है। न्यायालय ने इस बात का एक ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया। जिसमें जम्मू एवं कश्मीर सरकार के यहाँ इस प्रकार क्षमादान पिछले आठ वर्षों से पड़ा हुआ था।

केहरसिंह बनाम भारत संघ के मामले[6] में उच्चतम न्यायालय के अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति के क्षमादान की शक्ति के विस्तार पर पूर्णरूपेण विचार किया है। इन मामले में श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के मामले में मृत्युदण्ड दिये गये।

अभियुक्त केहरसिंह ने अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति को क्षमादान का आवेदन किया। उसने परीक्षण न्यायालय में दिये मौखिक साक्ष्य का उदाहरण देते हुए यह अभिकथन किया कि न्यायालय का निर्णय गलत था और वह निर्दोष है। अतः क्षमादान का हकदार है। उसने यह भी प्रार्थना की कि राष्ट्रपति उसके आवेदन पर विचार करते समय उसे सुनवाई का अवसर प्रदान करें। राष्ट्रपति ने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए उसके क्षमादान आवेदन को अस्वीकार कर दिया। राष्ट्रपति ने कहा कि वे उच्चतम न्यायालय के गुण–अवगुण पर विचार नहीं कर सकते है।

राष्ट्रपति के उक्त निर्णय के विरूद्ध प्रस्तुत विशेष इजाजत से अपील की याचिका उच्चतम न्यायालय में फाइल की गई। उच्चतम न्यायालय ने पांच न्यायाधीशों की संविधान पीठ से यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति एक स्वतंत्र शक्ति है और वह मामले के गुण–अवगुण पर विचार कर सकता है। न्यायालय का निर्णय चाहे जो भी हो, राष्ट्रपति दण्डिक मामले के साक्ष्य का परीक्षण कर सकता है और यह निर्णय ले सकता है कि मामले में क्षमादान शक्ति का प्रयोग किया जाये या नहीं। वह न्यायालय से भिन्न निर्णय ले सकता है। ऐसा करते समय वह निर्णय को संशोधित परिवर्धित या प्रतिष्ठित नहीं करता है। न्यायिक विषय यथावत् रहता है। क्षमादान की शक्ति एक संवैधानिक शक्ति है। यह एक अनुग्रह नहीं है, जैसा कि इंग्लैण्ड में है। न्यायालय ने यह भी कहा कि राष्ट्रपति अपनी क्षमादान की शक्ति का प्रयोग मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही करता है।

न्यायालय राष्ट्रपति के क्षमादान की शक्ति के विस्तार का परीक्षण कर सकता है किन्तु इसका प्रयोग कैसे किया गया है? उसका परीक्षण नहीं कर सकता है। राष्ट्रपति को अपने निर्णय के आधार बताने के लिये नहीं कहा जा सकता। अनुच्छेद 72 के अधीन प्राप्त राष्ट्रपति की शक्ति बड़ी विषद् है और इसके प्रयोग के लिए किन्हीं मार्गदर्शक सिद्धांतों के विहित करने की आवश्यकता नहीं है। इसका प्रयोग हजारों प्रकार के मामलों में तथा विभिन्न परिस्थितियों में किया जा सकता है।

इसके पश्चात् केहरसिंह ने उच्चतम न्यायालय में एक दूसरी याचिका प्रस्तुत की। जिसमें यह कथन दिया कि चूंकि मृत्युदण्ड के कार्यान्वयन में 5 माह का

विलम्ब हो गया था अतः उसके दण्ड को आजीवन कारावास में बदल दिया गया। उच्चतम न्यायालय के 5 न्यायाधीशों की पूर्ण पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 72 के अधीन क्षमादान के आवेदन को निपटाने में अति विलम्ब के आधार पर मृत्युदण्ड को आजीवन कारावास में बदला जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत मामले में मृत्युदण्ड देने में 5 माह का विलम्ब अतिविलम्ब नहीं था। अतः उसे आजीवन कारावास में बदले जाने का कोई औचित्य नहीं है।

सी.एफ.स्ट्रांग के शब्दों में – ''सरकार की किसी भी अच्छी प्रणाली में कार्यपालिका के पास क्षमा अथवा प्रविलम्बन के विशेषाधिकार होने चाहिये, जिससे कार्यपालिका, न्यायपालिका के अत्यधिक कठोर निर्णयों को रोके अथवा उन्हें निष्फल कर सके। इसके अलावा अपनी क्षमता की सीमाओं के भीतर विधानमण्डल का यह कार्य है कि यदि न्यायपालिका की प्रवृत्ति अच्छी नीति के विरूद्ध मालूम हो तो वह प्रवृत्ति द्वारा उलट दी जाय।''[7]

अनुच्छेद 143 यह उपबंधित करता है कि जब किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है किः–

(क) विधि या तथ्यों का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उसके उत्पन्न होने की संभावना है।

(ख) ऐसी प्रकृति का तथा ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि उस पर उच्चतम न्यायालय की राय लेना समुचिन है तो वह उस प्रश्न को उसके विचारार्थ भेज सकता है। न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो यह ठीक समझे राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय देगा। खण्ड (2) के अधीन यदि राष्ट्रपति किसी ऐसे मामले को उच्चतम न्यायालय की राय के लिए सौंपता है, जो अनुच्छेद 131 में वर्णित है तो न्यायालय उस पर राय देने के लिए बाध्य होगा।

अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधान में राष्ट्राध्यक्ष को न्यायपालिका द्वारा राय देने के लिये कोई उपबंध नहीं है। इन देशों के सुप्रीम कोर्ट ने यह मत व्यक्त किया कि वे केवल न्यायालय के समक्ष पक्षकारों द्वारा फाइल इकट्ठा किये गये विवादों पर ही निर्णय देंगे। किन्तु कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी राय देने की शक्ति प्राप्त है।

भारतीय संविधान में इसी प्रकार की प्रणाली का अनुसरण किया गया है और अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय को सलाहकारी अधिकारिता प्रदान की गई है।

4. निर्वचन के प्रश्न से सम्बन्धित विवादः-

अनुच्छेद 143 के निर्वचन का प्रश्न सर्वप्रथम इन री एजुकेशन बिल के मामले में[8] उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया, जिससे न्यायालय ने इस मामले में अनुच्छेद 143 लागू करने के लिए निम्नलिखित सिद्धान्त विहित किया था–

1) अनुच्छेद 143 में प्रयुक्त कर सकेगा' शब्दावली यह दर्शाती है कि उच्चतम न्यायालय सलाह देने के लिए बाध्य नहीं है। यह उसकी इच्छा पर है कि अपनी राय दे या न दे।
2) उच्चतम न्यायालय को कौन से प्रश्न सौंपे जाये, इसका निर्धारण राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति के इस निर्णय पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अनुच्छेद 143 के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई राय यद्यपि आदर के योग्य है, परंतु वह न्यायालयों पर बन्धनकारी नहीं है।

यह राय अनुच्छेद 144 में प्रमुख 'विधि' शब्द के अंतर्गत आती है अतएव न्यायालय इसे मानने के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु व्यवहारतः इसका प्रभाव बाध्यकारी ही है।[9]

किन्तु ''इन री स्पेशल कोर्ट बिल 1978''[10] उच्चतम न्यायालय ने अपने उक्त मत को बदल दिया तथा यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति को राय देने के लिये बाध्य है। न्यायालय ने यह भी राय दी है कि न्यायालय की राय के लिए निर्दिष्ट प्रश्नों को ही सौंपा जाना चाहिये। यदि ऐसे प्रश्न अस्पष्ट या सामान्य प्रकृति के हैं तो उच्चतम न्यायालय अपनी राय देने के लिए बाध्य नहीं होगा।

प्रस्तुत मामले में इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर न्यायालय की राय माँगी गई थी कि क्या संसद को आपातकाल में किये गये अपराधों के परीक्षण के लिये विशेष न्यायालयों की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त है? उच्चतम न्यायालय ने 6 : 1 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि संसद को ऐसे अपराधों के परीक्षण के लिये

विशेष न्यायालयों की स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है बशर्ते है कि, ऐसे विधेयक में प्रक्रियात्मक संरक्षण के लिये समुचित व्यवस्था की गई हो। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यदि विधेयक में निम्नलिखित तीन बातें सम्मिलित की जाये, तो विधेयक विधिमान्य होगाः–

(1) विशेष न्यायालयों में उच्च न्यायालयों में 'कार्यरत' न्यायाधीशों की नियुक्ति की जायेगी, निवृत्तमान न्यायाधीशों की नहीं।

(2) ऐसी नियुक्ति मुख्य न्यायाधिपति की सहमति से ही की जायेगी केवल परामर्श से नहीं।

(3) अभियुक्त को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में अपने मामले को हस्तांतरित करने के लिये उच्चतम न्यायालय में आवेदन देने का अधिकार होना चाहिए। न्यायालय के निर्णय को मानकर सरकार ने विधेयक में सभी संशोधनों को समाविष्ट कर दिया।

5. कावेरी जल विवादः–

कोवरी नदी के जल के बंटवारे के संबंध में कर्नाटक तथा तमिलनाडु राज्य में विवाद था। केन्द्र सरकार ने इस विवाद के निपटारे के लिए एक अधिकरण की नियुक्ति की। अधिकरण ने जून 1991 में कर्नाटक राज्य को एक निश्चित मात्रा में नदी का जल तमिलनाडु को देने का आदेश दिया। कर्नाटक राज्य ने इस आदेश का विरोध किया तथा एक अध्यादेश जारी करके सरकार को यह शक्ति प्रदान की, कि वह अभिकरण के निर्णय का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है। तमिलनाडु राज्य ने इस कार्यवाही का कड़ा विरोध किया। विवाद को बढ़ता हुआ देखकर राष्ट्रपति ने मामले को संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय की सलाह के लिये सौंप दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कर्नाटक राज्य द्वारा प्रस्थापित अध्यादेश अविधिमान्य है। क्योंकि वह केन्द्रीय अधिनियम (अन्तर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम 1956) के अधीन नियुक्त किया गया है जिसे अनुच्छेद 262 के अधीन बनाया गया है। उक्त अध्यादेश विधि शासन के विरूद्ध है और वह अपने मामले में स्वयं एक न्यायाधीश की भूमिका धारण कर लेता

है जो विधि शासन तथा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत का अतिक्रमण करने के कारण अब अवैधानिक है।[11]

6. अयोध्या का मामला:-

इस्माइल फारूकी बनाम भारत संघ[12] के मामले में उच्चतम न्यायालय के 5 सदस्यों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से अयोध्या विवाद पर राष्ट्रपति को अपनी सलाह देने से इन्कार कर दिया कि क्या जहाँ ढ़हाई गयी बाबरी मस्जिद स्थित थी, वहाँ मूल रूप में एक मंदिर था। अयोध्या में 6 दिसम्बर 1992 को विवादित ढाँचा कार्यकर्ता–सेवकों द्वारा ढहा देने के पश्चात् केन्द्र सरकार ने इस विवाद को सुलझाने का प्रयास किया। इसके अनुसार विवादित क्षेत्र के आसपास की 67 एकड़ भूमि का अधिग्रहण कर लिया और विवादित ढाँचे के निर्माण से पूर्ण कोई हिन्दू मंदिर था या नहीं, इस पर राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 143 (1) के अधीन उच्चतम न्यायालय से दो बातों पर परामर्श देने को कहा (i) यह कि क्या विवादित ढाँचे के निर्माण के पूर्व वहाँ हिन्दू मंदिर था और (ii) केन्द्र द्वारा 67 एकड़ भूमि का अधिग्रहण वैध था या नहीं।

संविधान पीठ ने पहले प्रश्न पर सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि उच्चतम न्यायालय इस प्रश्न को विचारार्थ स्वीकार नहीं कर सकता। बहुमत के तीन न्यायाधीशों (मुख्य न्यायाधीश श्री एन.वैकट चलैया, श्री जे.एस.वर्मा और श्री जी.एन. राय) का मत था कि यह प्रश्न ''असंगत और अनावश्यक'' है, जबकि दो अन्य न्यायाधीशो (न्यायमूर्ति श्री ए.एम. अहमदी और श्री एन.पी. भरूचा) ने यह कहा कि यह प्रश्न असंवैधानिक ही नहीं, बल्कि धर्म निरपेक्षता का विरोध भी करता है।

किन्तु 67 एकड़ भूमि के अधिग्रहण के मामले में न्यायालय ने 3:2 मुख्य न्यायाधीश श्री एन.वेंकट चलैया, श्री जे.एस. वर्मा और श्री जी.एन. राय के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि अधिग्रहण वैध है, किन्तु इसकी धारा 3 और 4 अवैध है। इसका परिणाम यह है कि विवादित ढाँचे और उस क्षेत्र के बारे में संस्थित सभी मामलों पर पहले की भाँति सबधित न्यायालय में सुनवाई की जा सकेगी। भूमि अधिग्रहण अधिनियम उन मामलों को समाप्त नहीं करता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अधिनियम के अधीन केन्द्र सरकार की भूमिका एक रिसीवर की होगी और

उसका यह दायित्व होगा कि जब तक विवादित भूमि पर अन्तिम निर्णय नहीं हो जाता वहाँ यथास्थिति बनायी जाये। सरकार उक्त भूमि को किसी को हस्तांतरित नहीं कर सकती है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय का सारांश इस प्रकार हैः–

1) अनुच्छेद 143 के अधीन राष्ट्रपति को राजनैतिक प्रश्नों पर उच्चतम न्यायालय सलाह देने के लिए बाध्य नहीं।
2) अस्थायी मंदिर में पूजा चलती रहेगी।
3) विनिश्चय से राष्ट्रपति पर कोई आंच नहीं।
4) विवादित ढाँचे के क्षेत्र में तथा उसके स्वामित्व के हक के बारे में लंबित मुकदमें फिर से चलेगे।
5) विवादित ढाँचे की भूमि को केन्द्र सरकार किसी अन्य व्यक्ति को हस्तांतरित नहीं कर सकती है।
6) केन्द्र सरकार वार्ता द्वारा विवाद को सुलझाए।
7) 67 एकड़ भूमि का अधिग्रहण वैध है, सिवाय विवादित ढाँचा के।
8) न्यायालय द्वारा मुकदमों के निपटारे के पश्चात् सरकार विवादित ढाँचे को वास्तविक स्वामी को सौंपने के लिए बाध्य है।
9) अधिग्रहित शेष भूमि वास्तविक स्वामियों को लौटा दी जाय।
10) केन्द्र द्वारा भूमि स्वामियों, जिनकी भूमि अधिग्रहित की गई थी, को प्रतिकार दिया जायेगा।
11) विवादित ढाँचे के अतिरिक्त भूमि को किसी न्यास या अन्य पक्षकार को हस्तान्तरित करना।
12) मस्जिद इस्लाम धर्म का आवश्यक तत्व नहीं है। नमाज कहीं भी की जा सकती है, यहाँ तक कि खुले क्षेत्र में। संविधान के अधीन मस्जिद का भी अन्य पूजा स्थलों की भाँति अधिग्रहण किया जा सकता है। प्रत्येक अचल सम्पत्ति का अधिग्रहण किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय के निर्णय का यह परिणाम है कि अयोध्या का मामला पहले जहाँ था फिर वही लौट आया है। बहुमत ने राजनीतिक मुद्दे पर परामर्श देने से इंकार करके न्यायपालिका की गरिमा और प्रतिष्ठा को बचा लिया है। राजनीतिक मुद्दे को फिर सरकार के निर्णय के लिये भेज दिया। न्यायालय के इस निर्णय के

परिणाम स्वरूप अयोध्या का मामला अब अपने मूल बिन्दु पर लौट आया है तथा समाधान के लिए न्यायालय ने कानूनी नहीं वरन् राजनैतिक पहल उठाने की बात कही है।

संविधान लागू होने से लेकर वर्तमान में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित मामलों में अपना परामर्श दिया हैः–

(1) वर्ष 1951 में इन री देहली लॉज एक्ट प्रकरण[13]

(2) वर्ष 1958 में इन री केरल एजुकेशन बिल प्रकरण[14]

(3) वर्ष 1956 में इन री बेरूबारी प्रकरण[15]

(4) वर्ष 1952 में इन री दी सी कस्टम्स एक्ट प्रकरण[16]

(5) वर्ष 1965 में केशवसिंह प्रकरण[17]

(6) वर्ष 1974 में इन री प्रेसिडेंशियल पोल प्रकरण[18]

(7) सन् 1978 में री स्पेशल कोर्ट रिफरेंस का प्रकरण[19]

(8) कावेरी जल विवाद अधिकरण[20]

(9) अयोध्या के राम मंदिर का मामला[21]

(10) उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों में स्थानान्तरण का प्रकरण[22]

कार्यपालिका के अनेक कृत्य न्यायपालिका पर निर्भर है। संविधान के अनुच्छेद 60 के अनुसार राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायधीश के समक्ष शपथ लेता है अथवा उसकी अनुपस्थिति में उस समय प्राप्त ज्येष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेता है। यदि किसी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का कार्यपालिका द्वारा अतिक्रमण होता है, तो कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। कार्यपालिका द्वारा जारी किये जाये अध्यादेश की कानूनी सवैधानिकता की जाँच न्यायालय द्वारा की जाती है। न्यायिक पुनरावलोकन के माध्यम से न्यायालय कार्यपालिका की प्रशासकीय नीतियों की सवैधानिकता की जाँच कर सकते हैं। संविधान के 44 वें संशोधन के अनुसार, उच्चतम न्यायालय को राष्ट्रपति द्वारा संविधान की धारा 356 के तहत जारी किये गये अध्यादेश के पुनरीक्षण का अधिकार है।

7. अध्यादेश जारी करने की शक्ति से सम्बन्धित विवादः-

अध्यादेश जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति के वैयक्तिक समाधान पर आधारित है अर्थात् राष्ट्रपति अध्यादेश घोषित करने के कारणों या उसकी न्यायोचितता को न्यायालय में प्रमाणित करने के लिये बाध्य नहीं है। न्यायालय अध्यादेश जारी किये जाने के कारणों की जाँच नही कर सकते।[23] अध्यादेश जारी करने के लिये परिस्थितियाँ मौजूद है या नहीं, इसका अंतिम निर्णय राष्ट्रपति पर है। अध्यादेश की वैधता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उसका प्रयोग असद्भावनापूर्वक किया गया है।[24] इस प्रकार यदि अध्यादेश जारी करने के उद्देश्य के लिए ही संसद के सत्र का स्थगन कर दिया जाता है, तो वह अवैध नहीं होगा।[25]

अध्यादेश कार्यपालिका को आकस्मिक परिस्थितियों से निपटने की शक्ति प्रदान करता है। इसमें न्यायालय द्वारा विधि के अविधिमान्य घोषित किये जाने से उत्पन्न परिस्थिति भी शामिल है। जिसके निपटारे के लिए अध्यादेश जारी किया जा सकता है। अध्यादेश द्वारा कर विधियों में संशोधन या परिवर्तन भी किया जा सकता है, क्योंकि अध्यादेश जारी करने की राष्ट्रपति की शक्ति संसद की सह विस्तारी है। **स्पेशल बियर बाण्ड के मामले**[26] में केन्द्रीय सरकार से एक अध्यादेश जारी करके काले धन को बैंक में जमा करने वालों की कुछ विमुक्तियाँ प्रदान की थी, किन्तु कर देने वालों को प्रदान नही की गई थी। अध्यादेश को इस आधार पर चुनौती दी गई कि यघपि वह अवैध नहीं है, किन्तु अनैतिक है। निर्णय दिया गया कि अनुच्छेद 123 के अधीन राष्ट्रपति को आकस्मिक स्थितियों से निपटने के लिए अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। अध्यादेश की विधिमान्यता को नैतिकता के आधार पर चुनौती नहीं दी जाती है। अध्यादेश को अस्पष्टतः मनमाना प्रयोग युक्तियुक्त और जनहित के आधार पर चुनौती दी जा सकती है। अध्यादेश जारी करके वैयक्तिक स्वाधीनता के अधिकार से किसी को वंचित किया जा सकता है क्योंकि अनुच्छेद 21 के अधीन अध्यादेश 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सम्मिलित है। **ए.के. राय बनाम भारत संघ**[27] और **ए. वी. नचाने बनाम भारत संघ**[28] के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने स्पेशल बियर बाण्ड के मामले में दिये गये निर्णय को अभिपुष्ट किया है।

विश्व की किसी भी लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका को ऐसी शक्ति प्रदान नहीं की गई है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 123 के अंतर्गत अभिव्यक्त रूप से राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी करने के बारे में काफी वाद विवाद हुआ और यह कहा गया कि कार्यपालिका को ऐसी शक्ति देना अलोकतांत्रिक है और वह उसका दुरूपयोग कर सकती है। कार्यपालिका इस शक्ति के दिये जाने के आधार पर न्यायोचित बताया गया कि गंभीर परिस्थितियों में शीघ्रतिशीघ्र कार्यवाही करने के लिए राष्ट्रपति में ऐसी शक्तियों का होना आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति की कल्पना करना असंभव नहीं है, जबकि कार्यवाही के विलम्ब होने पर देश की काफी क्षति हो सकती है। राष्ट्रपति अध्यादेश जारी करने की अपनी शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सलाह पर करता है। राष्ट्रपति का व्यक्तिगत समाधान मंत्रिपरिषद का समाधान होता है। इसके बावजूद भी अध्यादेश जारी करने की शक्ति का दुरूपयोग किया जाना संभव है। इसे प्रबुद्ध जनमत द्वारा रोका जा सकता है।

डी.सी. वाधवा बनाम बिहार राज्य[29] का मामला अध्यादेश जारी करने की शक्ति के दुरूपयोग का ज्वंलत उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस मामले में पिटिशनर ने उच्चतम न्यायालय में यह तथ्य प्रस्तुत किया कि बिहार में 1967–1981 के मध्य कुल 256 अध्यादेश जारी किये गये। यहीं नहीं, उन्हें विधानमण्डल द्वारा अनुमोदित किये बिना बार–बार जारी करके 14 वर्षों तक जीवित रखा गया। केन्द्र द्वारा इन अध्यादेशों की भी मंजूरी दी गई। उच्चतम न्यायालय की 5 न्यायाधीशों की पीठ ने इसकी आलोचना की और यह निर्धारित किया कि विधानमण्डल की विधि बनाने की शक्ति कार्यपालिका द्वारा शक्तियों का अपहरण है, जिसे ऐसा नही करना चाहिये। इस शक्ति का प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में किया जाना चाहिये, राजनीतिक उद्देश्यों में नहीं।'' न्यायालय ने बिहार राज्य के डॉ. वाधवा को 10,000 रूपये देने का निर्णय दिया, जिनके शोध के फलस्वरूप कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश जारी करने की शक्ति दुरूपयोग की जानकारी न्यायालय को मिली थी।

अनुच्छेद 213 के अंतर्गत राज्यपाल को राष्ट्रपति की ही भाँति अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है।

यद्यपि राज्यपाल को राष्ट्रपति की भाँति अध्यादेशों को जारी करने की शक्ति प्राप्त है किन्तु इस संबंध में राज्यपाल की इस शक्ति पर कुछ ऐसी सीमाएँ लगाई गई है, जो राष्ट्रपति पर नही हैं।

निम्न मामलों में राज्यपाल राष्ट्रपति के निर्देश के बिना कोई भी अध्यादेश जारी नहीं करेगाः–

(अ) जिस विधेयक पर विधानमण्डल में पेश करने से पूर्व राज्यपाल को राष्ट्रपति से निर्देश लेना पड़ेगा।

(ब) राज्यपाल जिन विषयों पर राष्ट्रपति का विचार लेना आवश्यक समझता है, उस विषय पर अध्यादेश जारी करने से पूर्व वह राष्ट्रपति से परामर्श करेगा।

(स) राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम जिनमें वही प्रावधान होते है, जिस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति की अनुपस्थिति में अधिनियम अवैध हो जाता हैं। यदि उसे राज्यपाल द्वारा आरक्षित न किया गया होता। इस प्रकार जारी किये गये अध्यादेश का वही बल तथा प्रभाव होगा, जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित एक अधिनियम का होता है।

राज्यपाल द्वारा जारी किया गया अध्यादेश अनुच्छेद 226 के अंतर्गत उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये किसी भी निर्णय पर अभिभावी कर सकता है।

सत्यपाल डंग बनाम पंजाब राज्य[30] का मामला एक महत्वपूर्ण मामला है। इस मामले के तथ्य निम्न थेः–

दिनांक 8 मार्च 1968 को पंजाब राज्य की विधानसभा के अध्यक्ष ने सदन के सत्र को दो माह के लिए स्थगित कर दिया। जिसके फलस्वरूप चालू वित्तीय वर्ष के लिए विनियोग विधेयक को पारित करना असंभव हो गया। राज्यपाल ने इस सवैंधानिक संकट को समाप्त करने के लिए 11 मार्च 1968 को विधानसभा का सत्रावसान कर दिया और एक अध्यादेश जारी करके बजट तथा विनियोग विधेयक पारित करने की प्रक्रिया को विहित किया। जिससे अनुच्छेद 209 के अंतर्गत परिकल्पित सारी वित्तीय व्यवस्था समय के भीतर पूर्ण हो जाये। अध्यादेश में यह उपबंधित था कि सदन को उसके प्रस्ताव द्वारा ही स्थगित किया जा सकता है। 18 मार्च को पुनः सदन आहूत किया गया। सदन का सत्र प्रारंभ हुआ तो अध्यक्ष ने यह व्यवस्था दी कि सदन को बुलाया जाना अवैध था और उसके द्वारा 8 मार्च को दी

गई व्यवस्था वैध थी। ऐसी व्याख्या देकर अध्यक्ष ने सदन का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् उपाध्यक्ष ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया तथा बजट एवं विनियोग विधेयक पारित कर दिया। उपाध्यक्ष ने उसे प्रमाणित कर दिया और राज्यपाल की अनुमति के लिए भेज दिया। राज्यपाल ने उसे अपनी अनुमति प्रदान कर दी।

इस अध्यादेश के अधीन पारित विनियोग विधेयक की वैधता को कतिपय आधारों पर चुनौती दी गई जो इस प्रकार हैः–

1. क्या राज्यपाल को उन परिस्थितियों में संविधान के अन्तर्गत ऐसा अध्यादेश जारी करने की शक्ति निहित थी?
2. क्या अनुच्छेद 209 के अंतर्गत परिकल्पित विधि एक अध्यादेश द्वारा विहित की जा सकती है?
3. क्या अध्यक्ष को अध्यादेश की वैधता पर व्यवस्था देने की शक्ति निहित थी?
4. क्या विनियोग विधेयक की वैधता को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उसके पालन करने के लिए निर्धारित प्रक्रिया का समुचित रूप से पालन नहीं किया गया?

उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्य की विधानसभा द्वारा पारित किये गये दोनों विनियोग विधेयक तथा राज्यपाल द्वारा सदन की कार्यवाही को विनियमित करने के लिये जारी किया। क्या अध्यादेश सवैंधानिक है? राज्यपाल को सदन को आहूत करने की शक्ति, जो अनुच्छेद 174 में उसे प्रदान की गई है, अक्षुण्ण है। इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल द्वारा सदन के अध्यक्ष द्वारा दी गई व्यवस्था को समाप्त करने हेतु किया गया था क्योंकि अध्यक्ष की व्यवस्था सदन की कार्यवाही रोकने के लिए तथा अनावश्यक देर करने के लिए की गई थी। अनुच्छेद 209 के अंतर्गत यदि कोई उचित समय पर वित्तीय मामलों को पारित के लिये था तो यही था, अन्यथा राज्य के विधानमण्डल के दो माह की अवधि के लिए प्रस्तुत कर देने से वित्तीय विषय सवैंधानिक तंत्र तथा प्रजातंत्र स्वतः ध्वस्त हो जाने की स्थिति में हो जाते।

राज्यपाल द्वारा तत्काल सदन को पुनः आहूत करना अध्यक्ष की व्यवस्था से जो तंत्र बिल्कुल निष्क्रिय हो गया था, सही दिशा में उठाया गया कदम था, क्योंकि इससे राज्य में प्रशासनिक मशीनरी अपनी स्थिति पर आ गई थी।

राज्यपाल की सदन को आहूत करने की शक्ति तथा अध्यादेश जारी करने की शक्ति संविधान द्वारा प्रदत्त है। इस विवाद में जो संकटकालीन परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसमें राज्यपाल के कृत्य का औचित्य स्पष्ट ही था। पंजाब में स्थिति यह थी। यद्यपि विधानसभा का सत्र नहीं था तथापि अध्यक्ष का व्यवस्था से वह शिथिल हो गया था क्योंकि समय बीत रहा था, बजट को पास किया जाना था इसलिए शीघ्रता से राज्यपाल को विधान तंत्र को पुनर्जीवित करना था, जिसे वह संविधान में प्रदत्त शक्तियों (जो उसमें निहित थी) का उपयोग करके ही कर सकता था।

अध्यक्ष की व्यवस्था पर समीक्षा करते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अध्यक्ष की यह व्यवस्था, (जबकि सदन उनके द्वारा स्थागित कर दिया गया था) कि राज्यपाल सदन को पुनः नहीं बुला सकता, गलतफहमी पर आधारित थी।

अध्यक्ष को राज्यपाल के अध्यादेश की वैधता पर निर्णय देने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्यपाल की कार्यवाही की वैधता को विधानसभा के प्रस्ताव द्वारा ही चुनौती दी जा सकती है।

न्यायालय तथा अवमानः-

उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय है। जिसे अपने अवमान के लिये किसी व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति है। यह शक्ति अभिलेख न्यायालय की प्रकृति में निहित है। भारतीय संविधान उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है।

न्यायालय अवमान अधिनियम 1971 के अनुसार, न्यायालय अवमान दो प्रकार के होते है : सिविल और आपराधिक।

1. सिविल अवमानः सिविल अवमान का अर्थ है न्यायालय के किसी डिक्री, निर्णय, आदेश, निर्देश रिट या किसी अन्य प्रक्रिया की जानबूझकर अवज्ञा कर या न्यायालय को दिये हुए किसी वचन को जानबूझकर तोड़ना।

2. अपराधिक अवमानः अपराधिक अवमान का अर्थ ऐसे विषय (जो प्रकाशन से चाहे वह मौखिक या लिखित हों या ऐसे कार्यों के करने से हैं) जो (i) न्यायालय की निन्दा करते हो या ऐसी प्रवृत्ति वाले हो या उसके प्राधिकार को कम करते हो या

ऐसी प्रवृति के हो या (ii) न्यायालय पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले हों या न्यायिक कार्यवाहियों में बाधा डालते हो या ऐसी प्रवृत्ति वाले हों।

8. अयोध्या प्रकरण:-

उच्चतम न्यायालय ने उत्तरप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह को अदालत की अवमानता का दोषी ठहराया और एक दिन का प्रतीकात्मक कारावास तथा दो हजार रूपये जुर्माने का दण्ड दिया। उन्हें अयोध्या के विवादित क्षेत्र में न्यायालय के आदेशों के घोर उल्लंघन का दोषी ठहराया। जुलाई 1992 में उच्चतम न्यायालय ने उत्तरप्रदेश सरकार को यह आदेश दिया था कि विवादित स्थल पर कोई स्थायी निर्माण कार्य न करें। मुख्यमंत्री के रूप में श्री कल्याणसिंह ने उस समय न केवल राष्ट्रीय एकता परिषद् वरन् उच्चतम न्यायालय में यह वचन दिया कि वे वहाँ कोई स्थायी निर्माण नहीं होने देंगे। इसके बावजूद कार्यकारी सेवकों द्वारा वहाँ एक पक्का चबूतरा बनाया गया। यह तर्क दिया गया कि उक्त निर्माण साधुओं ने किया था। न्यायालय ने इस तर्क को नहीं माना। न्यायालय ने यह कहा कि सरकार ने उक्त निर्माण को रोकने के लिये कोई कार्यवाही नहीं की और न्यायालय के आदेशों का उल्लंघन किया। न्यायालय ने निर्णय दिया कि वैसे तो न्यायालय की अवमानना के लिये राज्य सरकार दोषी थी, किन्तु न्यायालय ने कहा कि सरकार का कोई मंत्री या अधिकारी अपनी हैसियत के साथ निजी हैसियत से भी उसका दोषी होता है, यदि वह विधि का उल्लंघन होने देता है और उनको रोकने के लिए सकारात्मक कदम नहीं उठाता है। उच्च से उच्च अधिकारी को कानून का पालन अपनी इच्छा से नहीं बल्कि एक कर्तव्य मानकर करना चाहिये।

इस निर्णय का यह प्रभाव होगा कि देश के उच्च से उच्च अधिकारी तथा मंत्रीगण अब विधि का उल्लंघन करने से डरेगे तथा न्यायालय के आदेशों का पालन करेंगे।

9. राष्ट्रपति शासन तथा न्यायिक पुनरावलोकन (एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ)

'एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ के मामले'[31] में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने ऐतिहासिक महत्व के निर्णय में यह अभिनिर्धारित

किया कि अनुच्छेद 356 के अधीन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने तथा विधानसभा को भंग करने की राष्ट्रपति की शक्ति सशर्त है, यह अत्यन्तिक शक्ति नहीं है। यह न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन हैं। यदि विधानसभा का भंग किया जाना अवैध पाया जाता है तो न्यायालय उसे पुनर्जीवित कर सकता है।

न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि 6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद के गिराये जाने के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे फैलने से कानून व्यवस्था भंग होने के कारण तीन राज्यों मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की सरकारों को पदच्युत करना तथा राष्ट्रपति शासन लागू करना था। न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय दिया कि 'धर्म निरपेक्षता' संविधान का एक आधारभूत ढाँचा है। उपर्युक्त तीनों राज्यों की भा.ज.पा. सरकारें धर्म निरपेक्षता के आदर्शों के विरूद्ध कार्य कर रही है, अतः उनकी पदच्युति संवैधानिक थी। न्यायालय ने कहा कि 'राज्य के मामलों में धर्म का कोई स्थान नहीं है।' कोई भी राजनीतिक दल साथ–साथ धार्मिक दल नहीं हो सकता। राजनीति तथा धर्म को एक साथ नहीं मिलाया जा सकता। धर्म निरपेक्षता की धारणा हमारे संविधान की प्रस्तावना अनुच्छेद 25 से 28 में पहले से ही निहित थी। 42 वें संशोधन द्वारा इस शब्द को प्रस्तावना में समाविष्ट करके इसे केवल स्पष्ट कर दिया है। कोई भी राज्य सरकार जो इस धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्तों के विरूद्ध कार्य करती है, उसके विरूद्ध अनच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही की जाती है।

किन्तु बहुमत ने निर्णय दिया कि तीन अन्य राज्यों में 1988 में नागालैण्ड, 1989 में कर्नाटक और 1991 में मेद्यालय में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाना और विधानसभाओं को भंग किया जाना असंवैधानिक था, किन्तु न्यायालय ने कहा कि चूंकि इन राज्यों में चुनाव करा दिये गये है और नई सरकारों का गठन हो चुका है। अतः पुरानी विधानसभाओं को पुनर्जीवित किया जाना संभव नहीं है।

न्यायालय ने बहुमत का निर्णय सुनाते हुए न्यायमूर्ति श्री पी. वी. जीवनरेड्डी ने यह कहा कि राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की उद्घोषणा का ''न्यायिक पुनरावलोकन'' किया जा सकता है और यदि यह पाया जाता है कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग दुर्भावना से प्रेरित होकर किया गया था या उसके लिये सामग्री नहीं थी, तो इस स्थिति में भंग विधानसभा को पुनर्जीवित किया जा सकता है। इस मामलों

में न्यायालय ने **'राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ'** के मामलें में दिये गये निर्णय का अनुसरण किया, जिसमें यह निर्णय दिया गया कि राष्ट्रपति की शक्ति न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन है। न्यायालय ने कहा कि राष्ट्रपति शासन लागू होने के साथ विधानसभा को भंग नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदित होने के पश्चात् ही विधानसभा को भंग कर सकता है, उसके पहले नहीं। जब तक संसद द्वारा अनुमोदन नहीं मिलता है, राष्ट्रपति विधानसभा को केवल निलम्बित कर सकता है। अनुच्छेद 74 (2) के संदर्भ मे बहुमत ने निर्णय दिया कि यद्यपि मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया परामर्श गोपनीय हैं, किन्तु जिस सामग्री के आधार पर मंत्रिगण राष्ट्रपति को सलाह देते हैं वह सलाह का भाग नहीं हैं। अतः उसकी न्यायालय द्वारा जाँच की जा सकती हैं। न्यायालय द्वारा परीक्षण का क्षेत्र सीमित है। वह केवल इस बात का परीक्षण करेगा कि क्या राष्ट्रपति ने जिस सामग्री के आधार पर कार्य किया है वह सुसम्बद्ध हैं?

उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति शासन लागू करने के संबंध में जो विशिष्ट मानदण्ड विहित किया है, जिनका पालन करना केन्द्र सरकार के लिये अनिवार्य हैं, निम्नलिखित है :–

1. अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने और विधानसभा के भंग करने की शक्ति 'सशर्त' है, असीमित नहीं और उसे यह दिखाना होगा कि अनुच्छेद 356 (1) के अधीन वे परिस्थितियाँ अस्तित्व में थी, जिनके आधार पर राष्ट्रपति ने कार्यवाही की है।
2. राष्ट्रपति शासन राज्यपाल की लिखित रिपोर्ट के बिना लागू नहीं किया जा सकता है।
3. 'पंथ निरपेक्षता' भारतीय संविधान का 'आधारभूत ढाँचा' है और यदि कोई सरकार इसके आदर्शों के विरूद्ध कार्य करती है तो वहाँ अनुच्छेद 356 का उपयोग किया जा सकता है।
4. विपक्ष द्वारा शासित सभी राज्य सरकारों को एक साथ पदच्युत नहीं किया जा सकता है।
5. यदि केवल राजनीतिक आधारों पर दुर्भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है तो न्यायालय विधानसभा को पुनर्जीवित कर सकता है।

6. राष्ट्रपति शासन लागू करना और विधानसभा को भंग करना दोनों एक साथ नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति संसद द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदित किये जाने के बाद ही विधानसभा को भंग कर सकता है, जब तक ऐसा अनुमोदन नहीं हो जाता है। राष्ट्रपति विधानसभा को केवल निलम्बित कर सकता है।
7. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार को अनुच्छेद 74 (2) के बावजूद उस सामग्री को बताने के लिये बाध्य कर सकता है जिसके आधार पर किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का परामर्श केन्द्रीय मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को देता है।
8. किसी राजनीतिक दल का भारी बहुमत से केन्द्र सत्तारूढ़ होना किसी राज्य में विपक्षी दल की सरकार को पदच्युत करने का कारण नहीं हो सकता।

उच्चतम न्यायालय का उक्त निर्णय यदि अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन दुर्भावना से प्रेरित होकर राजनीतिक आधारों पर लागू किया जाता है, तो न्यायालय उसे न केवल अवैध घोषित कर सकता है वरन् भंग विधानसभा को पुनर्जीवित कर सकता है। अनु. 356 के दुरूपयोग पर रोक लगाने मे निश्चित रूप से सहायक होगा। न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 356 के प्रयोग के लिए विहित किये गये मार्गदर्शक सिद्धांत स्वागत योग्य हैं। नागालैण्ड, कर्नाटक और मेघालय में लागू किये गये राष्ट्रपति शासन को न्यायालय ने इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इसके लिये कोई ठोस आधार नहीं था और अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनीति से प्रेरित होकर किया गया था।

किन्तु उच्चतम न्यायालय इस निर्णय से (कि भा.ज.पा. शासित तीन राज्यों मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान की राज्य सरकारों का पदच्युत किया जाना संवैधानिक था) सहमत नहीं हुआ, कहा जा सकता है। केन्द्र ने इन सरकारों को इस आधार पर बर्खास्त किया था कि दिसम्बर 1992 को अयोध्या में विवादित बाबरी मस्जिद ढहाये जाने के कारण इन राज्यों में फैले दंगे तथा कानून व्यवस्था भंग हो गई थी और इससे धर्म निरपेक्षता के आदर्शो का उल्लंघन हुआ था, जो संविधान का आधारभूत ढाँचा है। इन राज्यों के मुख्यमंत्री राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य थे और यह आशंका थी कि वे केन्द्र के निर्देशों का पालन नहीं करेंगे और

R.S.S. पर रोक नहीं लगायेंगे, जबकि इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने यह कहा था कि ये केन्द्र के निर्देशों का पालन कर रहे हैं। हिमाचल प्रदेश में कोई दंगा नहीं हुआ। यह भी कहा गया कि इन राज्यों से कार्यकर्ता सेवक अयोध्या भेजे गये थे। यह तथ्य है कि असंख्य कार्यकर्ता सेवक देश के अन्य राज्यों आन्ध्रप्रदेश, मुम्बई, बिहार तथा बंगाल से आये थे। केवल इस आशंका पर कि उक्त राज्य केन्द्र के निर्देशों का पालन नहीं करेंगे। इनमें राष्ट्रपति शासन लागू करना केन्द्र को अत्यधिक शक्ति देना है और इसका दुरूपयोग भविष्य में किया जा सकता है।

न्यायालय का यह निर्णय कि उक्त राज्य सरकारों को 'पंथ निरपेक्षता' के आदर्शों के विरूद्ध कार्य करने के कारण बर्खास्त किया गया था, आलोचना से परे नहीं है। धर्म निरपेक्षता की घोषणा का प्रयोग एकांगी ढंग से नहीं, किया जा सकता है। महाराष्ट्र और गुजरात में साम्प्रदायिक दंगें इन तीन राज्यों की अपेक्षा कहीं भयानक थे। क्या इस राज्यों में धर्म निरपेक्षता को अवहेलना नहीं हुई थीं ? केरल में मुस्लिम लीग कांग्रेस सरकार का एक घटक है। पंजाब में अकाली दल सरकार बना चुका है तथा आज भी सक्रिय दल के रूप मे विद्यमान है। न्यायाधिपति श्री रेड्डी ने कहा कि ''बहुसंख्य समुदाय हिन्दुओं को अवश्य धर्मनिरपेक्ष होना चाहिये और अल्पसंख्य को धर्म निरपेक्ष होने में सहायक होना चाहिये क्योंकि वहीं उनको सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री एच.आर.खन्ना यह कहते हैं कि ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठता है कि क्या इन राज्यों में मुख्यमंत्रियों या अन्य मंत्रियों का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का सदस्य होना राष्ट्रपति शासन लागू करने का आधार हो सकता है? वे उसके उस समय से सदस्य है, जब वह एक वैध संगठन था। न्यायालय ने कहा कि भा.ज.पा. के चुनाव घोषणा पत्र में 1992 की घटना पर कोई खेद प्रकट नहीं किया गया था। जब न्यायालय के समक्ष यह तथ्य प्रस्तुत किया गया कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर लगाई गई रोक को न्यायाधिकरण द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया, तो न्यायालय ने कहा कि इसका कोई महत्व नहीं है। पूर्व न्यायाधिपति श्री खन्ना का यह मत कि न्यायालय के निर्णय के फलस्वरूप राजनीतिक दल के रूप में भा.ज.पा. का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। इस निर्णय के आधार पर भविष्य में यदि भा.ज.पा. की सरकार बनती है तो उसे बर्खास्त करना न्यायोचित हो सकता है। यद्यपि भारतीय संविधान

ने धर्म निरपेक्षता की शासन प्रणाली को अपनाया है किन्तु संविधान के प्रारंभ से ही मुस्लिम लीग, अकाली दल, हिन्दु महासभा दलों ने सरकार बनाई थी, किन्तु उन्हें बर्खास्त नहीं किया गया।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 123 केवल चुनाव की प्रक्रिया में धर्म के प्रयोग पर रोक लगाती है। न्यायालय का कोई निर्णय देश की राजनीति के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता है। विधि तर्क पर नहीं अनुभव पर आधारित होती हैं। जिसका राजनीतिक और सामाजिक वास्तविकताओं से गहरा सम्बन्ध होता है। संविधान भी शून्य में प्रवर्तित नहीं किया जा सकता है। मान लीजिए भविष्य में जनता किसी राज्य में बहुमत से चुनाव जीत जाती है तो क्या उसे सरकार बनाने से मना किया जा सकता है? उक्त निर्णय के अनुसार उसे सरकार बनाने से मना किया जा सकता है। क्या यह बहुमत मतदाताओं की इच्छाओं का नष्ट नहीं करेगा? क्या यह लोकतंत्र के मूल तत्व के विरूद्ध नहीं होगा, जो संविधान का एक आधारभूत ढांचा हैं?

इस सम्बन्ध में सभी दलों ने मिलकर एवं सुस्पष्ट परम्परा की स्थापना का प्रयास करना चाहिये। लोकतांत्रिक सरकारों को भंग करने की परम्परा केरल में 1959 में तथा तमिलनाडु में सन् 1976 में हुई थी।

न्यायपालिका संवैधानिक रूप में सर्वोच्च हैं। यह विधायिका तथा राष्ट्रपति के निर्देशनो की संविधान के अंतर्गत मीमांसा कर सकती है। कार्यपालिका को संविधान, उच्चतम न्यायालय के दिशा निर्देशों और विधायिका की परिधि में रहकर कार्य करना आवश्यक है। संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत न्यायपालिका को कार्यपालिका के कार्य को जाँचने का अधिकार हैं। न्यायमूर्ति श्री राजेन्द्र सच्चर का कहना है कि ''चूकि लोकतंत्र ठप्प पड़ गया है इसलिए न्यायालय को हस्तक्षेप करने की जरूरत पड़ रही है और निगरानी रखने की उसकी गतिविधयां अचानक तेज हो गई है।''

न्यायमूर्ति श्री अहमदी का कहना है कि पिछले दशक में उच्चतम न्यायालय का कुछ ऐसे राजनीतिक, वैधानिक और सामाजिक मुद्दों को सुलझाना पड़ा, जो बहुत नाजुक थे। इनमें मण्डल के खिलाफ आन्दोलन और अयोध्या विवाद प्रमुख है। ये मामलें ऐसे थे, जिन्हें सरकारी स्तर पर निपटाया जा सकता था। जो काम संसद तथा कार्यपालिका का है, वह काम न्यायपालिका हाथ में ले रही है। श्री अहमदी का

यह मानना है कि वर्तमान स्थिति में समस्या शक्ति संतुलन की नहीं है। आज का नागरिक, जिसे अशिक्षित समझा जाता है, लेकिन उसकी बुद्धिमत्ता की वजह से राजनेताओं को अपनी सत्ता गवानी पड़ी है। आजादी के प्रारंभिक वर्षों में नागरिक सरकार की नीतियों से संतुष्ट थे, लेकिन हाल ही के वर्षों में संसद में पहुंचे लोग जनता की भावनाओं का ठीक–ठीक प्रतिनिधित्व नहीं करते, इसलिए लोकतांत्रिक प्रक्रिया के प्रति उनका आक्रोश बढ़ा है।[32]

न्यायमूर्ति श्री अहमदी का कहना है कि आम नागरिके ने दो प्रकार से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। एक बड़ा वर्ग यह मान बैठा है कि यह हमारी नियति है। दूसरा वर्ग जो संख्या में छोटा है एक सकारात्मक और अपेक्षाकृत नए रास्ते में आगे बढ़ा है। उसने अपने लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए न्यायपालिका का दरवाजा खटखटाया है तथा इसकी परिणिति जनहित याचिकाओं के माध्यम से हुई है। इन याचिकाओं के माध्यम से उच्चतम न्यायालय का कार्यक्षेत्र बढ़ा है। न्यायमूर्ति श्री पी. एन. भगवती ने भी कहा है कि यदि कार्यपालिका अपनी संवैधानिक तथा कानूनी जिम्मेदारियों को निभाने में असफल रहती है तथा विधायिका भी हाथ पर हाथ घरे बैठी रहती है, तो न्यायपालिका को आगे ही आना होगा। यद्यपि न्यायपालिका जनता द्वारा निर्वाचित नहीं है लेकिन वह लोगों के प्रति जवाबदेह है तथा न्याय के प्रति प्रतिबद्ध है। लेकिन यह अस्थायी दौर है, जैसे ही विधायिका और कार्यपालिका अपना दायित्व सही ढंग से समझने लगे, वैसे ही न्यायपालिका अपनी मूल स्थिति में आ सकेगी।[33]

श्री शिवराज पाटिल पूर्व अध्यक्ष लोकसभा ने कहा कि जहाँ–जहाँ अधिकारों के बंटवारे के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है, वहाँ टकराव की स्थितियाँ सामने आई है। कार्यपालिका तथा न्यायपालिका कभी–कभी एक दूसरे के क्षेत्र में पदार्पण करते है, वहाँ पर तनाव पैदा हो जाता है। लेकिन विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को समझना चाहिये कि वे एक आर्गेनिक पूर्णता के अंग है। वे एक जीवित इकाई के हिस्सा है इसलिए तीनों को हिस्सेदारी से काम करना होगा।[34]

पूर्व राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने कहा कि ''भारत में लोकतंत्र की जड़े बहुत मजबूत है। जब मैं राष्ट्रपति था, तब कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच विवाद के मुद्दे जरूर उठे थे। यह आरोप लगाया जा रहा था कि न्यायपालिका

कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रही है। तब मैंने यह बात कही थी कि यदि कार्यपालिका काम नहीं करेगी तो न्यायपालिका को कैसे रोका जा सकता है, कोई तो काम करेगा।[35]

वर्तमान में संविधान की समीक्षा की माँग हो रही है। इस संदर्भ में **पूर्व मुख्यमंत्री श्री अर्जुनसिंह, पूर्व मुख्यमंत्री ने** यह कहा कि समूचे संविधान की समीक्षा की जरूरत नहीं है। यदि कुछ पहलुओं को लेकर संशोधन की आवश्यकता है और उस पर कोई मतैक्य बनता है तो संशोधन प्रक्रिया का पालन कर संशोधन किये जा सकते है। संशोधन भी चुने हुए प्रतिनिधि करेंगे। श्री सिंह का कहना है कि सर्वोच्च न्यायालय को ही संविधान की व्याख्या का अधिकार है। मेरी दृष्टि में यह अच्छी व्यवस्था है। यदि कार्यपालिका विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच टकराव की स्थितियाँ पैदा हुई हैं तो उनके लिए संविधान जिम्मेदार नहीं है, इसके लिए जन प्रतिनिधि जिम्मेदार है। ये ही संविधान चलाते है। मैं समझती हूँ कि संविधान को लागू करने वालों के बीच सामंजस्य के अभाव के कारण टकराव की स्थिति निर्मित हुई है क्योंकि संविधान जो अधिकार देता है, वह व्यक्ति को नहीं वरन् संस्थाओं को देता है। जो व्यक्ति संस्थाएँ चलाते हैं उनसे यह अपेक्षा की जाती हैं कि वे अपनी कार्यशैलियो में सामंजस्य बनाये रखे, तालमेल रखे।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि शासन के तीनों अंग एक दूसरे पर नियंत्रण रख कर संतुलन प्राप्त कर सकते हैं। न्यायपालिका न्याय के प्रति प्रतिबद्ध है। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करते हुए ऐसे भारत का निर्माण करें, जहाँ प्रत्येक नागरिक को सामाजिक तथा आर्थिक न्याय प्राप्त हो सके।

न्यायिक सक्रियता: कार्यपालिका में हस्तक्षेप अथवा चेतावनी

भारत में इन दिनों सरकार और न्यायपालिका के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई है, इस स्थिति के लिए सरकार ही मुख्य रूप से दोषी है, दोनो के बीच टकराव का **ताजा उदाहरण** उच्चतम न्यायालय द्वारा उच्च शिक्षण संस्थान में पिछड़ी जातियों के आरक्षण की व्यवस्था पर अन्तरिम स्थगन आदेश देने से है, न्यायालय के इस निर्णय को प्रधानमंत्री तथा उनके मंत्रिमण्डल के कुल सहयोगी

अतिसक्रियता की दृष्टि से देखते हैं तथा न्यायालय को नसीहत देते है कि अपनी सीमा के अन्दर कार्य करें, आरक्षण पर **न्यायालय का ऐतिहासिक निर्णय, 'रेजिडेन्ट डॉक्टर एसोसिएशन और यूथ फोर इक्वलिटी'** जैसे संगठन द्वारा दायर याचिका पर सुनाया है। क्या न्यायालय को इस तरह का विवाद सुनने का अधिकार नहीं हैं? क्या सरकार यह बताएगी कि उच्चतम न्यायालय ने अपने अन्तरिम आदेश देकर सीमा–रेखा का उल्लंघन किया है? आरक्षण पर उच्चतम न्यायालय का निर्णय ऐसे समय में आया जब उत्तर प्रदेश में विधान सभा का चुनाव हो रहा है, सभी दलों को लग रहा है कि इस फैसले से उनका वोट बैंक प्रभावित होगा, प्रधानमंत्री द्वारा न्यायपालिका को अपनी सीमा में रहने की सलाह देना आरक्षण राजनीति से उपजी मजबूती का संकेत है। अब प्रश्न यह उठता है कि संसद द्वारा पारित कानून एवं कार्यपालिका द्वारा जारी आदेश को न्यायिक समीक्षा करने का अधिकार न्यायालय को है या नहीं? न्यायिक समीक्षा का अधिकार न्यायालय का मौलिक अधिकार है, इसका लम्बा इतिहास है, 17वीं शताब्दी में ब्रिटेन का दार्शनिक कोक का राजा जेम्स के साथ जो संघर्ष हुआ था, उसमें यह बात उभरकर सामने आई कि न्यायालय को न्यायिक समीक्षा का अधिकार है, 1803 में अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने **''मार्वरी बनाम मैडीसन''** के विवाद में निर्णय देते हुए कहा था कि न्यायालय को कानून की समीक्षा का अधिकार है, मार्शल के इस निर्णय का न्यायिक जगत् पर विशेष प्रभाव पड़ा तथा इसके निम्नलिखित कानूनी पहलू उजागर हुए हैं:–

1. संविधान सर्वोच्च कानून हैं।
2. संविधान की व्याख्या के प्रतिकूल बनाया गया कोई कानून वैध नहीं है।
3. यदि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून संविधान के प्रतिकूल है तो न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून को लागू करने से मना कर दे।
4. दो परस्पर विरोधी कानूनों पर निर्णय करना न्यायालय का कर्त्तव्य हैं।

समय–समय पर भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने कई ऐतिहासिक निर्णय में न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था की है। उदाहरणस्वरूप 1967 ई. में **'गोलकनाथ बनाम भारत सरकार'** 1973 में, **'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य',**

मिनर्वा मिल्स विवाद में न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक निर्णय देते हुए, ''42 वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368'' में अन्तः स्थापित (4)–(5) को इस आधार पर विखण्डित कर दिया है कि न्यायिक पुनरावलोकन भारतीय संविधान का आधारिक लक्षण है, जिसे संविधान का संशोधन करके भी छीना नहीं जा सकता। केशवानन्द भारती विवाद में न्यायालय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि संसद भारतीय संविधान के मूल ढाँचे को संशोधित नहीं कर सकती है, संविधान का मूल ढाँचा क्या है, इसकी सूची तो न्यायालय ने निर्गत नहीं की हैं, लेकिन न्यायालय के कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों से इसके निम्नलिखित आधारिक लक्षण स्पष्ट हुए हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. संविधान की सर्वोच्चता।
2. विधि का शासन।
3. न्यायिक पुनरावलोकन अनुच्छेद 32 और 226।
4. संविधान में उद्देशिका (प्रस्तावना) में घोषित उद्देश्य।
5. संघवाद।
6. धर्म–निरपेक्षता।
7. प्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य।
8. अनुच्छेद 32, 136,141 और 132 के अधीन उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ।

न्यायपालिका अगर अपने दायित्व के प्रति सक्रिय है, तो इसमें बुरा क्या हैं? सरकार के सभी अंगों को अपने कार्य के प्रति सक्रिय होना ही चाहिए, किसी अंग विशेष की निष्क्रियता चिन्ता का विषय होना चाहिए, सक्रियता का नहीं। संविधान के अनुच्छेद 32 (2) के द्वारा मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय के विभिन्न प्रकार के लेख जारी करने का अधिकार दिया गया है, अगर कार्यपालिका के आदेश से या संसद के बनाए गए कानूनों से मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो न्यायालय को सक्रिय होना ही पड़ेगा। संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने अनुच्छेद 32 को **''भारतीय संविधान की आत्मा''** कहा है, इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 139,226 और 227 के द्वारा भी न्यायालय की विशेष अधिकार दिए गए हैं, जिस कारण उसकी सक्रियता बढ़ी है।

जेलों में वर्षों से सुनवाई की प्रतीक्षा में बन्द कैदी, स्त्रियों, बच्चों और श्रमिकों का शोषण, जेल और महिला संरक्षण गृहों की अमानवीय दशा, पुलिस अत्याचार, न्याय में देरी जैसी समस्याओं के निराकरण में कार्यपालिका की शिथिलता, न्यायालय को उसके अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप, करने का मौका देती है। पीछे की कुछ घटनाओं पर नजर डाले तों मॉडल जेसिका लाल का केस काफी चर्चा का विषय रहा है। इस हत्याकांड में सभी अभियुक्तों का साक्ष्यों के अभाव में, बरी हो जाना काफी विस्मयकारी था। हाँलाकि ये फैसला निचली अदालत से आया था, किन्तु इसने एक बार न्यायालय की कार्यप्रणाली पर सवालिया निशान जरूर लगा दिया था। हाँलाकि इस फैसले को उलटते हुए दिल्ली हाई कोर्ट ने मनु शर्मा को बाद में दोषी ठहराया। ऐसे में कई बार अदालतों की अतिसक्रियता पर सवाल भी खड़े किए जाते हैं, लेकिन वास्तव में इसके पीछे कोई गलत दृष्टिकोण नहीं होता और अदालत की सोच यही होती है कि आम जनता को न्याय मिले। न्यायपालिका तो तभी दखल देती है, जब वह देखती है कि कार्यपालिका किसी मामले को पूरी तरह नजर अंदाज कर रही है। कार्यपालिका की इस निष्क्रियता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्थिति को न्यायपालिका ने विधि के शासन की विफलता माना है। इसलिये विधिक व्यवस्था को बनाये रखने संबंधी कर्त्तव्यबोध का मान करते हुए उसे हस्तक्षेप करना पड़ता है। न्यायिक सक्रियता को संवैधनिक आधार प्रदान करने वाले उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश पी.एन. भगवती के अनुसार– ''सरकार के प्रत्येक अंग को अपनी शक्तियों की सीमाओं में रहकर कार्य करना चाहिये तथा कानून अथवा संविधान द्वारा उन पर आरोपित दायित्वों को पूरा करना चाहिये।'' लेकिन आरम्भ में समस्या यह थी कि न्यायालय किस तरह कार्यपालिका के क्षेत्र में प्रवेश करके समाज में हो रहे अन्याय तथा शोषण को रोक सकती है और उन दशाओं को उत्पन्न कर सकती है जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिये आवश्यक है।

इन समस्याओं में जो सबसे अहम समस्या, न्यायालय के सामने थी, वह यह कि न्यायालय में केवल वही व्यक्ति मुकदमा कर सकता हैं, जिसके वैधानिक अधिकारों का उल्लंघन हुआ हो और दूसरा यह कि न्यायालय किसी भी अवैधानिकता के खिलाफ तब तक संज्ञान नहीं लेगा, जब तक कि वह मामला

औपचारिक रूप से उसके सामने न आये। लेकिन जब कार्यपालिका की उदासीनता और स्वेच्छाचारिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई तो न्यायपालिका ने भी अपने पारस्परिक प्रतिबंधों को शिथिल करके कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में दखल दिया, जिसके परिणामस्वरूप न्यायिक सक्रियता की अवधारणा का जन्म हुआ।

ऐसा नहीं है कि न्यायपालिका द्वारा कार्यकारिणी की शक्तियों का हस्तगन स्वेच्छाचारी ढंग से किया गया है, बल्कि न्यायिक सक्रियता का आधार संवैधानिक है। न्यायपालिका ने संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के माध्यम से संबंध स्थापित करके न्यायालय को कार्यकारिणी के क्षेत्राधिकार में प्रवेश करने का अवसर प्रदान किया है। न्यायालय ने इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया कि यदि कार्यपालिका संविधान के अनुच्छेद 14, 19, 21, 32 तथा 34 (अ) द्वारा तय किये गये अधिकारों और सिद्धान्तों को कार्यान्वित नहीं करती है, तो संविधान का संरक्षक होने के नाते न्यायपालिका का यह दायित्व और अधिकार है कि वह कार्यकारिणी को आवश्यक निर्देश दें। 1980 से पहले भारत में न्यायपालिका इन अर्थों में अनुदार तथा निष्क्रिय थी कि वह परम्परागत सीमाओं का आदर करते हुए जनहित के विषय में खुद से कोई पहल नहीं करती थी। वह केवल उन मामलों पर ही विचार करती थी, जो प्रभावित पक्ष के द्वारा उसके सामने लाये जाते थे। बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने महसूस किया कि सार्वजनिक हित की अनेक समस्याओं, जिनसे गरीब और अशिक्षित तबके का हित जुड़ा है, के खिलाफ आवाज उठाने वाला कोई नहीं है इसलिये ऐसे लोगों के साथ हो रहे अत्याचार और अन्याय के निराकरण के लिये न्यायपालिका ने जनहित के वादों को मान्यता देकर सामाजिक न्याय स्थापित करने में सक्रिय भूमिका अदा की है।

न्यायिक सक्रियता के तहत जनहित से जुड़े मामलों का क्षेत्र, प्रक्रिया, लक्ष्य आदि व्यक्तिगत हित विवादों से बिल्कुल भिन्न हैं। यह सामाजिक न्याय को स्थापित करने और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार रूप देने का एक प्रभावी उपाय है। ऐसे तमाम मामलों में न्यायालय ने संज्ञान लिया और पीड़ित पक्ष को उसका हक दिलाया जो समाज के दबे–कुचले वर्ग से जुड़े थे। इनमें 1982 में **एशियाड वर्कर्स का मामला, 1982 का बंधुआ मुक्ति मोर्चा केस, जैसे कई विवादों में**

उच्चतम न्यायालय ने कार्यवाही करते हुए प्रभावित लोगों को आवश्यक राहतें देने का प्रयास किया है।

न्यायिक सक्रियता को उत्प्रेरित करने में न्यायालय द्वारा 'जीवन' के अधिकार की व्याख्या संबंधी फैसले ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उच्चतम न्यायालय ने एक फैसले में संविधान के अनुच्छेद 21 की व्याख्या करते हुए कहा कि 'प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता' में जीविकोपार्जान का अधिकार भी शामिल है। 'जीवन' का तात्पर्य सिर्फ भौतिक अस्तित्व नहीं, बल्कि एक सम्मानपूर्ण जीवन के साथ आधार–भूत जरूरतों पर अधिकार भी शामिल है। न्यायालय के इस फैसलों से चिकित्सा सहायता और स्वास्थ्य अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता मिली। साथ ही उच्चतम न्यायालय ने यह भी घोषित किया कि अनुच्छेद 21 के तहत मिले जीवन के अधिकार में संक्रमणमुक्त जल और वायु भी शामिल है, ताकि व्यक्ति जीवन का पूरा सुख उठा सके। न्यायालय ने इस संबंध में समय–समय पर कई आदेश दिए, जिससे प्रदूषण फैलाने वाले कारखानों को या तो बंद करना पड़ा या उन्होंने इसे रोकने के लिए कोई व्यवस्था की।

न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका के क्षेत्र के अतिक्रमण की आलोचना भी अक्सर हुई है। आलोचकों का कहना है कि न्यायिक सक्रियता के नाम पर न्यायपालिका, कार्यपालिका की शक्तियों को हड़प रही है। इस तरह का हस्तक्षेप शासन के तीनों अंगों के बीच संतुलन को समाप्त कर देगा, जिससे उनमें पारस्परिक सहयोग के स्थान पर निरंतर टकराव और विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। खासतौर पर आलोचकों को सबसे ज्यादा आपत्ति न्यायपालिका द्वारा विधान मण्डल के कार्यों में हस्तक्षेप से है। इनके अनुसार विधान मण्डल, जो जन साधारण का प्रतिनिधित्व करता है, की अपेक्षा न्यायालय के कुछ एक सदस्य जनहित को ज्यादा अच्छी तरह से नहीं समझ सकते है। जनहित विवादों के नाम पर न्यायपालिका का हस्तक्षेप दैनिक प्रशासन में निरन्तर बढ़ता जा रहा है और स्थिति यह होती जा रही है कि इस तरह के मामले उपाहासास्पद बन कर रह गये हैं। हाल ही के दिनों में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिले, जिनमें न्यायालय की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। चाहे वह न्यायालय द्वारा पार्किंग स्थल के बारे में सरकार को निर्देश जारी करना हो या फिर किसी मरीज की निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था

करनी हो। ये मामले ऐसे नही हो सकते, जिनमें न्यायालय रोज–रोज हस्तक्षेप करे। हाल के दिनों में जिस प्रकार न्यायालय विधानमंडलों की कार्यप्रणाली में हस्तक्षेप कर रहा है, वह भी न्यायिक सक्रियता के ऋणात्मक पक्ष को ही दर्शाता है। यहाँ तक कि झारखंड विधानसभा में सुप्रीम कोर्ट द्वारा सरकार को बहुमत साबित करने की 'डेडलाइन'जारी करने पर तो लोकसभाध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने भी खुलकर आलोचना की और इसे विधायिका के कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप बताया।

कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच तनाव का एक और प्रसंग तब सामने आया, जब **दिल्ली में बिजली संकट के मुद्दे पर सुप्रीम कोर्ट में अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल ने कहा कि** 'अदालत सुपर प्लानिंग कमीशन की तरह काम नहीं कर सकती।' इसके पहले वन विभाग की विशेषज्ञ समिति के सदस्य नियुक्त करने के अधिकार को लेकर भी लोकतंत्र के इन दोनों स्तंभों के बीच टकराव दिखाई दिया था। इसके अलावा लगातार विधायिका में भी अदालतों की अतिसक्रियता को लेकर असहमति दिखाई दे रही है। लोकसभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी और प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह भी न्यायपालिका की भूमिका पर नाराजगी व्यक्त कर चुके हैं। यह दिख रहा है कि पिछले लंबे वक्त से अदालतें उन क्षेत्रों में दखल दे रही है, जो आमतौर पर कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र माने जाते हैं। संविधान की नवीं अनुसूची और पिछड़ों के आरक्षण के मुद्दे पर अदालत के रवैए से विधायिका नाखुश है। लगता यही है कि लोकतंत्र के इन स्तंभों के बीच यह टकराव पूरी तरह खत्म नहीं होगा। ऐसे में सवाल यही उठता है कि आखिरकार इस समस्या का अंत क्या है?

हमारे संविधान में तीनों स्तंभों के काम स्पष्टतया रेखांकित किए गए हैं, फिर भी व्यावहारिक धरातल पर कहीं न कहीं कुछ धुंधले इलाके तो हमेशा ही बने रहेंगे, जिनकी व्याख्या अलग–अलग ढंग से की जाएगी। धीरे–धीरे नई परिस्थितियों के संदर्भ में कुछ चीजें ज्यादा साफ होंगी। फिर भी पूरी तरह यांत्रिक ढंग से कार्य विभाजन शायद कभी संभव नहीं होगा। ऐसे में दो बातें महत्वपूर्ण हैं– एक, इस टकराव का रचनात्मक पक्ष देखा जाए और इससे एक ज्यादा बेहतर लोकतंत्र के बनने के रास्ते ढूंढे जाएं। अगर यह टकराव सीमा में रहे तो निश्चय ही सबके लिए ज्यादा कार्यकुशल और चुस्त बने रहने की गुंजाइश बनाता है। दूसरी बात यह है, कि हमारे लोकतंत्र के सभी स्तंभ कहीं–न–कहीं जनता की जरूरतों और आकांक्षाओं

पर खरे नहीं उतर रहे हैं। ऐसे में अक्सर जनता दूसरे स्तंभ की शरण लेती है। जैसे कार्यपालिका से असंतुष्ट होकर लोग जनप्रतिनिधियों के पास भी जाते हैं और अदालतों के पास भी। ऐसे में सिर्फ न्यायपालिका ही नहीं विधायिका के लोग भी वे काम करते हैं, जो मूलतः कार्यपालिका के काम है। अगर संसद सदस्यों को यह शिकायत है कि न्यायपालिका उनके और कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र का हनन कर रही है, तो वे खुद देखें कि वे कितने ऐसे काम करते है, जो कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र में हैं। इस समस्या का हल बहुत पुराना है। अगर लोकतंत्र के सभी स्तंभ अपने अधिकार क्षेत्र की सीमा विवाद छोड़कर अपने कर्त्तव्यों पर ध्यान दें, तो कोई समस्या नहीं बचेगी। अधिकार क्षेत्र का सीमा विवाद किनारे रखकर ही वह सार्थक संवाद भी हो पाएगा, जो लोकतंत्र को बेहतर बनाता है।

न्यायालय ने कई ऐसे महत्वपूर्ण निर्णय दिए है जिसकों सरकार न्यायपालिका की अति सक्रियता की दृष्टि से देख रही है, जैसे दिल्ली में सफाई व्यवस्था में न्यायपालिका का हस्तक्षेप, पर्यावरण प्रदूषण के सम्बन्ध में आदेश, लापरवाह चिकित्सकों पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से चिकित्सा सेवा को उपभोक्ता कानून की परिधि में लाने का निर्देश, दिल्ली में सरकारी आवासों के आवंटन के मामलों में सरकार को दिए गए आदेश, उच्च शिक्षण संस्थाओं में अति पिछड़े वर्गों के आरक्षण की व्यवस्था पर आन्तरिक स्थगन आदेश इत्यादि मामलों पर न्यायालय ने समय–समय पर जो आदेश दिए हैं, सरकार उनको न्यायालय की अति सक्रियता मानती है, प्रश्न यह उठता है कि सारे विवाद यदि कार्यपालिका द्वारा सुलझा दिए जाए तो न्यायालय में जाने का अवसर ही नहीं मिलता, न्यायालय को न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्राप्त है और उसके इस अधिकार को न्यायिक अति सक्रियता नहीं कहा जा सकता। कुछ राजनेता, न्यायपालिका की बढ़ती सक्रियता को **''न्यायिक अधिनायकवाद''** की संज्ञा देते हैं और अधिनायकवाद का बहाना बनाकर न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को सीमित करना चाहते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि आम जनता के जीवन से न्याय का दीपक बुझ जाए। जिस दिन न्याय का दीपक बुझ जाएगा, उस दिन व्यक्ति के जीवन में वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नही की जा सकती।

देश में न्यायपालिका की अधिनायकवाद की स्थापना नहीं हो सकती। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के अधिनायकवाद का उदाहरण देखने को मिलता हैं। कुछ राजनेता यह मानते हैं कि न्यायालय को अपने मूल कर्त्तव्य के प्रति गम्भीर होना चाहिए। आज देश के विभिन्न न्यायालयों में लगभग तीन करोड़ विवाद वर्षों से लम्बित हैं, न्यायालय को इन लम्बित विवादों को निपटारा जल्द करना चाहिए। प्रश्न यह है कि न्यायालय में इतनी बड़ी संख्या में मामले क्यों लम्बित हैं? इसके लिए दोषी कौन है? न्यायाधीशों के हजारों पद वर्षों से रिक्त पड़े हैं, इन पदों पर नियुक्ति करने का दायित्व कार्यपालिका का है। इतने अधिक लम्बित मामलों को देखते हुए जरूरत केवल न्यायधीशों के रिक्त पदों को भरने की ही नहीं है, बल्कि उनकी संख्या बढ़ाने की भी है। वर्तमान में हमारे देश में प्रति दस लाख आबादी पर महज 13 न्यायाधीश उपलब्ध हैं। इस आंकड़े से यह सहज ही समझा जा सकता है कि न्यायाधीशों की कितनी बड़ी कमी है, न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कौन करेगा? निश्चित रूप से यह कार्य विधायिका का है, क्या विधायिका ने यह कार्य समय पर किया है? अतः यह कहा जा सकता है कि न्यायिक क्षेत्र की सारी समस्याओं के लिए सरकार ही जिम्मेदार हैं।

न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के बीच का विवाद प्रजातांत्रिक व्यवस्था के लिए उचित नहीं है, न्यायपालिका अपने उचित और निष्पक्ष निर्णय से जनता में विद्रोह की भावना को नहीं पनपने देती, प्रजातांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका का होना नितांत आवश्यक है, इस देश में न न्यायपालिका ही सर्वोच्च है, न ही विधायिका और न ही कार्यपालिका, बल्कि संविधान सर्वोच्च है, संवैधानिक दायरे के भीतर सरकार को सभी अंगों का कार्य करना पड़ता है।

कुछ एक विवादास्पद मुद्दो को अगर छोड़ दिया जाये तो यह सही प्रतीत होता हैं कि न्यायपालिका की सक्रियता ने सामाजिक न्याय को स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। निःसन्देह इस दृष्टि से न्यायिक सक्रियता स्वागत योग्य है। लेकिन यह भी उतना ही सही है कि अति सक्रियता के भंयकर परिणाम हो सकते है। अतः न्यायपालिका को भी सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि कार्यपालिका निष्पक्षता से अपना कार्य करे तो न्यायालय

को उतना सक्रिय नहीं होना पड़ेगा, जितना कि वह आज है। वास्तविकता तो यह है कि कार्यपालिका की अक्षमता के कारण ही न्यायपालिका को सक्रिय होना पड़ता है। यह सही है कि आज का समाज अधिक सजग और जागरूक हो गया है, और वह यह भलीभंति जानने लगा है कि कहाँ न्यायपालिका सही है और कहाँ कार्यपालिका? उसे इस बात का एहसास न्यायपालिका सक्रिय होकर करवाती है, और सच तो यही है कि समाज के लिये भी यह एक अच्छा संकेत है क्योंकि इसकी तह में आम आदमी की सुरक्षा ही सर्वोपरि होती है। आखिर अदालतों की सक्रियता से आम आदमी को राहत तो मिलती ही है। न्यायपालिका पर सवाल उठाने से पहले उसके फैसलों को सही नीयत से देखने की कोशिश करनी होगी। साथ ही, यदि कार्यपालिका निष्पक्षता से अपने कार्यों को अंजाम दे, तो न्यायपालिका पर न अनावश्यक बोझ बढ़ेगा और न ही इस तरह से विवाद ही सामने आएंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान, अनुच्छेद–50
2. नवभारत (भोपाल), 17 जनवरी 1999
3. ए.आई.आर. 1983; एस.सी.361
4. (1981) एस.सी.सी.; 107
5. ए.आई.आर. 1982; एस.सी. 774
6. (1989) एस.सी.सी.; 204
7. स्ट्रांग, सी.एफ.; ''आधुनिक राजनीतिक संविधान'', पृष्ठ 271
8. ए.आई.आर.; 1958 एस.सी. 956
9. ''एन.टी. एलोकेशन ऑफ लेण्ड बिल्डिंग्स'', ए.आई.आर.; 1943 एस.सी. 13
10. ए.आई.आर. 1979; एस.सी. 478
11. ए.आई.आर. 1992; एस.सी.सी. 522
12. ए.आई.आर. 1994; एस.सी.सी. 605 (1994) 6 एस.सी.सी 360
13. ए.आई.आर. 1951; एस.सी. 332
14. ए.आई.आर. 1958; एस.सी. 956
15. ए.आई.आर. 1960; एस.सी. 845
16. ए.आई.आर. 1963; एस.सी. 1760
17. ए.आई.आर. 1955; एस.सी. 745
18. ए.आई.आर. 1979; एस.सी. 1682
19. ए.आई.आर. 1979; एस.सी. 478
20. ए.आई.आर. 1992; एस.सी. 522
21. दी हिन्दुस्तान टाइम्स; 29 अक्टूबर 1998
22. ए.आई.आर. 1995; एस.सी. 661
23. ''लक्ष्मीनारायण बनाम बिहार प्रान्त'' (1950) एस.सी.जे. 32

24. ''ज्ञान प्रसन्न बनाम बंगाल राज्य'' (1948), 53 ए.डब्ल्यू.ए. 27 (70) पूर्व पीठ
25. इन दी वीरभद्र ए.आई.आर.; 1950 मद्रास 247 (256)
26. ''आर.के.गर्ग बनाम भारत संघ'', ए.आई.आर. 1981 एस.सी. 2138
27. ए.आई.आर. 1982; एस.सी. 710
28. ए.आई.आर. 1982; एस.सी. 1126
29. 1987 एस.सी.सी.; 378
30. ए.आई.आर. 1969; एस.सी. 93
31. (1994) 3 एस.सी.
32. नवभारत टाइम्स; 3 मार्च 1990
33. नवभारत टाइम्स; 3 मार्च 1990
34. नई दुनिया; 26 जनवरी, 1999
35. नई दुनिया; इन्दौर 26 जनवरी 1999
36. नवभारत टाइम्स; 3 मार्च 1990
37. नई दुनिया; 26 जनवरी 1999
38. नई दुनिया; 26 जनवरी 1999

अध्याय – सप्तम्
निष्कर्ष व सुझाव

संविधानवाद एवं जनतन्त्र के प्रादुर्भाव ने न्यायपालिका पर नया दायित्व डाला है। दो पक्षों के बीच विवादों में दोषी को चिन्हित करने के अलावा उनसे यह भी अपेक्षा की जाने लगी है कि वे प्रशासनिक संस्थाओं की कार्यविधियेां की वैधानिकता पर विवाद होने पर समुचित परीक्षण व निर्णय करें। द्वितीय भूमिका इतनी व्यापक सम्भावित है कि इस पर कई मत मतान्तर व परिप्रेक्ष्य उभरकर सामने आये हैं। मुख्यतः इन्हें दो वर्गों में देखा जा सकता है। (1) अनुदार या रूढ़िवादी एवं (2) उदारवादी। प्रथम के अनुसार, न्यायपालिका को स्पष्ट उल्लेख की परिधि में ही विभिन्न संस्थाओं की नीतियों व कार्यक्रमों का मूल्यांकन करना चाहिए जैसा कि डेविड पी. ब्रिडन. ने स्पष्ट किया है, कि भारतीय शासन व्रूवस्था जनतंत्र के स्वशासन के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण संविधान में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका ने अपने कार्यक्षेत्र परिभाषित किये हैं। न्यायालय यह न देखे कि अन्य संस्थाओं को क्या करना चाहिए? बल्कि सिर्फ यह देखे कि शासन के अन्य अंग संवैधानिक और कानूनी प्रावधानों के अनुरूप काम कर रहे है या नहीं?

दूसरी ओर उदारवादी न्यायपालिका की भूमिका को सकारात्मक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तथा संवैधानिक प्रावधानों की शाब्दिक अर्थ से परे मूल भावना के आधार पर समीक्षा पर बल देते है। उनके अनुसार, समय के साथ सन्दर्भ बदलते है और विशेषकर वंचित वर्ग के हितों को न्यायिक निर्णय के दौरान ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमरीका में 19 वीं सदी के प्रारम्भ में व वर्तमान में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विशेषकर डेमोक्रेटिक पार्टी के शासन काल में अश्वेतों के कल्याण कार्यक्रमों के बारे में काफी वाद–विवाद हुआ था। भारत में 1980 के दशक में कुछ विद्वानों के अनुसार, न्यायपालिका जहाँ विशुद्ध वैधिक या अनुदारवादी दृष्टिकोण अपनाए हुए थी, वहीं 1980 के दशक के बाद से सामाजिक–आर्थिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए सामाजिक न्याय की भावना को पर्याप्त महत्व दिया

जाने लगा। इससे देश में सभी स्तरों पर न्यायिक सक्रियता को बढ़ावा मिला है। दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों मे प्रजातंत्र के परिदृश्य में उतार–चढ़ाव आते रहे हैं। परन्तु फिर भी जनता में जनतंत्र या खुली राजव्यवस्था की आकांशा बढ रही हैं।

आज जनहित याचिका जन–समस्याओं को हल करने के लिए कानूनी हथियार सिद्ध हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इस पर अंकुश लगाना भी अब कुछ हद तक अनिवार्य हो गया है। समय की माँग है कि संविधान में संशोधन कर जनहित याचिकाओं की सुनवाई हेतु अलग से प्रावधान किया जाना चाहिए, जिससे नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं व सेवाओं की रक्षा की जा सके। आज के प्रजातंत्रीय युग में ऐसा काल गतिमान है, जहाँ जनप्रतिनिधित्व अपनी जिम्मेदारियों को पूर्ण रूप से निभाने में सावधानी बरत रहे है। वर्तमान में जनहित–याचिकाओं के माध्यम से न्यायालय उचित आदेश प्रदान कर जन–समस्याओं का निवारण करने में प्रयासरत हैं, परन्तु यह भी देखने में आता है कि न्यायालयों के अत्यधिक हस्तक्षेप से प्रजातांत्रिक समस्याओं की कार्य–प्रणाली पर भी असर पड़ रहा है। क्या प्रजातंत्रीय युग में नौकरशाह अपनी जिम्मेदारियों से बच सकता है? क्या जिला–स्तर पर नगर–पालिकाओं, परिषदों एवं नियमों में जन–प्रतिनिधियों के अधिकार समाप्त हो गये हैं? क्या उनका नैतिक पतन हो गया है? इन सब प्रश्नों का उत्तर ढूंढने का प्रयास किया जाना नितांत आवश्यक हो गया है। प्रजातंत्र में भ्रष्टाचार और अनैतिक तरीके से अपना काम करना, आज नौकरशाही, जनप्रतिनिधियों व विधि द्वारा संस्थापित कार्यपालक संस्थाओं का उद्देश्य रह गया है। इसी बुराई को मिटाने के लिए जनहित याचिकाओं का उद्‌भव हुआ है।

भारत एक लोकतांत्रिक देश है, जहाँ विधि का शासन विद्यमान है। संविधान देश की सर्वोच्च विधि है, जो लोकतांत्रिक सरकार के तीनों अंगो विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों को परिभाषित करता है। मुख्यतः विधायिका का कार्य विधि बनाना है, जबकि कार्यपालिका का कार्य उन्हें लागू करना है और न्याय पालिका इन विधियेां का निर्वचन करती है। ऐसी लोकतांत्रिक सरकार का परम् कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना का सृजन कर एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना,

42वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा पंथ–निरपेक्ष और समाजवाद शब्दों को जोड़कर बता दिया कि संविधान के उद्देश्य सर्व–धर्य सद्भाव तथा पिछड़े निर्धन कृषक एवं मजंदूर वर्ग के लिए सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की भावना से प्रेरित हैं। संविधान के भाग–3 में नागरिकों के मूल अधिकार, जो व्यक्ति के जीवन के लिए समानता और स्वतंत्रता के साथ बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक है तथा दूसरी तरफ सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु व्यक्ति एवं समाज में सामंजस्य स्थापित करने के लिए निर्बन्धन के अधीन भी है। संविधान के भाग–4 में नीति निर्देशक तत्वों का उद्देश्य लोक कल्याण की उन्नति के लिए राज्य को ऐसी सामाजिक व्यवस्था करने के लिए प्रेरित करता है, जिससे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की स्थापना पर बल दिया जा सके, लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाकर गरिमापूर्ण बनाया जा सके तथा गरीबी, अशिक्षा, अज्ञानता एवं पिछड़ेपन को दूर किया जा सके।

संविधान के उक्त लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया। जिसका गठन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया गया। विधायी एवं कार्यपालकीय शक्ति इसमें निहित की गई। भारतीय संविधान के संघात्मक होते हुए भी इकहरी न्याय प्रणाली के रूप में स्वतंत्र न्यायपालिका जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई, सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षण का कार्य भी दिया गया तथा विधायिका द्वारा संविधान के उपबन्धों के विरूद्ध विधियों एवं संविधान संशोधनों को मूल ढांचे के विरूद्ध होने पर असंवैधानिक घोषित करने की शक्ति के साथ अन्तिम निर्वचन करने का अधिकार भी दिया गया। उसे संविधान के अनुच्छेद 32 में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति दी, जो असंशोधनीय है। इसके अन्तर्गत वह नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा करता है और इस प्रकार वह न केवल संविधान का वरन् नागरिकों के मूल अधिकारों का जागरूक प्रहरी है तथा प्रजातंत्र की आधारशिला है।

न्यायविदों के दृष्टिकोण में परिवर्तनः-

केशवानन्द भारती के सुप्रसिद्ध मामले के निर्णय के पश्चात् सामाजिक न्याय एवं सामूहिक हित की भावना से प्रेरित होकर न्यायाधीशों के दृष्टिकोण में परिवर्तन

दिखाई दिया। उन्होंने अपनी पूर्व धारणा में यह कहते हुए परिवर्तन किया कि ''भारतीय संविधान के भाग–3 में प्रदत्त मूल अधिकार सुभिन्न और परस्पर अनन्य अधिकार नहीं हैं, जिनकी पृथक–पृथक अनुच्छेदों में गारण्टी की गई है, वे सभी संविधान में सुसम्बद्ध युक्ति सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भाग हैं। इनको एक–दूसरे से पृथक–पृथक नही देखा जा सकता है। सुप्रसिद्ध मामले **मेनका गाँधी, सुनील बत्रा, हुस्नआरा** आदि अनेक मामलों में मूल अधिकारों का निर्वचन करते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल अधिकारों का प्रयोजन समातावादी समाज का निर्माण करना, समाज के उत्त्पीड़न से मुक्त कराना और सबके लिए स्वतन्त्रता की उपलब्धि कराना है। अनुच्छेद 21 में विदेश भ्रमण, निःशुल्क विधिक सहायता, मानव गरिमा, एकान्तता का अधिकार, जीविकोपार्जन आदि पहलू, जो मानव विकास के लिए आवश्यक है, मूल अधिकार माने गए। मूल अधिकारों को प्रवर्तन करने के लिए कोई विशेष प्रक्रिया निहित नहीं की है क्योंकि संविधान निर्माता यह जानते थे कि भारत जैसे देश के लिए, जहाँ इतनी निर्धनता, अज्ञानता, अशिक्षा और अभाव है, वहाँ मूल अधिकारों का सीमित और संकुचित अर्थ लेकर उनका प्रवर्तन करना, उनके साथ अन्याय करना होगा। अतः उच्चतम न्यायालय की मूल अधिकारों को प्रवर्तन करने की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढांचा है और इसके अन्तर्गत वह सामूहिक हित में अपनी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है।

राजनीतिक शासन व्यवस्था गिरावटः–

भारत की स्वतन्त्रता के लगभग दो दशक पश्चात् के समय को राजनीतिक व्यवस्था में गिरावट का काल कहा जाये, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारत के लिए जो सपने संजोये तथा उनके अनुसार एक सुदृढ़ लोकतांत्रिक देश की कल्पना करते हुए संविधान में नागरिकों को मौलिक अधिकार, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय और निर्धन तथा गरीबों के लिए कल्याणकारी नीतियें के प्रावधान रखे थे, उनको प्राप्त करने में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में दिनों–दिन गिरावट आती गई। इसके पीछे कई कारण दिखाई दिए, जिनमें सत्ता लोलुपता, राजनीति को धन कमाने का साधन, भाई–भतीजावाद एवं

राजनति को समाजपरख न मानते हुए व्यक्ति परख मान बैठे और परिणामस्वरूप जातिवाद, प्रान्तवाद, भाषावाद के आधार पर येन–केन प्रकार के सत्ता हासिल करना उनका उद्देश्य रह गया। राजनीतिक भ्रष्टाचार, सरकारी तन्त्र एवं निकायें में अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार, सरकार की उपेक्षापूर्ण नीतियां, प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता आदि के कारण देश के करोड़ों निर्धनों, कृषकों, श्रमिकों को न केवल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय नहीं मिल पा रहा था, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में वातावरण दूषित दिखाई दे रहा था। जीविकोपार्जन के साधन के साथ–साथ लोगों को गरिमापूर्ण जीवनयापन करना मुश्किल हो रहा था। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में महिला एवं बच्चों के साथ दुर्व्यवहार, अमानवीय व्यवहार, गरीब एवं असहाय को आवास की समस्या, बाल वेश्यावृत्ति, नारी निकेतनों की दुर्दशा, पुलिस द्वारा यातना एवं दुर्व्यवहार आदि के साथ–साथ अशिक्षा, अज्ञानता, मानवीय कर्त्तव्यों का अभाव एवं औद्योगिक विकास आदि के कारणों से फैलता हुआ पर्यावरण प्रदूषण एवं ऐसे और अनेक उदाहरणों के कारण यह दिखाई देने लगा कि यह राजनीतिक व्यवस्था जनहित में ज्यादा सफल नहीं हो सकी है। इस बात की यह चर्चा होने लगी कि भारत की परिस्थितियों में संसदनात्मक शासन व्यवस्था उपयुक्त दिखाई नहीं दे रही तथा अच्छी व्यवस्था के रूप में अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली से इसकी तुलना की जाने लगी।

न्यायिक सक्रियता का पदार्पणः–

राजनीतिक शासन व्यवस्था की उक्त बिगड़ती दशा की तरफ विशेष विचारधारा रखने वाले न्यायविद्ों का ध्यान गया तथा उन्होंने सोचा कि न्यायालय केवल उनके लिए नहीं है, जिनके पास संसाधन और ज्ञान है। न्यायपालिका द्वारा नागरिकों के हित में न्यायिक समीक्षा करने पर कोई सीमा नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने देश में फैल रहे राजनैतिक भ्रष्टाचार, प्रान्तवाद एवं क्षेत्रवाद की समस्या पर चेतावनी देते हुए कहा कि ''उसका यह संवैधानिक दायित्व हैं कि वह ऐसे राजनेताओं को रोके, जो राजनीतिक स्वार्थ के चलते गैर संवैधानिक कार्यों को अंजाम देने को उतावले रहते हैं। देश की गरीब जनता के लिए कल्याणकारी कार्यों से बचकर अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों के साथ न्याय करने में असमर्थ हैं और

परिणामस्वरूप करोड़ों, निर्धन व्यक्तियों को समाजिक न्याय देने में असक्षम रहें। तब देश की सर्वोच्च न्याय संस्था को यह देखना ही पड़ेगा कि देश का शासन संविधान–सम्मत् ढंग से चल रहा है या नहीं?

उक्त क्रम में शीर्ष न्यायालय के न्यायविदों का ध्यान अमेरिका में लोकहित विधि सम्बन्धी अवधारणा के आन्दोलन की तरफ गया। सामाजिक न्याय के पक्षधर न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने 'मुम्बई कामगार सभा' नामक मामले में परम्परागत न्याय प्रणाली के अन्तर्गत सुने जाने के नियम के प्रति उदार और लचीला दृष्टिकोण अपनाते हुए जनहित वादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता का पदार्पण किया।

जनहित मामले एवं न्यायिक सक्रियता : सम्भाव

जनहित वाद एवं न्यायिक सक्रियता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जो साथ–साथ चलते हैं। लोकहित वादों के माध्यम से न्यायालय अपने निर्धारित कार्यों से हटकर सक्रिय हुए, इसलिए लोकहित वादों का परिणाम ही न्यायिक सक्रियता है। अब न्यायिक सक्रियता जनहित वादों की जननी एवं गृहिता बन गई है। अतः लोकहित वाद क्रिया है, तो न्यायिक सक्रियता उसकी विशेषता। अनु0 32 (1) के अधीन सर्वोच्च न्यायालय के मौलिक अधिकारों के उपचार एवं प्रवर्तन की शक्ति अत्यन्त व्यापक है। इस सम्बन्ध में उस पर कोई सीमा नहीं है कि वह मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के सम्बन्ध में परम्परागत न्याय प्रणाली को ही अपनाये क्योंकि नागरिकों को प्राप्त मौलिक अधिकारों का उद्देश्य व्यक्तिहित न होकर सामूहिक हित है। मूल अधिकारों का प्रयोजन समतावादी समाज का निर्माण करना और समाज को उत्पीड़न और बंधनों से मुक्ति प्रदान करवाना है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कई मामलों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि भारत जैसे देश में जहाँ निर्धनता, अज्ञानता, अशिक्षा, अभाव एवं शोषण है, वहाँ मूल अधिकारों के प्रवर्तन करने के लिए सूत्र अथवा कार्यवाहियों पर जोर देना उपचारो की विफलता होगी।

सर्वोच्च न्यायालय ने फर्टिलाइजर कॉरपोरेशन के मामले में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि अनुच्छेद 32 में ही न्यायिक सक्रियता का समावेश है,

जो मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन में अपना उद्देश्य पूरा करता है। अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता संविधान का आधारभूत ढांचा है। अतः इसे अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करके नष्ट नहीं किया जा सकता। एक अन्य प्रमुख मामले में **एल. चन्द्र कुमार ने** न्यायिक सक्रियता के क्षेत्र को बढाते हुए कहा कि ''विधायी कार्यों पर सर्वोच्च न्यायालय में निहित न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढांचा है और उसे संविधान संशोधन द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। अतः न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत अधिकारिता का विस्तार जनहित वादों की कार्यवाहियों को ग्रहण करना पूर्णतः संवैधानिक दायरे में है।

अनुच्छेद 21 का व्यापक अर्थान्वयनः–

सर्वोच्च न्यायालय ने अन्य मौलिक अधिकारों के साथ अनुच्छेद 21 का बहुत ही व्यापक अर्थ लिया है। अनुच्छेद 21 के अधीन **मेनका गाँधी के सुप्रसिद्ध मामले** में कहा कि ''नैसर्गिक न्याय अनुच्छेद 21 के अधीन उचित प्रक्रिया का एक आवश्यक तत्व है। इस जीने के अधिकार के साथ, मानव गरिमा और सभ्यता से जीने, बंधुआ मजदूरों के मुक्ति तथा पुनर्वास का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रदूषित रहित शुद्ध वातावरण में जीने का अधिकार भी है। इसके साथ ही सरकारी तन्त्र की उदासीनता, कुप्रबन्ध, भ्रष्टाचार, जातिवाद, प्रान्तवाद के विरूद्ध संरक्षण की कार्यवाही इस अधिकार में समाहित है। इसके अन्तर्गत निःशुल्क विधिक सहायता, शीघ्रतर परीक्षण, मानव गरिमा, आश्रय का अधिकार, महिला एवं बालकों के यौन शोषण एवं बाल वेश्यावृति को रोकना तथा लकान्तता का अधिकार आदि भी अनुच्छेद 21 की व्यापकता के उदाहरण हैं। जिसके माध्यम से लोकहित वादों के द्वारा लाखों–करोड़ों लोगों को सामूहिक रूप में न्याय प्रदान करके उनके मौलिक अधिकारों का प्रवर्तन किया है। अतः अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों का बहुआयामी लोकहित कार्य अनुच्छेद 32 की अधिकारिता सर्वोच्च न्यायलय की असीमित न्यायिक सक्रियता की तरफ इशारा करते हैं।

न्यायिक सक्रियता की व्यापकता

वर्तमान में जनहित मामलों के माध्यम से उच्चतर न्यायपालिका बहुविद् क्षेत्रों में प्रवेश कर चुकी है। जिससे न केवल निर्धन, असहाय, लोगों को न्याय दिलाना सम्भव हुआ है, बल्कि जन साधारण को भी विविध क्षेत्रों में न्याय सुलभ कराया है। गरीबों, श्रमिकों, बंधुआ मजदूरों की मुक्ति सम्बन्धी सामाजिक–आर्थिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण द्वारा जल, वायु एवं ध्वनि प्रदूषण को रोकने की कार्यवाही एवं शुद्ध वातावरण में जीने के अधिकार की स्वतन्त्रता, मानव गरिमा के साथ जीविकोपार्जन, एकान्तता का अधिकार, निर्धन को निःशुल्क विधिक सहायता पाने का अधिकार, महिलाओं एवं बालकों के साथ यौन उत्पीड़न एवं मानवीय दुर्दशा तथा पुलिस द्वारा कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार एवं राजनेताओं द्वारा जातिवाद, क्षेत्रवाद एवं भाषावाद के आधार पर जहरीलें आन्दोलनों, जैसे गैर संवैधानिक कार्यों को रोककर जनहित वादों के माध्यम से देश को संवैधानिक–सम्मत् ढंग से चलाने की भूमिका निभाकर उच्चतर न्यायालय ने न्यायिक सक्रियता का परिचय दे रहे है।

जनहित वादों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जनहित वादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता प्रारम्भ होने का श्रेय अमेरिका की लोकहित विधि को जाता है। इस विधि के माध्यम से अमेरिका में अल्पसंख्यकों, महिलाओं, बच्चों आदि को शारीरिक और मानसिक विकास तथा समाज के उपेक्षित लोगों के हितों को सरंक्षण करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। उपभोक्ताओं के हितों को संरक्षित करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। उपभोक्ताओं के हितों का सरंक्षण एवं पर्यावरण प्रदूषण को रोकना इस विधि के अन्य पहलू थे। अमेरिका में छठे दशक के अन्त तक साधनहीन और असहाय लोगों को विधिक सेवाएँ उपलब्ध कराने हेतु लोकहित विधि परिषद् की स्थापना, असंगठित निर्धन व्यक्ति के सरंक्षण तथा न्याय कराने हेतु अधिवक्ताओं की उदार सेवाएँ तथा आर्थिक अवसरों के कार्यालय इसके उदाहरण हैं। 1975 के आने तक तो लोकहित विधि द्वारा अमेरिका की न्यायपालिका का न्यायिक सक्रियता का क्षेत्र इतना फैल गया कि इसमें सभी प्रकार के सामाजिक हित सम्बन्धी मामले

उठाना सम्भव हो गया। इंग्लैण्ड में भी शासकीय प्राधिकारियों के विरूद्ध मनमानी, उपेक्षा तथा दुर्व्यवहार के मामले में जनहित मामलों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता का स्थान प्राप्त कर लिया।

भारत में अमेरिका और इंग्लैण्ड की तर्ज पर ही हमारी सर्वोच्च न्यायपालिका ने 1975 के पश्चात् इस उपधारणा को अपनाते हुए लोकहित वादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता को अत्यधिक व्यापक बना दिया है। भारतीय परिस्थितियों के अनुसार निश्चित ही इस सक्रियता से विभिन्न क्षेत्रों में सामूहिक न्याय प्राप्त करने में सफलता मिली है। जनहित मामलों की संकल्पना का उद्‌भव न्यायिक सक्रियता का ही दूसरा रूप है। भारत में जनहित मामलों का विकास निम्न प्रकार माना जा सकता है :–

1. 'सुने जाने के अधिकार के नियम' का क्रमबद्ध विकास किया गया है तथा लोकस स्टेंडी के नियम के प्रति उदार एवं लचीला दृष्टिकोण अपनाते हुए परम्परागत न्याय प्रणाली में प्रतिपक्षात्मक प्रक्रिया के विपरित जनहित में साधारण प्रक्रिया को अपनाना प्रारम्भ किया गया। पारम्परिक नियम बहुत ही निबन्धात्मक और महंगा है। अतः इस परम्परागत न्याय व्यवस्था में केवल उन्हीं लोगों को न्याय मिल पाना सम्भव है जो संसाधन और ज्ञान रखतें हैं। परिणामस्वरूप निर्धन और गरीब व्यक्ति को न्यायालय में जाकर अपने मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित करवाना बहुत ही मुश्किल कार्य था तथा सामूहिक रूप से गरीब, मजदूर, कृषक को न्याय प्रदान करके उनके मौलिक अधिकारों को प्रवर्तन करना न केवल कठिन था, बल्कि असम्भव है।

2. जनहित वादों के माध्यम से न्यायालयों में जाना सरल प्रक्रिया थी। इसके अन्तर्गत न्यायाधीशों ने उक्त नियम के प्रति उदार और लचीला दृष्टिकोण अपनाते हुए सृजनात्मक भूमिका निभाई एवं **समाचार पत्रों में प्रकाशित न्यूज या डाक द्वारा भेजी गई शिकायतों, जनसेवा की भावना रखने वाले व्यक्ति या सामाजिक हित के लिए सक्रिय संगठनों द्वारा सामूहिक हित में वर्ग विशेष की ओर से उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में मामला पेश करने की अनुमति दी जाने लगी। जनहित रखने वाले अनेक अधिवक्ताओं**

द्वारा समय–समय पर लोकहित वाद दायर किए जाने लगे। इस उदारतापूर्ण प्रक्रिया के माध्यम से अनेक गरीब, निर्धन, असहाय एवं साधनहीन व्यक्तियों का राहत मिलने लगी।

3. इन जनहित मामलों के माध्यम से राज्य की ज्यादतियों के विरूद्ध संरक्षण, राज्य की मनमानी शक्ति पर अंकुश लगाने का प्रयास तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिए राज्य पर अनेक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व अधिरोपित किए जाने लगे। जिससे उनको सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय दिया जा सके। इसके अतिरिक्त राज्य को यह आदेश–निर्देश दिए गए कि राज्य का परम् दायित्व है कि वह यह सुनिश्चित करें कि किसी भी नागरिक, विशेषकर दलित, उपेक्षित और शोषित वर्ग के लोगों के, (जो कानूनी लड़ाई की क्षमता नही ंरखतें) मौलिक अधिकारों का उल्लंघन न होने दें तथा केन्द्र और राज्य सरकार समाज कल्याण, श्रमिकों के हित, महिलाओं एवं बच्चों का सरंक्षण व पर्यावरण प्रदूषण को रोकने के लिए आवश्यक कार्यवाही करें।

4. जनहित मामलों के माध्यम से इस व्यवस्था को अधिक से अधिक जन उपयोगी बनाने के लिए राज्य को नये सिरे से पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता पर बल दिया। अनु0 12 के अधीन राज्य की परिधि के अधीन प्राईवेट औद्योगिक प्रतिष्ठानों को राज्य के अन्तर्गत माना गया। इसके अन्तर्गत उन प्राईवेट निकायों को राज्य की परिधि में माना जाये, जो सरकार के नियन्त्रण और विनियमों के अधीन उत्पादन कार्य कर रहा है। वस्तुतः सभी पर्यावरण सरंक्षण सम्बन्धी कानून ऐसे प्रतिष्ठानों पर भी लागू हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक मामलों में ऐसे प्राइवेट प्रतिष्ठानों को न केवल पर्यावरण प्रदूषण रोकने के लिए आदेश–निर्देश दिए है, वरन् ऐसे उद्योगों को घनी आबादी वाले क्षेत्रों से अलग किया है। **डी.सी.एम एवं ताजमहल प्रकरण** इसके उदाहरण है। शासन से अनुदान या सहायता प्राप्त संस्था भी अनुच्छेद 12 के अन्तर्गत 'राज्य' माने गये है। सर्वोच्च न्यायालय ने एक

महत्वपूर्ण मामले में कहा कि ''सोसायटी अभिकरण होने के कारण अनुच्छेद 12 तथा 21 के प्रयोजन के लिए राज्य के समान ही जिम्मेदार हैं।''

5. भारत की जनंसख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा गरीबी और अन्याय की मार झेल रहा है इसीलिए सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की पुनः सरंचना का कार्य वास्तव में अति आवश्यक है ताकि गरीब समुदाय के लिए सामाजिक और आर्थिक अधिकार अर्थपूर्ण हो सके। इस क्रम में हमारी उच्चतर न्यायपालिका ने प्रक्रियात्मक औपचारिकता तथा तकनीकियों से पूर्ण परम्परागत न्याय प्रणाली (जो अत्यन्त महंगी साबित हो रही थी और गरीब, असहाय एवं अशिक्षितों को एक साथ सामूहिक रूप से सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्रदान करने में असमर्थ थी) से हटकर सर्वप्रथम 1976 में इन लोगों के लिए सामाजिक न्याय के प्रणेता न्यायविदों ने सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में न्याय प्रदान करने के लिए जनहित वादों की शुरूआत की। इन जनहित वादों के माध्यम से सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में श्रमिकों के लिए कानून तथा विधिक सहायता न्यूनतम मजदूरी, श्रमिक विधियों का प्रवर्तन, बंधुआ मजदूरों का उत्थान, बंधुआ मजदूरी की समाप्ति एवं उनको पुनर्वास, दुर्घटना मुआवजा एवं बाल श्रमिकों को सरंक्षण आज अनेक क्षेत्रों में इस नई उदार तकनीकी से गरीब, मजदूरों एवं श्रमिकों को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में **बंधुआ मुक्ति मोर्चा, मुम्बई कामगार सभा, फर्टिलाईजर कामगार यूनियन, एशियाड प्रकरण, नीरजा चौधरी** एवं अन्य वर्तमान मामले महत्वपूर्ण जनहित वाद हैं, जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने परम्परावादी प्रक्रियात्मक तकनीक को छोड़कर देश के करोड़ों गरीब निर्धन मजदूरों को सामूहिक रूप से उदार दृष्टिकोण को अपनाते हुए न्याय प्रदान किया है।

6. पर्यावरण ईश्वर का सर्वोत्तम वरदान है क्योंकि यह भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सौन्दर्य का समुच्चय है। अतः स्वस्थ एवं स्वच्छ पर्यावरण न केवल जीवन, बल्कि उसके विकास में अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु वर्तमान यांत्रिकी युग में प्रदूषण की समस्या समस्त विश्व के लिए एक कड़ी चुनौती

है। वृक्षों और जंगलों की कटाई, कृषि के आधुनिकतम वैज्ञानिक उपाय, ऊर्जा, आवास निर्माण, ओद्यौगीकरण, मशीनीकरण आदि पर्यावरण प्रदूषण के प्रमुख कारण है। पर्यावरण प्रदूषण पर नियन्त्रण एवं निवारण का दायित्व केन्द्र एवं राज्य या उनके द्वारा गठित अभिकरणों पर है। यद्यपि उन्होंने अपनी नीतियों, कानूनों एवं जन समाज में जन जागरण के माध्यम से इसके अनेक उपाय किए हैं, किन्तु कार्यरूप में पूरी सफलता नहीं मिली है। अतः सरकार की उदासीनता एवं निष्क्रियता के कारण फैलते हुए पर्यावरण प्रदूषण को अनेक जनहित वादों के माध्यम से बड़े स्तर पर रोककर समाज को स्वच्छ वातावरण देने का कार्य किया है। अनुच्छेद 21 का व्यापक निर्वचन, जिसके अन्तर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार का विस्तार करते हुए स्वस्थ एवं स्वच्छ वातावरण में जीने के अधिकार को सम्मिलित करते हुए उच्चतर न्यायपालिका ने न्यायिक उपचारों के तहत अनेक क्षेत्रों में पर्यावरण प्रदूषण को रोकने की कार्यवाही की जो आज भी चर्चा का विषय है। इस सम्बन्ध में **देहरादून खनन मामला, एम. सी. मेहता द्वारा दायर अनेक जनहित याचिकाएँ, ओल्गातेलिस का मामला, वनवासी सेवा आश्रम, यूनियन कार्बाइड, ताजमहल संरक्षण, श्रीराम गैस रिसाव, चर्मशोधनशाला से सम्बन्धित याचिकाएँ, सी. एन. जी. गैस से सम्बन्धित मामला** एवं वर्तमान में आये दिन होने वाली जनहित याचिकाओं के माध्यम से पर्यावरण सरंक्षण में सर्वोच्च एवं विभिन्न उच्च न्यायालय अपना महत्वपूर्ण योगदान देकर न्यायिक सक्रियता का परिचय दे रहें हैं। इस सम्बन्ध में **पर्यावरणविद् एम. सी. मेहता** का योगदान कम सराहनीय नहीं हैं, जिन्होंने अनेक जनहित याचिकाओं के माध्यम से पर्यावरण सरंक्षण में महती भूमिका निभाई है। वे निश्चित ही भारतीय जनता द्वारा धन्यवाद के पात्र है।

जनमत की न्यायपालिका की न्यायिक सक्रियता के बारे में प्रतिक्रिया जानने के लिए जनता के अलग–अलग वर्गो (A) जननेता (B) अधिकारी वर्ग (C) आम–जनता की प्रतिक्रिया और मत बहुत महत्त्व रखते हैं। इसी से हमें

पता लगेगा कि भारत में न्यायपालिका की राजनीतिक विकास को गति देने में सकारात्मक भूमिका रही है या नकारात्मक!

भारतीय संदर्भ में:-

(अ) जननेताओं की न्यायिक सक्रियता के बारे में मत:-

(इस वर्ग में ये है–जनप्रतिनिधि– जननेता, सांसद, विधायक, मंत्री, प्रधानमंत्री इत्यादि) जन–प्रतिनिधियों और न्यायिक सक्रियता इस पर जननेताओं ने न्यायापालिका के निर्णयों का तो सम्मान किया है परन्तु इसके अनुचित हस्तक्षेप की निंदा भी की है।

(1) सांसद और न्यायिक सक्रियता:-

जून 2005 में सांसद और 'पीपुल्स फॉर एनीमल' की प्रमुख श्रीमती मेनका गांधी ने नवाब पटोंदी (पूर्व क्रिकेटर) पर काले हिरण को मारने का आरोप लगने पर कहा कि ''शिकार रोकने वाले कानून में खामी नहीं है। असली समस्या है, स्थानीय पुलिस और शिकार करने वालों का राजनीतिक गठजोड़।'' राजस्थान वाले मामले में भी सलमान खान और सैफअली खान दोनों काले हिरण के शिकार करने के आरोपी हैं। मेनका गांधी ने पर्यावरण के क्षेत्र मे न्यायपालिका के काम को सराहा और न्यायिक सक्रियता को भ्रष्टाचार–निवारण के क्षेत्र मे सकारात्मक पहल करने वाली बताया।

(2) न्यायपालिका में नियुक्तियां और सांसद:-

भारत में न्यायिक सुधारों की माँग पुरानी बात हो गई है। एस. नरीमन ने जून 2005 में कहा था कि ''चापलूसी नहीं करने वालें जजों की उपेक्षा होती है। इस समग्रता ने भारतीय न्यायपालिका की विश्वसनीयता को प्रभावित किया हैं।'' **नरीमन ने** कहा कि ''जजों के चयन की कॉलेजियम प्रणाली से पक्षपात, लामबन्दी और खेमेबन्दी को बढ़ावा मिलता है। इससे न्यायपालिका की गुणवता भी प्रभावित होती है। इस समस्या का हल तत्काल निकालने की आवश्यकता है। इसके लिए सबसे पहले तो 'जजों की नियुक्ति की मौजूदा प्रक्रिया में व दबाव की गुंजाइश तलाशनी चाहिए। न्यायिक प्रक्रिया में सुधार की जिम्मेदारी राजनेताओं को या बाहर

की किसी एजेंसी को नहीं दी जा सकती है। इसके लिए न्यायपालिका के अन्दर की शुरूआत करनी होगी।'

(3) सांसद सर्वोच्च न्यायालय और आरक्षण का मुद्दा:-

सुप्रीम कोर्ट की आपत्ति निजी शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण के सवाल पर दिये गये उसके फैसले पर सांसदों की टिप्पणी को लेकर है। सुप्रीम कोर्ट को लगा कि निजी शिक्षण संस्थानों में आरक्षण नहीं होना चाहिए, लेकिन हमें लगता है कि यह जरूरी है और आरक्षण का प्रावधान होना चाहिए। संविधान में इस बात की व्यवस्था है कि अनुसूचित जाति–जनजाति के लोगों को आरक्षण दिया जाये। अगर हम उन्हें अच्छी शिक्षा नहीं दे पाँएगें तो नौकरियों में आरक्षण किनके काम आएगा? हम देश के पिछड़ें, दलितों को उनका हिस्सा मिले, इसकी कोशिश तो हमें ही करनी है। सांसद वासुदेव आचार्य का यह वक्तव्य न्यायपालिका की सामाजिक क्षेत्र में सक्रियता दिखाने में पीछे हटने और न्यायिक अनुचित हस्तक्षेप की प्रवृति को इंगित करता है।

(ब) प्रधानमंत्री और न्यायिक सक्रियता के बारे में मत:-

अभी कुछ समय पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने न्यायपालिका के बारे में कहा था कि ''न्यायपालिका को अनावश्यक रूप से कार्यपालिका और विधायिका के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।''

(स) मंत्रीगण और न्यायिक सक्रियता के बारे में मत:-

जून 2005 में पूर्व केन्द्रीय मंत्री शांति भूषण ने इस बात की ओर ध्यान खींचा कि ''जो बेहतरीन वकील है, वे जज नहीं बनना चाहते है और जो अच्छे जज है, वे सारे सुप्रीम कोर्ट तक नहीं आ पाते।'' उपर्युक्त विवेचन न्यायपालिका की ईमानदारी और समर्पणशीलता से जुड़ा है।

(द) मंत्रीगण और न्यायिक सक्रियता के बारे में मत:-

कानून मंत्री हंसराज भारद्वाज ने न्यायपालिका के पक्ष में कहा है कि ''प्रभुत्व–पूर्ण और विपरित निर्णय देना न्यायिक सक्रियता नहीं है। न्यायिक

पुनरावलोकन संविधान की आत्मा है। केवल वही जो न्यायिक सक्रियता की अतिवदिता से परेशान हैं, न्यायालय के काम में बाधक हो सकते हैं।''

(B) अधिकारी वर्ग के न्यायिक सक्रियता के बारे में मत

(1) न्यायपालिका में भ्रष्टाचार के खतरे (मुद्दा):-

पंजाब पुलिस के पूर्व महानिदेशक के.पी.एस.गिल ने कहा कि ''न्यायपालिका में भ्रष्टाचार लोकतांत्रिक व्यवस्था के ध्वस्त होने का भय पैदा करने वाला है। लोकतन्त्र के दूसरे अंगों के मुकाबले इसका भ्रष्ट आचरण ज्यादा डरावना और घातक इसलिए है क्योंकि इसने खुद से एक दैवीय ताकत हासिल कर ली है। न्यायपालिका को चाहिए कि वह लोकतंत्र के दूसरे अंगों के अधिकारों को दबोचने की बजाए उनकी इज्जत करना सीखे। लालू यादव और मायावती के मामले में भी न्यायपालिका ने निरपेक्ष भूमिका नहीं निभाई है। उपर्युक्त विवेचन न्यायपालिका में भी भ्रष्टाचार को उजागर करता है और न्यायपालिका के अनुचित हस्तक्षेप तथा कभी–कभी राजनीतिक अपराधियों जो भ्रष्टाचार में लिप्त है, को भी संरक्षण देने में संबंधित हैं।

(2) कसौटी पर न्यायपालिका की शुचितता:-

डॉ. ज्ञानप्रकाश पिलानिया (पूर्व पुलिस महानिदेशक) का मानना है कि राष्ट्रीय न्यायिक आयोग का गठन करके न्यायपालिका को अधिक समक्ष बनाया जाना चाहिए। सुप्रीम कोर्ट के जस्टिस एम.बी.शाह और जस्टिस ए.आर. लक्ष्मण की बैच ने एक बार फिर न्यायपालिका की शुचिता को कसौटी पर कसने की आवश्यकता जताई है। पिलानिया के अनुसार, भारत में अभी लोकतंत्र के तीनो स्तम्भों में न्यायपालिका की विश्वसनीयता सबसे ज्यादा है, इसलिए देश के लोग उम्मीद करते है कि न्यायपालिका न सिर्फ देश की लोकतांत्रिक मर्यादाओं की रक्षा करेगी, बल्कि देश के नागरिकों के अधिकारों का बचाव भी करेगी और लोकतांत्रिक संस्थाओं के बीच बेहतर तालमेल को सुनिश्चित करेगी।

(3) कानूनी खामियों और सिस्टम की कमजोरी से बचते अपराधी:-

सी.एस.ई. के निर्देशक और बाघों पर बनी टास्कफोर्स की अध्यक्ष मेनका गांधी के अनुसार काले हिरण का ताजा मामला, जो सामने आया या इससे पहले

राजस्थान में सलमान खान और कुछ अन्य लोगों द्वारा शिकार का जो मामला चल रहा है उसमें दो बातें साफ तौर पर उभरकर सामने आती है। पहली बात तो यह कि ये मामले स्पष्ट तौर पर प्रशासन की विफलता का प्रमाण हैं। वन्य प्राणियों की सुरक्षा का इतना बड़ा तामझाम हैं, लेकिन वह शिकार रोक पाने में विफल है। वैसे देखने में यह भारत का कानून बहुत सख्त है, लेकिन हकीकत यह है कि ये कानून बहुत कमजोर और कई स्तरों पर इनमें खामियाँ है। लिहाजा कानून और व्यवस्था की इन खामियों का लाभ उठाकर शिकारी बच निकलते है। इसका दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है धनी लोगों द्वारा अपने शौक पूरे करने के लिए शिकार करना और पकड़े जाने पर अपनी धन–दौलत और प्रसिद्धि का इस्तेमाल करना। अतः कानून व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले को कड़ी से कड़ी सजा मिलनी चाहिए। यह स्थितिन्यायपालिका का वन्यजीवों के सरंक्षण कर पाने में कुछ विफलता दर्शाता है और अपराधियों पर पूरी तरह नियंत्रण नहीं कर पाने को दर्शाता है।

किसी भी समाज में सुख–शांति के दो प्रमुख मानदण्ड होते है। पहला–क्या नागरिकों को रोजी–रोटी सुलभ है? दूसरा–क्या व्यक्ति को न्याय सहजता से सुलभ है? रोजी–रोटी व अन्य बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराना, विधायिका और कार्यपालिका की जिम्मेदारी है। न्याय देना न्यायपालिका का काम है। इन दिनों 'न्यायिक सक्रियता' की चर्चा बार–बार होती है। लेकिन क्या वाकई न्यायपालिका सक्रिय है? हाँ, सक्रिय तो है मगर उसकी सारी सक्रियता मुख्यतः राजनीति मामलों से जुड़ी नजर आती है। चाहे उत्तरप्रदेश में राज्यपाल रमेश भण्डारी द्वारा जगदंबिका पाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाने का मामला रहा हो या झारखण्ड प्रकरण, उच्चतम न्यायालय ने बड़ी तेजी दिखाई। प्रश्न यह उठता है कि ऐसी ही तेजी गरीबो के मुकदमें निपटाने में क्यों नही दिखाई जाती? क्या इसलिए कि गरीब आदमी बेबस होता है? न्यायपालिका सिद्धान्त भले ही इस तरह के भेदभाव को मान्यता नहीं देती हो मगर व्यवहारतः देखने में यही आता है। देश की न्यायपालिका को संवैधानिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण दर्जा मिला हुआ है और उसको पूरा सम्मान भी दिया जाता है। लेकिन यह सम्मान औपचारिक है या वास्तविक, इसकी परख का वक्त आ गया है। न्यायधीशों एंव न्याय–प्रक्रिया से जुड़ें तबको को अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचना चाहिए कि वे कितना और कैसे न्याय कर रहे है?

(C) न्यायधीश वर्ग की न्यायिक सक्रियता के बारे में प्रतिक्रिया

(1) न्यायिक सक्रियता समय की माँगः-

उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश जी.बी. पटनायक ने न्यायिक सक्रियता को समय की माँग बताते हुए कहा कि ''न्यायपालिका संविधान की रक्षक है और देश में जो कुछ हो रहा है, उससे यह आंखे नहीं मूंद सकती।'' साथ ही पटनायक ने देश में चुनावी भ्रष्टाचार के बारे में कहा कि 'चुनाव आयोग के प्रयासों के बावजूद बूथों पर कब्जा तथा वोटों की खरीद जैसी गतिविधियाँ देश की राजनीति का अभिन्न हिस्सा बन गई। इसी के परिणामस्वरूप राजनीति का अपराधीकरण जगजाहिर है। उन्होंने कहा कि जो लोग अपने स्वार्थ के लिए सार्वजनिक हित की बलि चढ़ा रहे हैं उनसे देश को बचाना न्यायपालिका का संवैधानिक दायित्व है।'

(2) भारत के अतिरिक्त महाधिवक्ता के.के. वेणुगोपालः- ने कहा कि ''लाखों लोग आज भी गरीबी और अशिक्षा का अभिशाप भोग रहे है और राजनीति की यही सबसे बड़ी विफलता है। उन्होंने न्यायिक प्रक्रिया की जटिलताओं और दुरूहताओं की जानकारी देते हुए कहा कि सरलीकरण के बिना न्यायिक प्रक्रिया में सुधार नहीं हो सकता। वेणुगोपाल ने कहा कि देश के नागरिकों के मानवाधिकारों की रक्षा में उच्च न्यायालय व उच्चतम न्यायालय ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और तमाम आलोचनाओं के बावजूद जनहित याचिकाएँ उपयोगी है और उनको बरकरार रखना चाहिए।''

(3) राजस्थान उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश शिवराज पाटिल- ने कहा कि ''न्यायिक प्रक्रिया स्वागत योग्य है, लेकिन विधि के सिद्धान्तों को तिलांजली नहीं दी जानी चाहिए। न्यायिक सक्रियता भी विधि के ठोस सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। न्यायिक सक्रियता न्यायपालिका की निरंकुशवाद में भी नहीं बदलनी चाहिए।

(4) लोकतंत्र की मजबूती के लिए न्यायिक सक्रियता जरूरी- देश के तत्कालीन प्रधान न्यायाधीश डॉ. ए.एस. आनन्द ने जनकल्याण से जुड़े मुद्दों पर न्यायपालिका की सक्रियता पर अंगुली उठाने वालों को आड़े हाथों लेते हुए कहा कि 'न्यायपालिका संविधान के दायरे में रहकर जो काम कर रही है,

इससे न सिर्फ लोकतंत्र मजबूत हुआ है, बल्कि आम लोगों में विधि के राज के प्रति विश्वास भी प्रगाढ़ हुआ है।

न्यायाधीश आनन्द ने मानवाधिकारों की रक्षा में सहायक जनहित याचिकाओं के उद्‌भव और इनकी मदद से हुई मानवाधिकारों की रक्षा की विस्तार से विवेचना की और कहा कि 'देश के कमजोर तबकों के लिए गरीबी, अशिक्षा और उपेक्षा के कारण संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकार बेमानी साबित हो रहे है। कमजोर वर्ग के लोगों की पहुँच को ध्यान में रख कर शुरू की गई जनहित याचिका प्रक्रिया की बदौलत न्याय से वंचित लोगों को मानवाधिकारों को सुरक्षित रखने का अवसर प्राप्त हो सका हैं।'

उन्होंने कहा कि न्यायिक सक्रियता ने कभी भी अनियंत्रित प्रक्षेपास्त्र की तरह काम नहीं किया। अदालतों में अपने दायरे में रहकर ही काम किया है। उन्होंने कहा कि फिर भी यह ध्यान रखना जरूरी है, कि न्यायिक सक्रियता कहीं 'न्यायिक साहसिकता' नहीं बन जाये। इनमें न्यायालयों को न्यायपालिका के प्रति जनविश्वास को भी ध्यान में रखना होगा।

(5) सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायामूर्ति कुलदीप सिंह ने– कहा कि 'न्यायाधीशों की मानसिकता और सोच का भी प्रभाव मुकदमों पर पड़ता है, जिससे न्याय तन्त्र का विश्वसनीयता और क्रियाशीलता में गड़बढ़ होती रहती है।'

(6) पूर्व मुख्य न्यायाधीश (सर्वोच्च न्यायालय) वेंकटारमैया – ने भी न्यायाधीशों में जवाबदेही की आवश्यकता बताते हुए सुप्रीम कोर्ट बार एसोसियेशन में भाषण के दौरान कहा कि 'जजों को सार्वजनिक व्यवहार में सचेत रहना चाहिए ताकि उनकी छवि कलंकित न हो।'

(7) पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति जगदीश शरण शर्मा– ने न्यायाधीशों को सावधान किया कि लोगों को कानून का पालन करने की हिदायत देने के साथ उन्हें स्वयं भी दायरे में रहना चाहिए।

(8) भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ए.एच. अहमदी ने कहा कि– भारतीय न्यायालय भ्रष्टाचार की गिरफ्त में हैं। उन्होंने कहा कि भारत में जनहित याचिकाओं द्वारा आम–आदमी को भ्रष्टाचार से मुक्ति मिली है।

(9) चैन्नई में पत्रकारिता के एशियन कॉलेज के 2008 के बैच को प्रथम दिन संबोधित करते हुए मद्रास उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ए.पी. शाह ने कहा कि 'प्रेस और न्यायपालिका दोनों का स्वतंत्र रहना लोकतांत्रिक मूल्यों को संरक्षित करने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। न्यायपालिका और प्रेस में विवाद कभी भी नहीं होने चाहिए।'

उपरोक्त वक्तव्य यह सिद्ध करता है कि न्यायपालिका जब स्वाधीन होगी तभी लोकतंत्र में वह नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर पायेगी और जनमत का सम्मान भी प्राप्त कर पायेगी।

(10) वकील वर्ग और न्यायिक सक्रियता के बारे में मतः स्थानीय वकीलों ने जयपुर (राजस्थान की राजधानी) में विधायिका और न्यायपालिका के बीच विवाद छेड़ दिया। उच्च न्यायालय बार एसोसिएशन के सदस्यों ने काले बैज लगाकर विरोध प्रदर्शन किया। वहीं दूसरे वकीलों ने विधायकों द्वारा न्यायालय का अपमान करने के विरोध में याचिकाएँ और जनहित याचिकाएँ दायर की। इन विधायकों ने विधानसभा में 'न्यायपालिका' के बारें में अपमानजनक वक्तव्य दिया था। विधानसभा में एक वाद–विवाद के दौरान दर्जनभर विधायकों ने अपनी सीमाएँ लांघकर न्यायपालिका के द्वारा विधायीन–कार्य में हस्तक्षेप करने की आलोचना की और कहा कि न्यायपालिका अपनी शक्तियाँ बढ़ा रही है।

इस शोध के माध्यम से सर्वप्रथम यह पाया कि वास्तव में जनहित याचिका क्या है? तदपुरान्त इस तथ्य के प्रति शोध किया गया कि उच्च न्यायालय द्वारा जनहित के सम्बन्ध में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा किस प्रकार से की गई तथा व्यवस्थागत सुधार, मानव गरिमा, आर्थिक व सामाजिक सुधार तथा पर्यावरण संरक्षण की दिशा में जो न्यायिक सक्रियता अमल में लाई गई, उसके क्या परिणाम रहे?

शोध के दौरान पाया गया कि लोकहित वाद को समझने हेतु माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा **स्टेट ऑफ उत्तरांचल बनाम बलवंत सिंह चौफल एवं अन्य** में पारित निर्णय एक ऐतिहासिक निर्णय के रूप में देखा जाता है। जिसमें लोकहित वाद को परिभाषित करते हुए इसके प्रारम्भ, इसके फायदे व इसके दुरूपयोग तक को विस्तार से समझाया गया है। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने जो गाईड

लाईन दी है उसके अन्तर्गत– ब्लैक्स की लॉ डिक्शनरी के छठे एडिशन के अनुसार :

"Public Interest - Something in which the public, the community at large, has some pecuniary interest, or some interest by which their legal rights or liabilities are affected. It does not mean anything so narrow as mere curisotiy, or as the interests of the particular localities, which may be affected by the matters in queshtion.

Interest shared by citizens generally in affairs of local, state or national government..."

इस प्रकार से Advanced Law Section में लोक हित वाद को इस प्रकार परिभाषित किया गया हैः–

"The expression 'PIL' means a legal action initiated in a Court of low for the enforcement of public interest or general interest in which the public or a class of the community has pecuniary interest or some interest by which their legal rights or liabilities are affected."

इस प्रकार उक्त दो परिभाषाओं के प्रकाश में जो तथ्य किसी जनहित या जनहित याचिका में होने चाहिए, उसके अनुसार जहाँ कहीं किसी मामले में जनता या समाज के एक बड़े तबके का हित जुड़ा हुआ हो और उनके कानूनी अधिकार या दायित्व प्रभावित होते हों, वह जनहित है। इसका अर्थ संकीर्ण अर्थों में नहीं लिया जाना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमेरिका की एक रिपोर्ट जो जनहित कानूनों के सम्बन्ध में 1976 में प्रकाशित हुए उसमें जनहित कानून को इस प्रकार बताया गया किः "Public Interest Law is the name the has recently been given to efforts provide legal representation to previously unrepresented groups and interests. Such efforts have been undertaken in the recognition that ordinary market place for legal services fails to provide such services to significant segments of the population and to significant interests. Such groups and interests include the proper environmentalists, consumers, racial and ethnic minorities and others." (M/s Holicow Pictures Pvt. Ltd. v. Prem Chandra Mishra & Ors. - AIR 2008 SC 913, para 19).

माननीय उच्चतम न्यायालय ने भी अपने न्यायिक विनिश्चय–'पी.यू.डी. आर. व अन्य बनाम भारत संघ' व अन्य (1982)3 SCC 235 में यह अभिनिर्धारित किया कि "Public interest litigation is a cooperative or collaborative effort by the petitioner, the State of public authority and the judiciary to secure observance of constitutional or basic human rights, benefits and privileges upon poor, downtrodden and vulnerable sections of the society".

उक्त न्यायिक विनिश्चय में माना गया कि लोक हित याचिकाएँ सुप्रीम कोर्ट व हाईकोर्ट के विशेष न्यायक्षेत्र के अन्तर्गत मानी जाती है। इन याचिकाओं के माध्यम से न्यायालयों ने कुछ ऐसे दिशा–निर्देश जारी किए हैं, जिनसे देश में सकारात्मक बदलाव आये हैं। ऐसे आदेशों के माध्यम से ईकोलॉजी के संरक्षण एवं संवर्धन में, पर्यावरण के क्षेत्र में, वनक्षेत्र के मामलों, जंगली जानवरों के संरक्षण एवं मानवीय मूल्यों में सहायता मिली है। इसके अलावा उक्त याचिकाओं में किए गये निर्णयों से जनता को सरकार के काम में पारदर्शिता भी उभरी, जो न्यायिक सक्रियता का उभरता स्वरूप प्रस्तुत करती है।

जनहितवाद परम्परागत न्याय प्रणाली का पूर्णतः विकल्प नहीं:-

यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि विभिन्न क्षेत्रों में जनहित याचिकाओं के माध्यम से न्यायिक सक्रियता केवल सर्वोच्च न्यायालय को उपचारात्मक अधिकारिता के अन्तर्गत अनुच्छेद 32 में तथा अनुच्छेद 226 में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों को मौलिक एवं विधिक अधिकारों के प्रवर्तन में प्राप्त हैं। इसके अलावा विधायिका द्वारा निर्मित विधि की संवैधानिकता की जाँच भी न्यायपालिका अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के अधीन कर सकती है। न्याय की यह तकनीकी रहित सरल एवं उदार प्रक्रिया अन्य जिला एवं अधीनस्थ न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का विषय नहीं है, वे केवल परम्परागत न्याय प्रणाली में सुने जाने के अधिकार के नियम का ही पालन करने के लिए बाध्य हैं। उच्चतर न्यायालय भी इस परम्परागत न्याय प्रणाली के अन्तर्गत ही सुने जाने के अधिकार के नियम का पालन कर रहें है। जहाँ कोई भी पीड़ित व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रवर्तन के लिए मुकदमा दायर करता है। अतः आज भी परम्परागत न्याय प्रणाली सर्वोच्च न्यायालय से लेकर अधीनस्थ न्यायालयों तक ज्यों की त्यों विद्यमान है।

जनहित न्याय की नई व्यवस्था परम्परागत न्याय व्यवस्था का कोई पूर्णतः विकल्प नहीं है, बल्कि यह नई व्यवस्था सर्वोच्च न्यायपालिका की अतिरिक्त व्यवस्था है, जिसके द्वारा देश के लाखों–करोड़ो व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में सविधान के दायरे में रहते हुए उनके मौलिक अधिकारों का प्रवर्तन किए जाने में अपनाई जा रही है।

अतः मेरे विचार में जनहित मामलों की उक्त न्याय संकल्पना जिसके माध्यम से न्यायिक सक्रियता का दायरा बढ़ा है, आज भी निर्विवाद और पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई है। यह व्यवस्था न तो परम्परागत न्याय व्यवस्था का पूर्णतः विकल्प है और न ही उस व्यवस्था का शिथिलीकरण। यह व्यवस्था तो सामाजिक न्याय की संकल्पना है।

जनहित मामलों की सीमाएँ एवं मतभेदः-

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में सरकार के तीनों अंगों के मध्य शक्तिकरण के साथ ही आपस में संतुलन एवं सामंजस्य होना लोकतंत्र का आवश्यक पहलू है। अतः न्यायिक सक्रियता पर न केवल राजनीतिज्ञों, विधिवेत्ताओं एवं शिक्षाविदों में मतभेद है, वरन् न्यायविद् भी इस बिन्दू पर एकमत नहीं है। राजनेता शिकायत करते है कि न्यायपालिका की अत्यधिक न्यायिक सक्रियता के कारण संसदीय लोकतंत्र को खतरा पैदा हो गया है। हाल ही में (30 जनवरी 2008) अपने विचार व्यक्त करते हुए लोकसभाध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने कहा कि ''यद्यपि न्यायपालिका को विधायिका द्वारा निर्मित विधि की संवैधानिकता पर न्यायिक समीक्षा एवं कार्यपालिका के किसी आदेश पर जाँच का अधिकार है, किन्तु वह उस पर कार्यवाही नहीं कर सकती। विधायिका जनता के प्रति जवाबदेह है। न्यायपालिका की लोगों के प्रति कोई जवाबदेही नहीं है। उन्होंने कहा कि न्यायिक सक्रियता पर नियन्त्रण के लिए देश को और सतर्क न्यायाधीशों की आवश्यकता है।

विधिवेता एवं राजनेता अरूण जेटली ने हाल ही में 04 जनवरी 2008 को अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि 'विधायिका द्वारा बनाये गये कानून समेत कार्यपालिका के कामकाज की शैली पर कानून की व्याख्या और समीक्षा करने के साथ–साथ न्यायपालिका को पूरा अधिकार है कि वह यह देखे कि सम्बन्धित कानून संविधान की कसौटी पर खरा उतरा भी है या नहीं? जनहित याचिका जिस पर

आजकल काफी शोरगुल हो रहा है, कुछ लोग मानते हैं कि जनहित मामलों के माध्यम से न्यायपालिका विधायिका और कार्यपालिका का काम करने लगी है। इस बात में पूर्ण सच्चाई नहीं हैं। अगर कोई व्यक्ति न्यायपालिका के सामने जाकर कहता है कि कानून का पालन नहीं हो रहा, तो न्यायपालिका शासन तंत्र को अपने हाथ में नहीं ले सकती, लेकिन न्यायपालिका यह आदेश दे सकती है कि इस प्रकार से कानून का पालन करो। पी.आई.एल. के तहत Inforcement of Law हो सकता है, Judge made Law नहीं होना चाहिए।

न्यायिक सक्रियता द्वारा जनहित मामलों को स्वीकार करने एंव सामूहिक हित में निर्णय देने के विचार पर न्यायाधीश भी एकमत नहीं है। वर्तमान में भी इनके मध्य मतभेदों की चर्चा होती रही है। कुछ दिनों पूर्व ही **(16 फरवरी 2008) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश जी.एस. सिंधवी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि** न्यायिक समीक्षा के लिए अदालतों की कोई हदबंदी नहीं है, जहाँ जरूरत हो, वहाँ न्यायपालिका को दखल करना चाहिए। साथ ही कहा कि आम आदमी मौजूदा व्यवस्था से कुंठित है। न्यायपालिका के दखल पर सवाल उठाने वालों पर प्रहार करते हुए कहा कि 'अस्सी फीसदी लोगों की आय बीस रूपये से कम है, लड़कियाँ बेची जा रही हैं, नब्बे फीसदी लोगों को दूषित जल व हवा तथा मिलावटी वस्तुऐं खाने को मिल रही हैं, क्या इन मामलों पर भी न्यायपालिका दखल नहीं करे? न्यायपालिका विफल रही तो उसे नागरिक माफ नहीं करेंगे। माननीय न्यायाधीश ने यह भी कहा कि न्यायपालिका 0.01 फीसदी लोगों के लिए काम कर रही है तथा अदालतें सिर्फ उनके लिए ही रह गई हैं, जिनके पास संसाधन व ज्ञान है।

न्यायिक सक्रियता पर न्यायविदों के मध्य मतभेद जनहित मामलों की सुनवाई के दौरान आते रहें है। कुछ न्यायाधीश सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों की इस न्यायिक सक्रियता से सहमत नहीं है। वे कहते हैं कि न्यायिक सक्रियता की सीमाएँ होनी चाहिए तथा प्रत्येक मामले को इसके अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। कार्यपालिका एवं विधायिका के क्षेत्र में दखलअंदाजी करना उचित नही है।

अभी हाल ही में **जस्टिस काटजू एवं जस्टिस ए.के. माथुर ने शक्ति पृथक्करण की वकालत करते हुए कहा कि** ''संविधान में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को ध्यान में रखा जाना चाहिए। अतः राज्य सरकार के कार्या में

दखलअंदाजी नहीं करनी चाहिए।'' कुछ समय पूर्व ही दिल्ली उच्च न्यायालय ने जनहित याचिकाओं की सुनवाई से भी इंकार कर दिया।

अतः मेरे विचार में यह तो उचित प्रतीत होता है कि उच्चतर न्यायपालिका को न्यायिक सक्रियता के द्वारा जनहित मामलों की अधिकारिता एक स्थापित विधि नहीं हैं, बल्कि यह विशेष विचारधारा रखने वाले न्यायााधीशों की न्याय की संकल्पना या अवधारणा है। जिसके अन्तर्गत उनका उद्देश्य भारत की वर्तमान परिस्थितियों में लाखों–करोड़ों लोगों को विभिन्न क्षेत्रों में सामूहिक न्याय प्रदान करके उनके मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित कराना है।

पर हाल ही के कुछ निर्णयों ने न्यायिक सक्रियता मसले पर कुछ सवाल भी खड़े किये है। वैसे न्यायिक सक्रियता के कई सुखद परिणाम सामने आए हैं, किन्तु न्यायापालिका को त्वरित न्याय दिलाने में भी सक्रियता दिखानी चाहिए, अन्यथा उसकी सक्रियता पूरी तरह सार्थक नहीं हो पाएगी। पूर्व सी.वी.सी. पी.जे. थॉमस के मामले में अदालत ने उनकी व्यक्तिगत ईमानदारी पर नहीं, प्रक्रिया के उल्लंघन पर सवाल उठाया। थॉमस के खिलाफ आरोप करीब 20 वर्ष पुराना है। अगर कोई व्यक्ति किसी मामले में आरोपित होता है तो क्या न्यायापालिका को यह सुनिश्चित नहीं करना चाहिए कि मामले का जल्द निष्पादन हो। महाराष्ट्र के तत्कालील मुख्यमंत्री स्वर्गीय विलासराव देशमुख द्वारा एक आपराधिक मामले में पुलिस पर दबाव डालकर जाँच प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए अदालत ने राज्य सरकार पर 10 लाख रू. का जुर्माना किया।

वैसे भारत जैसे लोकतंत्र में न्यायिक सक्रियता पर सवाल उठना वाजिब है। सवाल उठने लगा है कि कहीं यह विधायिका या कार्यपालिका की शक्तियों का अतिक्रमण तो नहीं है? आखिर न्यायालय को विधायिका या कार्यपालिका के कार्यों में दखल क्यों देनी पड़ती हैं? आम धारणा है कि जब न्यायपालिका जन सवालों को लेकर जनहित याचिका के माध्यम से सशक्त हस्तक्षेप करने लगे तो यह समझ लेना चाहिए कि विधायिका और कार्यपालिका कमजोर हो चुकी है या अपना काम ठीक से नहीं कर रही है, **नोट के बदले वोट मामले, सी.वी.सी. की नियुक्ति को रद्द करने, लाखों टन खाद्यान्न के भंडारागारों के बाहर सड़ने व काले धन के सवाल पर** अदालत का सशक्त हस्तक्षेप इस कमजोरी को उजागर करने के लिए पर्याप्त है।

2जी स्पेक्ट्रम, आदर्श सोसायटी घोटाला तथा राष्ट्रमंडल खेल घोटाले भी न्यायिक सक्रियता से उजागर हुए हैं। इसी सक्रियता की वजह से बड़े व ताकतवर राजनेताओं, नौकरशाहों और बड़े रसूखदारों को सलाखों के पीछे जाना पड़ा है। इन मुद्दों पर सरकार से पहल की अपेक्षा की जाती थी, तथाकथित गठबंधन की मजबूरी या सत्ता लोभ के कारण सरकार ऐसा करने में नाकाम रही है। इस कारण न्यायालय को दखल देना पड़ा और आज उसकी निगरानी में इन मामलों की जाँच चल रही है। नतीजतन लोगों का अपनी चुनी हुयी सरकार से ज्यादा न्यायालय पर भरोसा बढ़ गया है और यह भी धारणा बन रही है कि कार्यपालिका के कमजोर होने से न्यायपालिका को उसका भी काम करना पड़ रहा है।

हालांकि सर्वोच्च न्यायालय ने **मध्य प्रदेश** और **गुजरात** के दो फैसलों को पलटकर ऐसी चर्चाओं पर विराम लगाने की कोशिश की है। निर्णय में सें न्यायपालिका, विधायिका, कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र को पुनः परिभाषित किया गया है। कोर्ट ने कहा है कि न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका की शक्तियों का अतिक्रमण नहीं कर सकती क्योंकि वह राज्य के अंगों के बीच शक्तियों के बंटवारे के संवैधानिक नियमों का उल्लंघन होगा। पीठ ने कहा कि संविधान में शक्तियों का स्पष्ट बंटवारा हैं। इसी के मद्देनजर उसने पूर्व सैनिकों की शिकायतें सुनने के लिए आयोग गठन के आदेश को वापस ले लिया। इससे यह तो नहीं माना जा सकता कि विधायिका–कार्यपालिका, न्यायपालिका को दायित्वबोध नहीं है लेकिन जब विधायिका व कार्यपालिका अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले जन सवालों को ठीक से हल करती नहीं दिखती तो न्यायपालिका सशक्त हस्तक्षेप करती है। ऐसे में सरकारों को अपने अधिकारों, कर्त्तव्यों के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए। उसे ऐसा कोई मौका नहीं देना चाहिए कि न्यायालय उसके अधिकार क्षेत्र में घुसपैठ करें। दोनों अपनी सीमाओं में रहकर संविधान प्रदत्त कार्य–अधिकारों का निर्वहन करें तो कोई टकराव नहीं हो सकता।

रिक्तता भरने का सिद्धांतः–

भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे.एस. वर्मा ने रिक्तता भरने का सिद्धांत दोहराया कि यदि विधायिका अपना काम न करें, तो कार्यपालिका को उस रिक्तता

या शून्य को भरना चाहिए क्योंकि इसका कार्यक्षेत्र विधायिका के साथ मिलता है और जहाँ कार्यपालिका भी किसी कारणवश काम न करे, वहाँ न्यायपालिका को संविधान के अनुच्छेद 32 और 142 के अंतर्गत अपने दायित्यों का निर्वाह करने के लिए शिरकत करनी पड़ेगी, जब तक कि विधायिका कानून बनाकर उसे पूरा न करे। अदालत के इन निर्देशों का अनुपालन नहीं हुआ, किन्तु इसके अदालत ने सरकार के विरूद्ध अवमानना की कार्यवाही शुरू नहीं की। **प्रकाश पी. हिंदुजा वाद में वर्ष 2003 में** सुप्रीम कोर्ट ने निर्णय दिया कि विधायिका द्वारा बनाए गए कानून को लागू कराने के लिए कोई कानून जारी नहीं किया जा सकता। इसलिए, सीवीसी को कानूनी दर्जा दिये जाने के बारे में दिए गए निर्देश को ऐसा नहीं माना जा सकता, जिसका अनुपालन न किए जाने को अवमानना माना जाए। इस तरह अदालत ने अपनी परिधि से बाहर जाने की बात परोक्ष रूप से स्वीकार कर ली, किन्तु इससे विनीत नारायण मामले में दिए गए उसके निर्देशों का मजाक बना। इससे वैसे अदालती आदेशों का अनुपालन न किए जाने की गुंजाइश खुलती है, जो कार्यपालिका की दृष्टि में न्यायपालिका के कार्यक्षेत्र से बाहर है।

यहाँ संविधान के लागू होते ही निर्वाचित सांसद यह मानने लगे कि देश की तकदीर को गढ़ने का जनादेश उन्हें ही प्राप्त हुआ है, लेकिन न्यायपालिका का भी स्पष्ट पक्ष था कि उसकी स्वाधीनता के साथ सरकार या विधायिका को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। **28 फरवरी, 1950 को सुप्रीम कोर्ट के उद्घाटन के अवसर पर मुख्य न्यायाधीश हीरालाल कानिया ने अपना** रूख स्पष्ट कर दिया था कि न्यायपालिका को स्पर्श करने की कोशिश कोई न करें। संविधान के प्रथम संशोधन के साथ ही नवीं अनुसूची का जन्म हुआ, जिसमें डाले गए कानूनों की न्यायिक समीक्षा नहीं की जा सकती थी। सुप्रीम कोर्ट ने हाल में इसे भी निरस्त कर दिया।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू न्यायापालिका की स्वतंत्रता में पूरा विश्वास रखते थे, फिर भी उन्होंने 19 मई 1951 को संसद में कहा था कि ''बड़ी योजनाओं और बड़े सामाजिक परिवर्तनों में न्यायपालिका की कोई भूमिका नहीं है।'' **गोलकनाथ मामले में** जब सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती, तो उस समय इसे न्यायिक

सक्रियता का सबसे बड़ा उदाहरण माना गया था। संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के सांसद नाथ पई ने संसद के अधिकार को बहाल करने के लिए एक प्राइवेट मेम्बर बिल पेश किया। इसका जोरदार विरोध उसी पार्टी के सदस्यों राम मनोहर लोहिया और मधु लिमये ने किया। बाद में **1973 में केशवानंद भारती मामले में** संविधान के मौलिक ढांचे में संशोधन न करने की व्यवस्था देकर सुप्रीम कोर्ट ने संसद की शक्ति को हमेशा के लिए सीमित कर दिया।

जनहित याचिका का दुरूपयोग:

वर्ष 2008 में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने जनहित याचिका के दुरूपयोग के प्रति चिंता जाहिर की थी। इस महीने उच्चतम न्यायालय ने अपने आदेश में निजी हित साधने के लिए जनहित याचिकाओं के गलत इस्तेमाल पर एक बार फिर खेद जताया। 'पी.आर. नरहरि राव बनाम केरल राज्य' मामले में फैसला सुनाते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा, यह याचिका उन कई मामलों का प्रतिनिधित्व करती है, जो देश भर की अदालतों में दायर किए गए हैं और बिना किसी वास्तविक प्रामाणिकता के बावजूद अदालतों का कीमती वक्त बर्बाद कर रहे हैं। यह तथ्य है कि केरल उच्च न्यायालय ने 56 पृष्ठों की शीट को रिकोर्ड करने में काकी समय दिया। यह भी तथ्य है कि एक दीवानी व निजी याचिका को जनहित याचिका का रूप देने के ऐसे मामलों से अदालतों पर फिजूल का बोझ पड़ता है और इससे उस कीमती समय की बरबादी होती है, जो सुनवाई की तारीख मिलने की उम्मीद में कई साल से इंतजार कर रहे मामलों को दिया जा सकता है। यह मामला एक तीन सितारा होटल के निर्माण के दौरान एक प्लॉट की चारदीवारी को हुए नुकसान के बारे में दायर किया गया था। दीवानी अदालत ने इस मामले की जाँच के लिए एक आयुक्त की नियुक्ति की। लेकिन आयुक्त की रिपोर्ट से प्लॉट मालिक को संतुष्टि नहीं हुई। इसके बाद उसने अपनी शिकायत को जनहित याचिका का रूप देते हुए उच्च न्यायालय में भवन निर्माण के नियमों को चुनौती दी।

मामले के तथ्य जाहिर करते हुए अदालत ने अपने फैसले में कहा कि जिस व्यक्ति ने यह याचिका दायर की है, उसे किसी भी कल्पना के तहत ऐसा व्यक्ति नहीं माना जा सकता है, जो जनहित में ऐसा कर रहा है। यह पूरी तरह से एक

निजी हित याचिका है, जिसे जनहित याचिका का रूप देने की कोशिश की गई है। जनता के लिए अपना गुस्सा जाहिर करने का एक महत्वपूर्ण हथियार बन चुके जनहित याचिका अभियान की शुरूआत करीब तीन दशक पहले न्यायाधीशों की पहल पर ही हुई थी। शुरूआती आशंकाओं और अधिकार प्राप्त तबके का कड़ा विरोध झेलने के बावजूद इस अभियान ने तेजी से मजबूती हासिल की और यह भ्रष्ट व गैर–जिम्मेदार लोगों में डर पैदा करने में कामयाब रहा है।

वैसे देखा जाये तो अदालतों के कई फैसलों में जनहित याचिकाओं के प्रति अपने सकारात्मक रवैये को न्यायसंगत साबित करना पड़ा है। वर्ष 1982 में 'एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ' मामले में एक संवैधानिक पीठ ने कहा, ''आज न्यायिक प्रक्रिया में एक आंदोलन आ रहा है, कानून के थिएटर में काफी तेजी से बदलाव हो रहा है और गरीबों की समस्याएं अदालतों के सामने आ रही हैं। अदालतों को नई प्रक्रियाएं ईजाद करनी होंगी और नई रणनीति बनानी होगी, जिससे बड़े पैमाने पर उस तबके की पहुंच न्याय तक सुनिश्चित की जाए, जिसे अभी तक बुनियादी मानवाधिकारों से वंचित रखा गया है और जिसके लिए स्वतंत्रता व आजादी के कोई मायने नहीं है।'' न्यायालय ने जोर देते हुए कहा कि ऐसा करने का महज एक ही रास्ता है और वह है आम जनता के लिए अदालतों के दरवाजे खोलना।

हालांकि कई बार जनहित याचिका अभियान ने एक बेलगाम घोड़े की तरह व्यवहार किया है। सुविधाओं से वंचित और आवाज उठाने में असमर्थ लोगों को न्याय दिलाने के लिए दी गई इस सुविधा का इस्तेमाल अक्सर ही स्वार्थी और छद्म याची ज्यादा करते हैं। एक समय तो उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश कृष्णा अय्यर ने पाया कि न्यायाधीश भी अपने हित साधने के लिए जनहित याचिकाओं का इस्तेमाल करते हैं, 'जहाँ कई कार्य, ज्यादा फर्नीचर, अतिरिक्त सुविधाओं के लिए ऐसा किया गया था।' **ब्रिटिश न्यायाधीश लॉर्ड डेर्निंग के शब्दों में इसका समाधान है, 'अगर घोड़े की पीठ पर कोई कुशल सवार बैठा हो, तो वह कितने भी उद्दण्ड घोड़े को काबू में कर सकता है। घोड़ा सभी कठिनाइयों को पार सकता है। अच्छे घुड़सवार के हाथ में लगाम होने पर घोड़ा काल्पनिक बातों द्वारा बनाए गए घेरे को तोड़कर न्याय के पक्ष में खड़ा हो सकता है।'**

न्यायालय समय–समय पर कई मामलों में इस तरह के न्यायिक कदम उठाते रहे हैं। न्यायालयों के समक्ष ओछे और संताप करने योग्य जनहित याचिकाएँ दायर करने वालों को उच्चतम न्यायालय ने 'स्वार्थी, किसी अन्य के मामले में हस्तक्षेप करने वाला, अकारण हस्तक्षेप करने वाला' करार दिया है। कुछ लोग तो मीडिया में सुर्खियों में आने के लिए जनहित याचिकाओं का सहारा लेते हैं। इसलिए अदालतों ने ऐसे याचिकाओं पर जुर्माना लगाना शुरू कर दिया है। **दत्ताराज नाथूजी बनाम महाराष्ट्र राज्य मामले में** उच्चतम न्यायालय ने अदालत के गलत इस्तेमाल पर बेहद नाराजगी जाहिर करते हुए कहा था, कि '**जनहित याचिका एक हथियार है और इसका इस्तेमाल काफी जिम्मेदारी और समझदारी से किया जाना चाहिए।**' न्यायपालिका को भी बेहद जिम्मेदारी से यह जाँचना चाहिए कि जनहित की आड़ में कहीं कोई निजी दुर्भावना, निहित स्वार्थ साधने या सुर्खियों में आने की कोशिश तो नहीं कर रहा है। इसे कानून के शस्त्रगार में एक प्रभावशाली हथियार के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिए, जिसकी मदद् से नागरिकों को सामाजिक न्याय दिलाया जा सके। अदालतों को इसके गलत इस्तेमाल की अनुमति नहीं देनी चाहिए। वर्ष 2010 में न्यायालय ने एक वकील पर 1 लाख रूपये का जुर्माना लगाया। **उत्तराखण्ड राज्य बनाम बलवंत सिंह मामले में** वकील ने अदालत में एक कानून अधिकारी की नियुक्ति को चुनौती दी थी। अदालत ने याचियों की वास्तविकता जाँचने के लिए 8 सूत्री परीक्षण भी तैयार किया। '**संजीव भटनागर बनाम भारत संघ' और 'दत्ताराज बनाम महाराष्ट्र राज्य' जैसे मामलों में** अदालत ने दंडात्मक कार्यवाही भी की है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी सुझाव दिया है छोटे स्तर की जनहित याचिकाओं के कारण परियोजनाओं में देरी से उसकी लागत में हुई बढ़ोतरी का बोझ याची के ऊपर डाला जाना चाहिए। जनहित याचिका के दुरूपयोग को रोकने के लिए केंद्रीय विधि मंत्रालय एक कानून पर काम रही है, जिसमें उसकी सहायता जनहित याचिका को शुरू करने वाले न्यायाधीश कर रहे हैं।

न्यायिक जवाबदेही व विधेयक

न्यायालय ने अपनी सक्रियता के माध्यम से देश में कई सुधारों व परिवर्तनों को जन्म दिया। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, खासकर पर्यावरणीय मामलों

में। पर यह भी सही है कि जनहित याचिका के माध्यम से ही न्यायालय ने पी. आई. एल के तहत किसी मसले को लिया और किसी न्यायधीश ने मुंबई व दिल्ली के झुग्गी–झोपड़ियों को हटाने के आदेश दिये, जिससे लाखों लोग सड़क पर आ गये। दिल्ली के संबंध में दलील यह दी गई कि ये जहाँ रहते हैं, वहाँ नदी को प्रदूषित कर रहे थे।

इसी तरह राजधानी दिल्ली से छोटे–छोटे उद्योगों को रेसिडेंट वेलफेयर एसोसिएशन की याचिका पर हटाने के आदेश दिये। दिल्ली व मुंबई के सड़कों से वेंडरों को भी हटाने के आदेश न्यायालय ने दिये। तर्क यह दिया गया कि सड़के परिवहन के लिए होती हैं, न कि वेंडरों के लिए। संक्षेप में, न्यायालय ने व्यक्तिगत स्तर पर जो भी सोचा, उस निर्णय ने शक्ल अख्तियार कर लिया। न्यायिक नियुक्तियों के मामले में भी न्यायालय ने एक निर्णय के द्वारा सारी शक्ति अपने पास रख ली है। अब उच्चतम न्यायालय व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति एक कोलेजियम पद्धति होती है और ऐसा कहा जा रहा है कि इन सबके माध्यम से न्यायपालिका ने एक स्वायतत्ता का रूप धारण कर लिया है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति में किसी पद्धति का पालन नहीं किया जाता है और इस प्रणाली में कथित तौर पर कोई पारदर्शिता भी नहीं है। इस तरह भारत में न्यायपालिका निरपेक्ष शक्ति का प्रयोग करता है, जिसके ऊपर निगरानी के लिए न कोई तंत्र है और न ही कोई संवैधानिक व्यवस्था। हालांकि भ्रष्ट न्यायाधीशों को हटाने के लिए महाभियोग का प्रावधान जरूर है, पर इसे पारित करवाना दुष्कर है। वरिष्ठ अधिवक्ता व सामाजिक कार्यकर्त्ता प्रशांत भूषण के मुताबित यदि किसी न्यायाधीश पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाये जाते हैं, तो देश के न्यायाधीश ट्रेड यूनियन की तरह व्यवहार करते हुये इसका विरोध करते हैं। हाल ही के कुछ वर्षों में उच्च न्यायालय ही नहीं सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर भी भ्रष्टाचार के आरोप लगे हैं। यहाँ तक कि भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश बालाकृष्णन पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गये हैं। **उच्चतम न्यायालय की पूर्व न्यायाधीश रूमा पाल ने वीएम तारकुंडे मेमोरियल व्याख्यान की पूर्व न्यायाधीश के सात पाप बताए।** पापों की यह सूची इस प्रकार हैं– **अपने साथी के अन्यायपूर्ण आचरण पर आंखे मूंदना, पाखंड–न्यायिक स्वतंत्रता के मानकों को विकृत करना, गोपनीयता–न्यायिक आचरण**

का कोई भी पहलू, यहाँ तक कि उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति में कोई पारदर्शिता न होना, चोरी और उबाऊ विद्धता अक्सर उच्चतम न्यायालय के जज अपने पूर्ववर्तियों के फैसलों के अंश उठाकर अपने फैसले में लिख देते हैं और उनके नाम का उल्लेख करना भी उचित नहीं समझते। साथ ही वे जटिल भाषा और शब्दाडंबर से भरी भाषा में फैसला देते हैं, व्यक्तिगत अंहकार उच्च न्यायपालिका अपनी श्रेष्ठता को जजों की अनुशासनहीनता व प्रक्रियाओं के उल्लंघन को छुपाने की ढाल बनाती है, पेशेवर अहंकार–जज पूरी तैयारी किए बिना ही निर्णय लिख देते है। और अंत में, भाईभतीजावाद व पक्षपात–अन्य जजों के साथ मिलीभगत करके जज विभिन्न मामलों व नियुक्तियों में एक–दूसरे को फायदा पहुंचाते हैं। न्यायपालिका की खामियां उजागर करने के लिए तारकुंडे मेमोरियल व्याख्यान जस्टिस रूमा पाल के लिए बिल्कुल सही मंच था, जो खुद भी ईमानदारी और साख के उच्चतम मानकों पर खरे उतरते हैं। जस्टिस तारकुंडे को कभी सुप्रीम कोर्ट में प्रोन्नत नहीं किया गया। उन्हें भारत में **'सिविल लिबर्टी आंदोलन के पिता'** के रूप में याद किया जाता है। वह जाने–माने मानवाधिकार कार्यकर्ता थे।

भारत की उच्च न्यायपालिका पर भ्रष्टाचार के अनेक दाग लगे हैं। वर्तमान में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष और उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायधीश में के.जी. बालाकृष्णन पर उनके दो पूर्व साथी जजों–जस्टिम शमशुद्दीन और जस्टिम सुकुमारन ने पक्षपात के आरोप लगाए थे। अभी इस आरोप को गलत सिद्ध करना भी शेष है कि बालाकृष्णन के परिवार ने उनके पद के आधार पर भारी संपत्ति अर्जित की। इससे पहले सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश वाई. के. सब्बरवाल पर भी ऐसे ही आरोप लगाए गए थे। जून 2010 में पूर्व कानून मंत्री और टीम अन्ना के सदस्य शांति भूषण ने कुछ पूर्व मुख्य न्यायाधीशों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप लगाते हुए सुप्रीम कोर्ट में अपील दायर कर सनसनी फैला दी थी। शांतिभूषण के मुताबिक–देश में अब तक मुख्य न्यायाधीश के पद पर रहे न्यायधीशों में से आधे भ्रष्ट थे।

दरअसल इस मसले में विवाद यह है कि क्या भारत की न्यायपालिका को अकुशलता और भ्रष्टाचार के दलदल से बाहर निकाला जा सकता है? जस्टिस पाल

के मुताबिक प्रत्येक न्यायाधीश की व्यक्तिगत ईमानदारी और साख ही न्यायिक प्रक्रिया की स्वतंत्रता और विश्वसनीयता कायम रख सकती है। दुखद तथ्य यह है कि भ्रष्ट आचरण को लेकर जिन न्यायधीशों–पी.डी. दिनकरन, सौमित्र सेन और वी. रामस्वामी के खिलाफ जिस तरह से महाभियोग की प्रक्रिया चलाई गई, उसने न्यायपालिका को लेकर आम भारतीय की निराशा को घटाने के बजाय बढ़ाया ही है। इन सभी मामलों में विधायिका और कार्यपालिका ने तार्किक परिणति पर पहुंचने से पूर्व ही मामले खत्म कर दिए और दागी जजों में से किसी को भी दंडित नहीं किया जा सका। न्यायपालिका में व्याप्त भ्रष्टाचार का समग्र भारतीय ढांचे पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ रहा है। इससे लोकतांत्रिक विधान और संविधान की शुचिता का मखौल उड़ रहा है।

हालाँकि इतने महत्वपूर्ण और दूरगामी प्रभावों वाले विधेयक को बिना चर्चा के ही पारित कर दिया गया। विगत वर्ष मनमोहन सिंह सरकार और समाजसेवी अन्ना हजारे की टीम के बीच जिन मुद्दों को लेकर टकराव शुरू हुआ, उनमें जनलोकपाल की जो परिकल्पना शामिल थी, उसके दायरे में सर्वोच्च न्यायलय को भी लाया जाना था, लेकिन बाद में इसकी व्यावहारिक समस्याएँ बताये जाने पर अन्ना इस बात पर मान गये थे कि न्यायपालिका के लिए अलग से 'न्यायिक मानक एवं जवाबदेही विधेयक' लाया जाये। हालांकि टीम अन्ना की माँग थी कि लोकपाल की तरह 'न्यायिक मानक एवं जवाबदेही विधेयक' का मसौदा भी उसे दिखा कर तय किया जाये, पर लोकपाल विधेयक की तरह इस विधेयक की बाबत भी उनकी यह माँग दरकिनार कर दी गयी। वैसे आशा की जानी चाहिये कि संसद का उच्च सदन राज्यसभा शायद 'न्यायिक मानक एवं जवाबदेही विधेयक' पर चर्चा का समय निकाल पायेगा। वैसे अगर राज्यसभा चर्चा करती भी है तो अपनी ही भूमिका निभायेगी, न कि लोकसभा की। न्यायिक व्यवस्था में इसी जवाबदेही को सुनिश्चित करने के इरादे से सरकार द्वारा न्यायिक जवाबदेही को सुनिश्चित करने के इरादे से सरकार द्वारा 'न्यायिक जवाबदेही विधेयक' लाया गया।

30 मार्च, 2012 को लोकसभा से पारित बिल की खासियत यह है कि इसके जरिए जजों के खिलाफ जाँच की व्यवस्था हो सकेगी। यह बिल 'न्यायधीश जाँच अधिनियम 1968' की जगह लेगा। इस बिल के कुछ प्रावधानों को नए विधेयक में

भी रखा गया है। यह विधेयक पिछले दिसम्बर 2011 में नए संशोधनों के साथ लोकसभा में पेश किया गया था। इससे पहले यह विधेयक 2010 में लाया गया था। जो नए संशोधन किए गए हैं, उनमें जजों को किसी भी संवैधानिक प्राधिकार के खिलाफ अवांछित टिप्पणी करने से बचने के लिए कहा गया है। अगर जज किसी भी संवैधानिक प्राधिकार के खिलाफ मौखिक टिप्पणी करता है, तो वह न्यायिक कदाचार का दोषी होगा। विधेयक के जरिए ऐसा सिस्टम बन पाएगा, जिसमें सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के किसी भी जज के खिलाफ जाँच की व्यवस्था होगी। यह विधेयक अधिकतम न्यायिक स्वतंत्रता और उसी के साथ सर्वोच्च न्यायालय के सदस्यों के लिए जवाबदेही तय करने के बीच संतुलन कायम करने वाला है। वैसे इस बिल में सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के जजों के खिलाफ महाभियोग की शक्ति संसद के पास ही रहेगी। इस विधेयक की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

- जजों को अपनी पूरी संपत्ति का खुलासा करना होगा। इसके अलावा इस विधेयक से कुछ न्यायिक मानक भी तय होंगे। जजों को स्वयं, खुद की व अपनी पत्नी/पति ओर संतान की संपत्ति और देनदारी का पूरा खुलासा करना होगा।
- इस विधेयक से राष्ट्रीय न्यायिक ओवरसाइट कमिटी, शिकायत, स्क्रूटनी पैनल और एक इंवेस्टिगेशन कमिटी की स्थापना होगी। कोई भी व्यक्ति किसी जज के खिलाफ उसके अनुचित व्यवहार के आधार पर ओवरसाइट कमिटी को अपनी शिकायत दे सकेगा।
- अनुचित व्यवहार के आधार पर किसी जज के निष्कासन के लिए संसद में प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। इस प्रस्ताव को ओवरसाइट कमिटी की तहकीकात व जाँच के लिए भेजा जा सकेगा।
- जजों के खिलाफ शिकायत व जाँच गोपनीय रहेंगी और निराधार आरोप लगाने वाले शिकायतकर्ताओं के खिलाफ दंड का भी प्रावधान होगा।
- ओवरसाइट कमिटी जजों को सुझाव या चेतावनी दे सकती है।

क्या जनहित याचिका के द्वारा समाज के निचले तबके के लोगों को न्याय मिलना सम्भव हो पाया हैं? (Does Our Criminal Justic System Victism Poor Sections Law)

26 नवम्बर को विधि दिवस के अवसर पर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश एच.एल. दत्तू ने भी इस क्रूर सच्चाई की ओर इशारा करते हुए कहा कि ''हमारे आपराधिक व्यवस्था भी कम जिम्मेदार नहीं हैं। आपराधिक न्याय व्यवस्था भी सिर्फ समाज में गरीब व कमजोर वर्गों को ही दण्डित नहीं करता, बल्कि कई कानून, गरीब व बदहाली को ही अपराध करार देते हैं। हमारे देश में भीख माँगना, मैला ढोहना, कूढ़ा बीनना, बाल मजदूरी, वैश्यावृति काम कानूनी रूप से अपराध है और मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं का आरोप है कि अगर ये कार्य अपराध की श्रेणी में आते है तो इसका सीधा मतलब ये है कि आपने दरिद्रता को अपराध की श्रेणी में ला दिया है। ये भी हकीकत है कि ये काम वही लोग करते है, जो किसी न किसी रूप में कमजोर है व वंचित है। तो क्या वाकई समानता पर आधारित हमारी न्याय व्यवस्था भेदभाव की शिकार है? आखिर क्या वजह हैं कि आज भी हमारी देश की जेलो में आधे से ज्यादा कैदी दलित, आदिवासी व मुसलमान है?

	आबादी प्रतिशत में	जेलों में बंद
मुस्लिम आबादी	13.4 प्रतिशत	20 प्रतिशत
दलित आबादी	16.6 प्रतिशत	22 प्रतिशत
आदिवासी आबादी	8.6 प्रतिशत	11 प्रतिशत

कुल आबादी 53 प्रतिशत

मुस्लिम, दलित, आदिवासी – 38.6 प्रतिशत

प्रधान न्यायधीश ने न्याय और अन्याय की एक बेहद कडवी कड़ी पर अगुंली रखी। जस्टिस एच.एल. दत्तू ने कहा कि ''हमारी आपराधिक न्याय व्यवस्था मौटे तौर पर गरीब और कमजोर वर्गों के साथ ज्यादती करती है। देश में ऐसे कानून है, जिनके तहत गरीबी और दरिद्रता को अपराध माना जाता है। जिन गतिविधियों को अपराध घोषित करने की ज्यादा कीमत गरीबों को चुकानी पड़ती है, उसमें सुधार

की जरूरत है। महिलाओं को सुरक्षा देने के नाम पर उनकी स्वतंत्रता को सीमित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, लेकिन महिलाओं की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा कर उनकी सुरक्षा सुनिश्चित नहीं की जा सकती। ऐसी सुरक्षा असल में कोई सुरक्षा है ही नहीं।''

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (National Crime Records Bureau) के मुताबिक–दलित आदिवासी एवं मुस्लिम समुदायों का देश की कुल आबादी में हिस्सा 38.6 प्रतिशत है जबकि 2013 में जेलो में कुल के बीच इन समुदायों से आए इन कैदियों की तादाद 53 फीसदी थी।

S.C, S.T और मुस्लिम	कुल आबादी	=	38.6 प्रतिशत
	जेलो में बंद	=	53 प्रतिशत

वंचितों के न्याय का सवालः–

आखिर क्यों समाज के बड़े वर्ग द्वारा जनहित याचिका दायर करना सम्भव हो पाता है? समाज के निचले तबके के लोगों को (दलित वर्ग, मुस्लिम एस. सी/एस.टी.) जनहितयाचिका के जरिये न्याय क्यों नहीं मिल पा रहा हैं? आखिर क्यों इन समुदायों में ज्यादा अपराध प्रवृत्ति पैदा होती है? या वजह कोई और है? गहराई से गौर करे तो विचार के कई बिन्दु उभरते हैंः–

- **आर्थिक बदहाली से न्याय में बाधा –** शिकायत यह है कि इस समुदाय के लोग अपनी कमजोर आर्थिक हालत के कारण कोर्ट एवं पुलिस का खर्च नहीं उठा पाते हैं और इस कारण एक बार जेल में जाने पर वहीं पड़े रहते हैं।
- **न्याय व्यवस्था पर पूर्वाग्रह का असर**– आपराधिक न्याय व्यवस्था ने जातीय और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह मौजूद है, जिससे सहज ही इस समुदाय के लोग निशाने पर आ जाते हैं।
- **प्रतिनिधित्व की कमी**–प्रतिनिधित्व की कमी पुलिस, नौकरशाही और न्याय व्यवस्था में इन समुदायों का बेहद कम प्रतिनिधित्व उनके न्याय पाने के रास्ते में रूकावट बना हुआ है।

- **सुरक्षा के कानून महिला स्वतंत्रता में बाधक**–सामाजिक और पारम्परिक पूर्वाग्रहों के फैले रहने का ही यह नतीजा है कि अक्सर महिलाओं की स्वतंत्रता के बजाय उन्हें सुरक्षा देने की वकालत की जाती है, तो उपाय क्या है?

हमारी कानूनी व्यवस्था को गौर से देखने पर हम पाएगे कि ऊपरी तौर पर देखने में लगेगा कि हमारे बहुत सारे वकील ऐसे है, जो गरीबों के लिए काम करने के लिए तैयार है, लेकिन अन्दर से देखने पर यह महसूस होगा कि हमारी कानूनी व्यवस्था खत्म हो चुकी है। एक दृष्टिकोण तो ये है कि कोर्ट तो कार्य करती है परन्तु पूरे देश व समाज को भी समझने की जरूरत हैं, लेकिन दूसरा दृष्टिकोण यह हैं कि हमारी न्याय व्यवस्था दरअसल गरीबों के साथ उस तरह से न्याय नहीं कर पा रही है? जो हमारी न्याय व्यवस्था है, उसका सिर्फ देश की लगभग $\frac{1}{3}$ जनसंख्या ही लाभ उठा रही है। 2/3 जनसंख्या को इसका कोई लाभ नहीं मिलता है। कभी–कभी जो बीच के अर्थात् 1/3 जनसंख्या को त्वरित न्याय मिल सकता है, लेकिन जो निम्न वर्ग है, उनको तो लाभ मिलता ही नहीं है।

PIL के जरिये व्यक्तिगत मामले (Individual Cases) के संदर्भ में जो लाभ मिल सकता है, उस पर विशेष कार्य नहीं किया है। जब भी कोई प्रकरण PIL के दौरान या व्यक्तिगत प्रकरण के रूप में न्यायालय के सामने आता है, तो ऐसा नहीं है कि गरीब व्यक्ति को न्याय नहीं मिलता। मूल प्रश्न यह है कि जो हाल में अभी NCRB-(National Crime Records Bureau) की रिपोर्ट आई है, जिसमें कहा गया है कि 2009 में नालसा (National Legal Service Authority -NALSA) के 7 इलाके, DLSA (Dsy-level Supply Automation) के 7 इलाके और बचपन बचाओं आन्दोलन के साथ एक कानूनी समिति (Legal cell) बनाई थी। 'All india legal aid cell in child right' दिल्ली में बनाया गया तथा उसमें प्रयास स्वरूप Help line number दिये गये है तथा नालसा के साथ मिलकर 'बचपन बचाओं आन्दोलन' को संचालित किया गया। साथ ही व्यक्तिगत मामले को hot line number के जरिये हल करके मार्गदर्शन किया गया।

हमारी न्याय व्यवस्था वह एक आम आदमी के लिए Black box बन कर क्यों रह गयी है? दलित हो, आदिवासी हो या फिर मुसलमान हो, वहीं सबसे ज्यादा

भारतीय जेलों में मौजूद है? हमारे Pending Cases बहुत ज्यादा है। केवल उत्तर प्रदेश का ही एक उदाहरण है, कि अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग की रिपोर्ट के तहत 76,000 मुकदमें SC व ST केस के pending हैं।

न्याय व्यवस्था का कड़वा सच –

'Justice delayed is justice dinied.' (न्याय में देरी अन्याय है) अर्थात् न्याय मिलने में देरी हुई है तो इसका मतलब है कि न्याय मिला ही नहीं। 107/16 के तहत निम्न तबके के व्यक्तियों को बन्द कर दिया जाता है, लेकिन FERA [Foreign exchange Regulation Act 1973] & FEMA [Foreign exchange Management act] में उच्च वर्ग के व्यक्तियों को Black Commandos सुरक्षा के तहत उपलब्ध कराये जाता है, ये स्थिति है हमारे समाज की!

वर्तमान दृष्टिकोण ब्रिटिश जमाने से भी ज्यादा बेकार है। गरीब हो तो अपराधी हैं। अमीर या मध्यमवर्गीय होने पर अपराधी होते हुए भी आप बड़े हीरो बन जायेगें। हमारे समाज की ये हकीकत है और दुःख की बात यह है कि हमारे देश में ऐसी कोई बाध्यकारी संस्था नहीं है, जो इस व्यवस्था में सुधार कर सके, हालांकि सर्वोच्च न्यायलय सक्रिय है, लेकिन सम्पूर्ण भारतीय न्याय व्यवस्था में ऐसा कोई नहीं है, जो व्यवस्था सुधारना चाहता है। हमारे देश में legal aid system है जैसे– National legal aid board, state legal aid board, किन्तु ये सभी तन्त्र वर्तमान परिप्रेक्ष्य में निष्क्रिय है। हमारे देश में legal aid system दूषित हो गया है। सरकार के पास करोड़ों रूपये के रूप में वित्तीय शक्ति हैं। जिससे legal aid system को जिन्दा रखा जा सकता है, जो कि वर्तमान में मृतप्रायः है।

जस्टिस आर.एस. सोढ़ी (पूर्व जज, दिल्ली हाई कोर्ट) ने आपराधिक न्याय व्यवस्था पर सीजेआई की टिप्पणी पर मनन करते हुए कहा कि ''ये जो न्याय व्यवस्था है उनमें संशोधन (amendment) से सुधार तो लाना ही होगा। यह दृष्टिगोचर होता है कि जो वर्ग ज्यादा शोषित है, उस जगह पर उनका प्रतिनिधित्व कम है। इसीलिए भी शायद न्याय सम्भव नहीं हो पा रहा है। यह आंशिक रूप से सही भी है। शायद हमारी न्याय व्यवस्था में ठहराव आ गया है। इस स्थिति में नयी पीढ़ी के द्वारा ही सुधार सम्भव है। ताकि पूर्व में हमारे द्वारा जो गलतियाँ हुई है,

उनसे भविष्य में सुधार सम्भव हो पाये। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्देश दिये कि legal aid के केस में Peralegals को उपलब्ध कराया जाये। अगर लोगों को बताया जाये कि यदि पुलिस वाले उनकी बात नहीं सुनते, तो वह लोग उनके (Pera Legal) पास जाये, तो वो उनके साथ थाने में जायेगें। जहाँ पुलिस या जाँचकर्ता किसी दबाव में आकर या पैसा लेकर काम कर रहे है। तो वहाँ पर ऐसा न हो, ऐसी स्थितियाँ बनाई जानी चाहिए और गरीब तबके के लोगों मुआवजा (Compansasion) मिलना चाहिए ताकि अगली बार कोई ओर पुलिस वाला ऐसा न करें। जो यह असंवेदनशील व्यवस्था हैं, इसमें सुधार लाना कोई मामूली बात नहीं है। ऐसा तब ही सम्भव है जब कोई प्रभावी बल आरोपित किया जाये। शायद मुख्य न्यायधीश की तरफ से, मुख्य न्यायधीश के seniour group की तरफ से। पूरी व्यवस्था में सुधार लाने के लिए प्रधानमंत्री के स्तर पर, प्रशासन के स्तर पर, पुलिस के स्तर पर प्रभावी कदम उठाने की आवश्यकता है। वर्तमान में न्यायधीशों की केवल 20 प्रतिशत संख्या हैं, जो कि 100 होनी चाहिए। साथ ही जो न्यायिक अधिकारियों की सामान्य सोच है कि वो यहाँ फैसला करने के लिए बैठे हैं, इंसाफ करने के लिए नहीं, ये सोच बदलनी चाहिए। यदि न्याय प्रशासन में ऐसे बदलाव लाये जाये कि हर वकील अपने 10 प्रतिशत केस तथा वरिष्ठ वकील 25 प्रतिशत केस Legal aid के साथ मिलकर निःशुल्क करेगा तो शायद गरीब तबके के लोगों को न्याय मिलने में आसानी होगी।

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश एल.एच. दत्तू ने एक सवाल उठाया कि गरीबों को न्याय मिलने में दिक्कत होती है। हम सभी यह मान रहे है कि हाँ, गरीबों को न्याय मिलने में दिक्कत हो रही है। हम तो निराशा की हद तक इस बात को मान रहे है। लेकिन हम सिर्फ निराश होकर ही नहीं रह सकते है। आगे उम्मीद है कि व्यवस्था में सुधार होगा, तो इस तरह की स्थितियों को कुछ हद तक ठीक किया जा सकेगा। यदि न्यायपालिका, पुलिस या सरकार के अन्दर कोई बाध्यकारी व प्रभावी बल आयेगा, जो इसको सुधारना चाहते है, तो ही ये सुधर पायेगा।

न्यायपालिका की संरचना का जो संगठन है, इसमें चार और व्यवस्था मिलती है। एक तरफ सरकार (Government) है, दूसरी तरफ पुलिस है, तीसरी तरफ

वकील हैं, उसके पश्चात् न्यायपालिका आती है। समाज के अन्दर जिस प्रकार की असमानता हैं, वह ही परिलक्षित होती है। लेकिन छोटे–छोटे सुधारों की हम जो बात करते हैं, उसमें एक चेतना का पुट होना जरूरी है क्योंकि हमारे समाज में 'Human devlopment index' तो मापा जाता है लेकिन 'Human distress index' भी मापा जाना चाहिए। भारत वर्ष के निम्न स्तरीय अदालत में 2 करोड़ मामले pending हैं। सर्वोच्च न्यायालय में 64,000 केस Pending हैं और उच्च न्यायालय में 42 लाख केस pending हैं। तो हम देख सकते कि कितना distress है? इस तरह कम से कम प्रत्यक्ष रूप से 3 करोड़ लेाग प्रभावित है तथा उनके घर के सदस्यों को शामिल करने के पश्चात् अप्रत्यक्ष रूप से 5 करोड़। साराशंतः न्यायपालिका की सक्रियता को बढ़ाने की जगह हम यह क्यों नहीं सोचे कि वर्तमान में प्रत्येक स्तर पर विद्यमान विषमता को समाप्त किया जाये तथा साथ ही सभी अपने दायित्वों का पालन करें। यदि विषमता कम हो जाएगी तो अन्याय की बात ही खत्म हो जायेगी। हमें उम्मीद है कि आने वाले दिनों में ये होगा और छोटे–छोटे सुधारों के जरिये हम बड़े मुकाम तक पहुंच सकते है।

हमे उम्मीद हैं कि छोटे–छोटे सुधारो के जरिये कुछ बड़ा हासिल किया जा सकता है। जरूरत इस बात की है कि हम लोग भी जागरूक रहे और न्याय व्यवस्था भी संवेदनशील बने।

सुझाव :

उक्त शोध अध्ययन के माध्यम से शोधार्थी के रूप में मेरे द्वारा कुछ सुझाव रखा जाना सारभूत होगा। अतः निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत हैंः

1. जनहित मामलों में न्यायिक सक्रियता निश्चित ही मतभेद का विषय है। आए दिन समाचार पत्र पत्रिकाएँ, सेमीनारों, गोष्ठियों में इस विषय पर चर्चा हो रही है एवं बहस छिड़ी हुई है। कुछ राजनीतिज्ञ, विधिवेत्ता, शिक्षाविद् एवं न्यायाधीश कहते हैं कि ''न्यायिक समीक्षा के लिए न्यायपालिका की कोई सीमा नहीं है, वह जनहित में लोगों के अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए तथा कानूनों की संवैधानिकता की जाँच करने का पूरा अधिकार रखती है।''

अतः इस सम्बन्ध में मेरा यह सुझाव है कि इस मसले पर सरकार के तीनों अंगों के प्रतिनिधियों से मिलकर एक उच्च अधिकारिता प्राप्त समिति का गठन किया जाये, जो उक्त सभी बातों पर विचार करते हुए संविधान के परिप्रेक्ष्य में निश्चित सिद्धान्त प्रतिपादित करे। समिति की रिपोर्ट के आधार पर जनहित वादों की सीमा निर्धारित की जाये, जिससे लोकतंत्र में तीनों अंगों के मध्य शक्ति–पृथक्करण का नियम पूर्णतः बना रहे।

2. जैसा कि देखा जा रहा है कि अनेक कारणों से हमारी संसदात्मक व्यवस्था कमजोर होती जा रही है। सत्ता लोलुपता के कारण राजनीतिक भ्रष्टाचार, प्रान्तवाद, जातिवाद एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर राजनेता लाभ उठाने से नहीं चूक रहे हैं, चाहे परिणाम कुछ भी हो। देशहित से ज्यादा व्यक्तिगत हित पर ध्यान दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप कल्याणकारी नीतियों पर ध्यान न देकर जनहित में कार्य करने हेतु यह व्यवस्था विफल होती जा रही है। यह तथ्य सभी के सामने है। मेरा सुझाव है, कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को मजबूत बनाने, शक्तियों के पृथक्करण एवं जनता को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय प्रदान करने, संविधान के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मजबूत शासन व्यवस्था पर विचार किया जाना चाहिए। इस हेतु अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली अपनाने पर सोचा जाना उचित होगा।

3. भारत सौ करोड़ से अधिक जनसंख्या वाला विशाल देश है। यहाँ जनसंख्या का बड़ा भाग गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहा है। इस बात में दोराहा नहीं है कि भारत की वर्तमान परिस्थितियों में जनहित वादों के माध्यम से लाखों–करोड़ों व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ न्याय प्राप्त होता रहा है। अतः भारत में लोकहित वादों की संकल्पना और इसके माध्यम से उच्चतर न्यायपालिका द्वारा न्याय प्रदान किया जाना उचित माध्यम प्रतीत होता है। संकट की इस घड़ी में जब देश के गरीब, असहाय, मजदूर, महिला आदि अनेक लोग अन्याय का मुकाबला कर रहें हैं तथा परम्परागत न्याय प्रणाली में उनको सुना जाना सम्भव नहीं रह गया हैं, तब न्याय की यह नवीन प्रक्रिया उनके लिए वरदान साबित हो रही हैं। अतः यह व्यवस्था जनहित में है, जिसे सीमाओं के साथ लागू रखा जाना चाहिए।

4. जनहित मामलों के माध्यम से यद्यपि अनेक निर्धन असहाय लोगों को न केवल सामाजिक–आर्थिक न्याय वरन् उनको मानव गरिमा के साथ मानवीय अधिकारों की प्राप्ति भी हुई है, किन्तु जनहित वादों के माध्यम से ऐसा न्याय देश के चुने हुए क्षेत्र जैसे देश एवं राज्य की राजधानियों, बड़े शहरों तक ही सीमित रहा है। जिला, कस्बा एवं ग्रामीण स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में जनहित न्याय का इंतजार आज भी है, क्योंकि उच्चतर न्यायपालिका में जाना उनकी पहुँच से बाहर है और साथ ही वे अपने अधिकारों के प्रति उदासीन एवं साधनहीन भी है। अतः जनहित वादों के माध्यम से सभी को न्याय मिल सके, इस हेतु देश के जिला स्तर पर सरकार की तरह से '**लोकहित ट्रस्टों**' की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें समाजसेवी, विधिवेत्ता एवं राजनेता इसके सदस्य के रूप में हों। इन लोकहित ट्रस्टों द्वारा जनहित से जुड़े हुए मामलों की शिकायत प्राप्त करना और सुनकर यथोचित लगे, तो जनहित याचिका उस राज्य के उच्च न्यायलय में दायर करनी चाहिए। इससे जन–जन को न्याय मिलने में आसानी होगी।
5. पर्यावरण प्रदूषण एक ऐसी विशाल समस्या है, जिससे देश का प्रत्येक व्यक्ति ग्रसित है। यदि यही स्थिति रही तो व्यक्ति का जीने का अधिकार निरर्थक हो जायेगा। इस सम्बन्ध में मेरा सुझाव है कि देश में पर्यावरणीय न्यायालयों की स्थापना जिला स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक होनी चाहिए। जिस प्रकार उपभोक्ता संरक्षण न्यायालयों की स्थापना की गई है, उसी प्रकार पर्यावरण प्रदूषण से संरक्षण के सम्बन्ध में विधेयक लाकर पर्यावरणीय न्यायालयों की स्थापना करना महत्त्वपूर्ण कदम होगा।
6. उच्चत्तर न्यायालयों में जनहित वादों की बाढ़ को रोकने के लिए दिशा–निर्देश तय किए जाने चाहिए। इस हेतु सरकार द्वारा तीनों अंगों को मिलकर एक सलाहाकार समिति का गठन किया जाना चाहिए और उसकी रिपोर्ट के आधार पर विषय निर्धारित किए जाने चाहिए।
7. विधि निर्माता का कार्य जल्दबाजी में कार्य न करके योजनाबद्ध तरीके से पर्याप्त सोच विचार कर किया जाना चाहिए। इसके लिए विधेयकों को विचार और जाँच के लिए विभागों की स्थायी समितियों के पास भेजा जाना चाहिए। विभिन्न हित

समूह की सलाह और विशेषज्ञों की सहायता से विधेयक को सर्वथा त्रुटिरहित बनाना चाहिए, जिससे न्यायिक पुनरावलोकन की आवश्यकता न पड़े।

8. नवनिर्वाचित सदस्यों के लिए सतत् प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए। प्रशिक्षण कार्यक्रम में राजनीतिक व्यवस्था, संविधान प्रक्रिया, नियम और कार्य संचालन, प्रथाएँ और पूर्व दृष्टांत, सदनों तथा समितियों के कार्य संचालन की विधियाँ, संसदीय शिष्टाचार के नियम सम्मिलित किए जाने चाहिए। सेमिनारों का आयोजन भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास है।
9. विधायिका और न्यायपालिका में संबंधों में द्वन्द्व का कारण संवैधानिक संशोधन रहे है। अतः बेहतर होगा कि सोच समझकर आवश्यकता के अनुरूप संशोधन किए जाए ताकि संशोधनों की वैधता प्रामाणिकता और स्वीकार्यता को बढ़ाया जा सके और न्यायिक दखल को रोका का जा सकें।
10. संसद में प्रक्रियागत सुधारों की आवश्यकता है। संसद के पास समय की कमी को दूर करने के लिए संसद की समय–तालिका का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। वर्तमान व्यवस्था का एक ज्यादा अच्छा विकल्प यह होगा कि प्रति सप्ताह सरकार तथा निजी सदस्यों के बीच समय का बंटवारा कर दिया जाए तथा दोनों पक्ष यह तय कर ले कि किन विषयों पर पहले विचार किया जाए? बैंठकों की संख्या बढ़ाई जाये।
11. विधायिका में भ्रष्टाचार का प्रवेश रोकने हेतु लोकपाल विधेयक (जो जन दबाव के चलते संसद से तो पारित हो गया किन्तु अभी भी समिति प्रक्रिया से गुजरना बाकी है) को वास्तविक रूप देना होगा। न्यायपालिका में व्याप्त भ्रष्टाचार रोकने हेतु इसे ज्यूडिशियल अकाउंटेबिलीटी बिल के तहत लाया जाए और महाभियोग की प्रक्रिया पर पुनः विचार किया जाए, न्यायधीशों के अनैतिक आचरण को रोकने हेतु न्यायिक अवमानना को दण्ड के दायरे से हटाया जाना भी आवश्यक है।
12. निचली अदालतों में निर्णयों पर भ्रष्टाचार के प्रभाव को कम किया जाए, ताकि उच्चतम न्यायालयों में पुनः अपील होकर मुकदमों का ढेर ना लगे। साथ ही प्रक्रियागत नियमों को आसान बनाये जाने की आवश्यकता है क्योंकि पेचीदी

प्रक्रियाएँ व जानकारी का अभाव वकीलों और निचली अदालत में भ्रष्टाचार को बढ़ाता है।

13. निर्वाचनों में अपराधिक तत्वों का प्रवेश रोकने हेतु उम्मीदवारों को व्यक्तिगत ब्यौरा देने के न्यायिक आदेश को वास्तविक रूप दिया जाए। काले धन की भूमिका को रोकने के लिए चुनावी खर्च की निश्चित सीमा हो तथा चुनाव में होने वाले खर्चों की जाँच हो तथा कुछ चुनावी खर्चा राज्यों द्वारा उठाया जाए। प्रत्यावर्तन (Recall) व्यवस्था को लागू करने का प्रयत्न किया गया जाए।
14. न्यायिक सक्रियता की व्यापकता से जनहित याचिकाओं की बढ़ोतरी होती रही है, जिससे न्यायालय पर कार्यों का भार बढ़ा है। जनहित याचिकाओं के दुरूपयोग की आशंका भी बढ़ी है। बढ़ती न्यायिक सक्रियता के कारण विधायिका और न्यायपालिका के अन्तर्सम्बंधों में एक तनाव उत्पन्न हो रहा है और न्यायिक तानाशाही का खतरा महसूस किया जा रहा है। अतः इसे रोकने हेतु सरकार के तीनों अंगों को मिलकर एक सलाहकार समिति का गठन किया जाना चाहिए और उसकी रिपोर्ट के आधार पर विषय निर्धारित किये जाने चाहिए।
15. अत्यधिक न्यायिक सक्रियता के परिणामस्वरूप उच्चतर न्यायपालिका में जनहित याचिकाओं की बाढ़ सी आ गई है और इसके परिणामस्वरूप न्यायपालिका अपने दिन–प्रतिदिन के कार्य भी सुचारू रूप से नहीं कर पा रही है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी अपना मामला जनहित मामले के माध्यम से उठाकर लाभ लेना चाहते है। इस सम्बन्ध में अनेक याचिकाओं के माध्यम से लोगों को जागृत भी किया गया है। अतः मेरा सुझाव है कि इन उच्चत्तर न्यायालयों में जनहित वादों की बाढ़ को रोकने के लिए दिशा–निर्देश तय किए जाने चाहिए। इस हेतु सरकार के तीनों अंगों से मिलकर एक सलाहकार समिति का गठन किया जाना चाहिए और उसकी रिपोर्ट के आधार पर विषय निर्धारित किए जाने चाहिए।

न्यायपालिका लोकतान्त्रिक व्यवस्था का स्तम्भ है, इस स्तम्भ का आधार यहाँ की जनगणना ही हो सकती है, लेकिन हाल ही के वर्षों में विशेषरूप से नई आर्थिक नीति के लागू होने के बाद से उसके इस आधारभूत सोच में ही परिवर्तन

दिखाई दे रहा है, इस नए दौर में विभिन्न न्यायालयों द्वारा दिए गए फैसलों और निर्देशों के खिलाफ जितना रोष दिखाई दिया है, शायद उससे पहले कभी भी इसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी, इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि जिस तरह से विधायिका आम नागरिक के प्रति जवाबदेह है, उतनी ही जवाबदेही न्यायपालिका की भी है, लेकिन इन वर्षों में न्यायालयों में गुहार लगाने वालों का यह अनुभव लगातार विस्तृत हो रहा है। न्यायाधीश और न्याय प्रक्रिया का झुकाव आम पीड़ितों की तरफ पहले जितना होता था, अब आम पीड़ितों के खिलाफ उतना ही आक्रामक होते देखा जा रहा है। आज न्यायपालिका में विभिन्न स्तरों पर हर स्तर पर संघर्ष बढ़ रहा है। दरअसल न्यायपालिका में यह संघर्ष मुख्यतः तीन स्तरों पर दिखाई पड़ रहा है, एक तो **न्यायाधीश बनाम न्यायपालिका,** जिसके अन्तर्गत न्यायाधीशों के भ्रष्टाचार और अनैतिकता के विरुद्ध न्यायिक ढाँचे में उच्च पदों पर बैठे उत्तरदायी लोगों को संघर्ष करना पड़ रहा है; दूसरा **न्यायाधीश बनाम अधिवक्ता** अथवा अधिवक्ता बनाम न्यायाधीश, जिसमें एक–दूसरे के खिलाफ संघर्ष कर न्यायिक ढाँचे की गरिमा और सम्मान को बचाने की छटपटाहट देखी जा रही है; तीसरा **सरकार बनाम न्यायपालिका,** जिसके तहत् एक तरफ तो वकील समुदाय सरकार के उन नीतिगत प्रयासों का विरोध करता है, जिससे कि भारतीय न्यायिक व्यवस्था में नई आर्थिक नीति से उत्पन्न परिवर्तन की आशंका है, दूसरी तरफ सरकार द्वारा लम्बित विचाराधीन मुकदमों की बढ़ती संख्या को ध्यान में रखते हुए न्यायिक पदों पर नियुक्ति और न्यायिक सुविधाएँ बहाल नहीं किए जाने से नाराजगी है, सबसे पहले न्यायपालिका के इन संघर्षों से निपटने के लिए प्रभावी उपाय करने आवश्यक होंगे।

6. उल्लेखनीय है कि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में **सरल और कारगर न्याय** आर्थिक विकास का प्रमुख घटक बन गया है, सम्पूर्ण भारत में विकास और खुशहाली के लिए करोड़ों लोग न्यायिक व्यवस्था में परिवर्तन और परिमार्जन की आकांक्षा कर रहे हैं, यह सत्यता है कि भारत का तीव्र आर्थिक–सामाजिक विकास तथा वैश्विक व्यापार इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारे देश में समय पर सरलता से न्याय प्राप्त हो। साथ ही हम न्याय प्रणाली में वैश्विक कार्य संस्कृति को अपनाकर अर्थव्यवस्था को उत्पादक बनाएं, तभी हम वैश्विक

अर्थव्यवस्था के दौर में आए बदलाव का सफलतापूर्वक सामना कर पाएंगे। गौरतलब है कि जिन देशों में न्याय प्रणाली कमजोर व भ्रष्टाचार से ग्रसित है। उन देशों में विदेशी कम्पनी निवेश नहीं करती, कोई भी कम्पनी निवेश करने से पहले आश्वस्त होना चाहती है कि यदि वहाँ कोई कानूनी विवाद उत्पन्न हो जाए तो उसका आसान व निष्पक्ष न्यायिक समाधान सम्भव हो सके। यह ठीक है कि देश में पिछले कई वर्षों से न्यायिक प्रक्रिया में सुधार लाने की चेष्टाएँ की जा रही हैं। दीवानी प्रक्रिया संहिता में संशोधन कर अदालतों की प्रक्रिया को सुधारने तथा भारतीय दण्ड प्रणाली में सुधार लाने हेतु भी प्रयास किए गए हैं, जैसे 24 नवम्बर, 2000 को केन्द्र सरकार द्वारा न्यायमूर्ति मलिमथ की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई जिसे **मलिमथ समिति** कहा जाता है। इस समिति ने **21 अप्रैल, 2003** को सरकार को अपनी रिपोर्ट सौंपी, समिति द्वारा अपनी रिपोर्ट में भारतीय दण्ड प्रणाली में सुधार लाने हेतु 158 सिफारिशें की गई हैं, इस रिपोर्ट में सत्य की खोज, पीड़ित को उचित मुआवजा दिलाने, दोषी को शीघ्रातिशीघ्र सजा सुनाने और साक्ष्य संकलित करने की प्रक्रिया को सरल बनाने हेतु सुझाव दिए गये हैं, रिपोर्ट में बलात्कारियों के लिए मृत्यु दण्ड के प्रावधान नहीं करने के साथ बलात्कारी अभियुक्त को उम्र कैद दिए जाने, महिलाओं के प्रति शारीरिक छेड़छाड़ किए जाने पर रोक लगाने हेतु एक अलग दण्ड व्यवस्था बनाये जाने, लम्बी अवधि तक बिना विवाह किए एक पुरूष के साथ रह रही महिला को गुजारे भत्ते का हकदार बनाने, पश्चिमी देशों की तर्ज पर पुलिस अधीक्षक या इसके ऊपर के अधिकारी के समक्ष दर्ज किए गये इकबालिया बयान की **ऑडियो–वीडियो रिकार्डिंग** कराकर इसे स्वीकार्य साक्ष्य बनाए जाने जैसे अनेक व्यावहारिक सुझाव दिए गये हैं। रिपोर्ट में सत्य का पता लगाने तथा न्यायिक प्रणाली में सुधार लाने हेतु राजनीतिक इच्छाशक्ति का होना भी अत्यन्त आवश्यक बताया। अब सरकार और न्यायपालिका के समक्ष चुनौती यह है कि इन सुझावों में से कितनों को तथा कितनी तत्परता के साथ अमल में लाया जा सकता है?

वर्तमान में विभिन्न न्यायालयों में लम्बित मामलों का बढ़ता बोझ भी न्यायपालिका के समक्ष एक बड़ी चुनौती है, उल्लेखनीय है कि लम्बित मामलों का यह बोझ कम होने के बजाय बढ़ता ही चला जा रहा है। लम्बित मामलों के बोझ को कम करने और न्याय की राह को सुगम बनाने के लिए अभी तक जो उपाय किए गए हैं वे बहुत अधिक प्रभावी नहीं सिद्ध हो सके हैं, यदि इन प्रयासों पर एक नजर डालें तो पता चलता है कि वर्षों से न्याय की प्रतीक्षा में लम्बित मुकदमों की संख्या कम करने के लिए भारत में पहला प्रयास लगभग 82 वर्ष पहले किया गया था, सन् 1924 में **रनकिन समिति** ने इस सम्बन्ध में व्यापक सुझाव दिए थे, लेकिन उन पर कोई खास अमल नहीं किया जा सका। इसके बाद 1986 में **सतीश चन्द्र समिति** और अब **मलिमथ समिति** ने उन कारणों और समस्याओं की पहचान की, जिनके कारण मुकदमें निपटाए नहीं जा रहे हैं या उनकी संख्या में निरन्तर बढ़ोतरी होती जा रही है। हाल ही में राष्ट्रपति कलाम द्वारा भी इस विषय पर काफी क्षोभ व्यक्त किया गया है। उनके अनुसार वर्ष 2004 के अन्त तक, हमारे सर्वोच्च न्यायालय में 30 हजार, उच्च न्यायालयों में 34 लाख और अधीनस्थ जिला न्यायालयों में 2 करोड़ 34 लाख मामले लम्बित हैं। संसदीय प्रवर समिति की 85वीं रिपोर्ट के मुताबिक वर्तमान में मध्य प्रदेश, पटना, राजस्थान और कलकत्ता के उच्च न्यायालयों में 50, 40, 30 वर्षों से लम्बित मुकदमों की लिस्ट बहुत लम्बी है। इन न्यायालयों में 5 लाख मुकदमें तो ऐसे ही हैं, जो 10 वर्षों से अधिक समय से यहाँ लम्बित पड़े हुए हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा सुझाव दिया गया है कि न्यायालयों में मुकदमों की लम्बित संख्या के मद्दे नजर न्यायिक घण्टे बढ़ाए जाने चाहिए। बिना रुकावट सुनवाई, विशेषज्ञों को न्यायाधीश बनाने और अदालतों में **ई–न्यायपालिका** व्यवस्था लागू करने जैसे कदम उठाए जाने चाहिए। साथ ही बेवजह तारीख देने और मनगढ़न्त मुकदमों के मामलों में दण्ड की व्यवस्था भी सुदृढ़ होनी चाहिए। वर्तमान चुनौतियों का मुकाबला करने हेतु आज इन सुझावों पर तेजी से अमल किए जाने की जरूरत है।

इसमें कोई दोराहा नहीं है कि हमारी न्याय प्रणाली अत्यधिक लम्बी, उबाऊ और खर्चीली हो गई है और धनबल एवं बाहुबल के सहारे शातिर से शातिर अपराधी न्यायालयों में साफ बरी हो रहे हैं या जमानत पर छूटकर न्यायिक प्रक्रिया

को लम्बा खींच रहे हैं, जबकि निर्धन व कमजोर आम आदमी साल दर साल चलने वाली सुनवाई के दौरान सजा काट रहा है। आज देश की विभिन्न अदालतों में दो लाख विचाराधीन कैदी बन्द हैं, इसमें से लगभग 18 प्रतिशत विचाराधीन कैदी तो एक साल से भी अधिक समय से जेलों में निरूद्ध हैं। हमारे विभिन्न उच्च न्यायालयों में कई मामले पिछले 50 सालों से लम्बित पड़े हुए हैं। मामले इसलिए लम्बित हैं, क्योंकि न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या भी कम है और उनके पास आवश्यक संसाधनों का भी अभाव है। कुछ अदालतों में तो विशेष रूप से अधीनस्थ न्यायालयों में मूलभूत संसाधन भी उपलब्ध नहीं हैं। न्याय प्रक्रिया इतनी अधिक खर्चीली एवं बोझिल हो गई है कि लोग अदालतों में जाने से ही कतराने लगे हैं एवं विवाद का समाधान न्यायालयों के बाहर ही करने लगे हैं, उल्लेखनीय है कि वर्तमान में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों में न्यायाधीश एवं अतिरिक्त न्यायाधीशों के कुल 675 पद स्वीकृत हैं, जिसमें से अभी 554 न्यायाधीश ही अपने पदों पर नियुक्त हैं, शेष 121 पद खाली पड़े हुए हैं। इनके अतिरिक्त अधीनस्थ न्यायालयों व जिला न्यायालयों में कुल 1500 के करीब न्यायाधीशों के पद रिक्त पड़े हुए हैं, ऐसी परिस्थिति में मामलों के शीघ्र निपटारे की आशा ही नहीं की जा सकती। इसका जो एक अन्य दूरगामी प्रभाव होता है, वह यह कि जब न्यायालय में मामलों का निर्णय सुनाने में आवश्यकता से अधिक विलम्ब होता है, जब निर्णय होने का नम्बर आता है तब तक कुछ गवाह बदल जाते हैं या फिर कोई गवाह न मिलने के कारण अपराधी छूट जाता है। हाल ही में कराए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार हमारे देश में अभियुक्तों का दोष सिद्ध होने का प्रतिशत लगभग 10 रहा है। इसका आशय यह है कि 90 प्रतिशत मामलों में अभियुक्त बरी हो जाते हैं, जिनमें से अधिकांश अपराधी ही होते हैं। अतः इस स्थिति में सुधार लाना भी सरकार व न्यायपालिका के समक्ष एक अहम् और कठिन चुनौती है।

न्यायालयों के समक्ष मुकदमों के बढ़ते बोझ की इस चुनौती का सामना करने के लिए किए जा सकने वाले जरूरी उपायों में से एक रास्ता न्याय के वैकल्पिक तरीकों की खोज किया जाना अच्छे परिणाम दे सकता है। अतः आज न्याय के वैकल्पिक रास्तों को खोजने की अपरिहार्य आवश्यकता है। हाल ही में इस दिशा में केन्द्र सरकार द्वारा ग्रामीण न्यायालय स्थापित करने के लिए संसद में **ग्राम**

न्यायालय विधेयक, 2005 पेश किया गया। इसके माध्यम से देशभर में ग्राम न्यायालय सीमित करके दीवानी और आपराधिक मुकदमों की सुनवाई किए जाने और गाँवों में बसे लोगों को स्थानीय स्तर पर ही न्याय प्रदान किया जाना सम्भव हो सकेगा, इस योजना को कार्यरूप देने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों के साथ विचार–विमर्श भी प्रारम्भ कर दिया गया है। आशा है कि शीघ्र ही यह व्यवस्था देशभर में लागू हो सकेगी और इसके अच्छे परिणाम नजर आएंगे। इससे स्पष्ट है कि न्यायिक प्रक्रिया को अब निम्नतम स्तर तक पहुँचाने की दिशा में पहल शुरू हो गई है, जिसका स्वागत किया जाना चाहिए। ग्राम स्तर पर लोगों को उनके दरवाजे पर न्याय देने की दिशा में जो प्रयास किए जा रहे हैं, निश्चित रूप से उसके नतीजे बेहतर होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है। न्याय के नए वैकल्पिक रास्तों के साथ–साथ जो रास्ते और तौर–तरीके अभी मौजूद हैं, उनको भी भरपूर बढ़ावा दिया जाना चाहिए। हमारे पूर्व मुंख्य न्यायाधीश बी.एन. खरे के विचार इस परिप्रेक्ष्य में बहुत स्पष्ट हैं। इनके अनुसार हर पंचायत के स्तर पर न्यायिक अधिकारी प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए, जो तमाम तरह के मामलों का निपटारा वहीं पर करे। लोगों को शहर में आने की जरूरत ही न पड़े। इसके साथ–साथ अगर जाँच तथा अभियोजन के काम के लिए भी पुलिस के स्थान पर पृथक् स्वायत्त एजेन्सी बन जाए, तो लोगों को त्वरित न्याय सुलभ हो सकता हैं साथ ही यह तय किया जाना भी जरूरी है कि न्यायिक तन्त्र में ही किस स्तर पर समीक्षा या अपील हो पाएगी और किस स्तर पर नहीं? अभी हर स्तर पर समीक्षा व अपील का रास्ता खुला होने से भी त्वरित न्याय नहीं मिल पाता और मुकदमे सालों खिचें चले जाते हैं। सी.पी. सी. में चली आ रही खामियों को भी शीघ्रतापूर्वक दूर किया जाना जरूरी है। जहाँ तक न्यायपालिका में भ्रष्टाचार की बात है, तो इसे रोकने हेतु सीधे–सीधे सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को कार्यवाही का अधिकार दिया जाना चाहिए। मुख्य न्यायाधीश को यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह न्यायपालिका में भ्रष्टाचार के मामलों के लम्बित होने की वजहों के बारे में उच्च न्यायालयों से भी जवाब–तलब कर पाए। निश्चित रूप से इन प्रयासों से न्यायपालिका की स्थिति में सुधार आ सकेगा और उसकी छवि भी अच्छी बनी रहेगी।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि देश की वर्तमान न्याय प्रणाली में सुधार लाने हेतु आज **त्वरित न्याय** की व्यवस्था करने और इन्हें **भ्रष्टाचार मुक्त** रखने हेतु सर्वाधिक प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। इस हेतु न्यायालयों के कार्य में तेजी लाने के लिए अदालतों में बड़े पैमाने पर सूचना प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देकर, न्यायालयों व न्यायधीशों की संख्या में वृद्धि करके तथा न्यायालयों एवं न्यायाधीशों के खाली पदों को शीघ्रतापूर्वक भर कर, न्यायाधीशों के विरुद्ध भ्रष्टाचार की शिकायतों की त्वरित जाँच की व्यवस्था करके व कार्य के प्रति उन्हें उत्तरदायी बनाकर तथा अभियोजन अर्थात् जाँच एजेन्सियों में तेजी, कार्य–कुशलता तथा दक्षता बढ़ाने के प्रयास किए जाने से कुछ सफलता अवश्य मिलेगी। आरक्षित निर्णयों को सुनाने के लिए भी एक समय अवधि निश्चित की जानी चाहिए। न्यायालय की प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों में सुधार लाने हेतु संसद ने वर्ष 2002 में जो अधिनियम पारित किया है, उसका भी व्यावहारिक क्रियान्वयन होना चाहिए। सभी दीवानी मामलों को एक साल की समय सीमा में निपटाए जाने के लिए भी व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए। साथ ही प्रत्येक मामले में तीन से ज्यादा स्थगन नहीं दिया जाए, सुनवाई पूरी होने के बाद 60 दिन के भीतर सभी निर्णय सुना दिया जाना तथा मौखिक बहस के लिए समय सीमा तय करने की शक्ति न्यायालयों को दिए जाने से भी अच्छे परिणामों की आशा की जा सकती है। अतः इस हेतु आवश्यक कार्ययोजनाएँ निर्धारित कर उनका क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाना चाहिए। उच्च न्यायालयों में लम्बित मामलों की संख्या कम करने के लिए कुछ वैकल्पिक अभिकरणों की स्थापना की जानी चाहिए तथा उनमें उच्च न्यायालयों के लम्बित मामले स्थानान्तरित किए जाने चाहिए, ताकि उच्च न्यायालयो का बोझ कम हो सके एवं उनकी कार्यकुशलता में अभिवृद्धि हो सके। वैश्विक आर्थिक विकास के विशेष सन्दर्भ में भी देश की न्याय व्यवस्था में भ्रष्टाचार को रोकना आज बेहद जरूरी है। केन्द्र सरकार द्वारा हाल ही में न्यायाधीश जाँच कानून, 1968 में संशोधन करके न्यायाधीशों की जवाबदेही तय करने तथा अनुशासित रखने के लिए प्रयास करना प्रारम्भ किया गया है, इससे न्याय व्यवस्था में भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाना काफी हद तक सम्भव हो पाएगा। स्वयं न्यायपालिका द्वारा भी इस दिशा में प्रयास तेज किए गए हैं, उदाहरणार्थ, अभी कुछ समय पूर्व उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय की

पूर्ण खण्डपीठ द्वारा निचली अदालतों के 28 न्यायाधीशों को भ्रष्टाचार अक्षमता, अनैतिक आचरण और नशाखोरी जैसे आरोपों के सन्दर्भ में जबरन सेवानिवृत्त करने का निर्णय लिया गया। इसी तरह कुछ माह पूर्व मध्य प्रदेश में भी निचली अदालतों के 18 न्यायाधीशों को विभिन्न आरोपों के आधार पर जबरन सेवानिवृत्त करने का निर्णय सुनाया गया। इस प्रकार की घटनाओं से साफ स्पष्ट है कि देश की न्याय व्यवस्था संक्रमण दौर से गुजर रही है। अन्त में, यह कहा जाना उपयुक्त होगा कि देश की आम जनता और देश में लोकतन्त्र के सुदृढ़ीकरण के साथ–साथ उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के परिवेश को भारत के आर्थिक विकास के परिप्रेक्ष्य में लाभप्रद बनाने के लिए भी आज अपनी न्याय व्यवस्था को निष्पक्ष, सरल और सक्षम बनाना अपरिहार्य रूप से जरूरी है और इसके लिए विधायिका और न्यायपालिका को मिलजुल कर हर सम्भव प्रयास किया जाना आज समय का तकाजा है।

प्रोफेसर एस. के. अग्रवाल ने अपने एक के.एम. मुंशी मेमोरियल लेक्चर्स में सही ही कहा है कि :–

"Perhaps no other period in human history has been concerned with the 'Little man' as our own. However, the state's concern for him creates its own paradoxes, Mostmeasures for the betterment of his lot flow from the state, they are also administered by state (or state established) agencies misperform or do not perform at all, the 'Little man' finds himself helpless, he does not have either the will or the wherewith all to stand up to the state agenices. How to make the state accountable for its action or inaction and how to enable this 'Little man' be estabish that accountability vis-a-vis his own rights and interest, have been matters of deep concern for the men of the law and public affairs in all liberal democracies. 'Public Interest Litigation' is a partial answer to this paradox."

अतः हमारी बहुसंख्यक गरीब व अशिक्षित जनता मूक बनकर देखती रही और अपने मौलिक एवं विधिक अधिकारों से वंचित होती रही, लेकिन राज्य ने इनके हितों की संरक्षणार्थ कोई ठोस कदम नहीं उठाया। स्वतन्त्रता के लगभग 30 वर्ष पश्चात् समय की आवश्यकता ने एक नई अवधारणा को जन्म दिया, जिसे लोकहित

वाद की अवधारणा के रूप में जाना गया। इस लोकहित की प्रतिनिधिक कार्यवाहियों रूपी अवधारणा के द्वारा करोड़ों गरीब, निर्धन मजदूर, कानून होने के बावजूद राज्य के प्राधिकारियों/ऐजेन्सियों की उदासीनता, भ्रष्टाचार, पूंजीवादी विचारों के कारण सामाजिक–आर्थिक अन्याय का सामना कर रहे थे, लोकहित वादों के माध्यम से न्यायपालिका की सक्रियता के परिणामस्वरूप आर्थिक सामाजिक न्याय का रास्ता साफ हुआ है।

भारत में जनहित वाद की अवधारणा का प्रारम्भ 'बम्बई कामगार सभा' से सामाजिक आर्थिक न्याय के जस्टिस कृष्णा अय्यर द्वारा की गई। जस्टिस **कृष्णा अय्यर** ने कहा कि ''लोकहित की प्रतिनिधिक कार्यवाहियाँ वर्तमान युग की न्यायिक कल्पनाओं के अनुकूल है, जिनमें न्यायाधिकार जैसी प्रतिक्रियात्मक औपचारिकताओं के कारण किसी को केवल इसलिए न्याय प्राप्ति से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए क्योंकि वह सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर तथा साधनहीन है।''

इसके पश्चात तो कमजोर, साधनहीन, निर्धन, गरीब, बन्धुआ मजदूर श्रमिकों के हितार्थ एवं अधिकारों के लिए अनेक सामूहिक प्रतिनिधित्व लोकहित कार्यवाहियों जैसे बन्धुआ मुक्ति मोर्चा, नीरज चौधरी यूनियन कारबाइड एशियाड मामला, पीपूल्स यूनियन आदि मामलों द्वारा सामाजिक आर्थिक न्याय की गंगा ही बह निकली।

जनहित के मामलों में न्यायालय के विभिन्न तात्कालिक रूप से समस्या के निराकरण के लिए एक सीमा तक प्रभावी होते हैं, परन्तु समाज में व्याप्त बहुत सी समस्याओं का निराकरण संभव नहीं हो पाता। इसमें सबसे बड़ी समस्या देश की बहुत बड़ी जनसंख्या में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता का अभाव है तथा न्यायालयों के निर्णयों के अनुरूप कानून भी उन सभी समस्याओं का प्रभावी हल नहीं निकाल पाते बल्कि प्रतिरोधात्मक कानूनों के कारण गरीब और असहायों का अधिक शोषण होता है।

इन सुझावों को तैयार करने के पूर्व उन लोगों से चर्चा की गई, जिनके विधिक संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए थे। ऐसे निर्णयों से उन व्यक्तियों की स्थिति में सापेक्ष बदलाव किस प्रकार लाया जा सकता है? यह एक स्थायी प्रक्रिया बनाकर ही प्रभावी हल संभव है। प्रशासनिक तंत्र सरकारी नीतियों व आदेशों की पालना जिस प्रकार करता है, उससे गरीबों के बहुत से हितों की अनदेखी जाने

या अनजाने में होती रहती है और विभिन्न मौलिक अधिकारों का विस्तार या प्रभाव तब प्रकट होता है, जब पीड़ित उस व्यवस्था के प्रति प्रतिकार करे, परन्तु उस समूह को इन सब तथ्यों की जानकारी नहीं होती। इस गरीब व असहाय समूह वर्ग में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता लाने के लिये न्यायिक सक्रियता के साथ–साथ समाज के सक्षम वर्ग को भी सक्रिय होना पड़ेगा, तभी जनहित मामलों के द्वारा मानव अधिकारों का संरक्षण संभव हो सकेगा।

अन्त में, मैं एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू पर अपना सुझाव देना उचित समझती हूँ कि, यदि लोग **महाराज महाप्रज्ञ जी के सिद्धान्त 'आत्म–अनुशासन'** का पालन करें, तो देश में व्याप्त ज्यादातर समस्याओं एवं बुराईयों का अन्त स्वतः ही हो जायेगा। यदि लोग अपने अधिकारों के साथ–साथ अपने कर्त्तव्यों पर भी ध्यान देते हुए अपने आचरण एवं व्यवहार के प्रति उतरदायित्व समझें तथा आत्म–अनुशासन का पालन करें, तो उन्हें न तो कोई सरकार से अपेक्षा की आवश्यकता है और न ही जनहित वाद जैसी दर्द निवारक दवा की।

इसी संदर्भ में, महान् अमेरिकन विद्धान न्यायाधीश हेन्ड के निम्न कथन से इस शोध अध्ययन का समापन करती हूँ:–

"A society so riven that the spirit of moderation is gone, no constitution can save; a society where that spirit flourishes no constitution need save; a society which evades its responsibility by thrusting upon the courts the nurture of that spirit in the end will perish."

(The Spirit of Liberty, Vintage Books, P. 125)

संदर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी ग्रन्थ –

1. अग्रवाल, आर.सी.; ''भारतीय संविधान का विकास एवं आन्दोलन'', एम. चन्द एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2004
2. भट्ट, राजेन्द्र शंकर; ''संविधान शंकाऐं और संभावनाऐं'', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2000
3. बसु, डी.डी.; ''भारत का संविधान–एक परिचय'', वाधवा एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2003
4. डॉ. प्यारेलाल; ''कानून और पुलिस लॉ'', गंगाप्रसाद गुप्त, डी.पी. कम्पनी, अलीगढ़ सिटी, 1919
5. गुप्ता, के.के.; ''भारतीय सरकार एवं राजनीति श्रृंखला'', अविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2004
6. गैना, सी.बी.; ''तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ'', विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2001
7. कश्यप, डॉ. सुभाष एवं गुप्ता, विश्वप्रकाश; ''राजनीति कोश'', राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1971
8. लॉस्की हेराल्ड; ''राजनीतिक प्रवेशिका'', मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री रास्ता, साहित्य मण्डल, दिल्ली, 2000
9. लोढ़ा, गुमानमल; ''न्यायिक क्रान्ति के बदलते आयाम'', राजा राम मोहन राय लाइब्रेरी फाउण्डेशन'', सेक्टर–1, ब्लॉक डी.डी. 34, साइट लेक सिटी, कलकत्ता, 1986
10. पाण्डेय डॉ. जयनारायण; ''भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास'', सेन्ट्रल एजेन्सी, इलाहाबाद, 2000
11. पायली, एम.वी.; ''भारत का संविधानः एक परिचय'', विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2004

12.प्रकाश, डॉ. माथुर; ''प्रमुख देशों का संविधान'', बी.एम. माहेश्वरी, रमेश बुक डिपो, जयपुर 1971

13.सीकरी, एम.एल.; ''भारतीय संविधान का इतिहास'', एस, नगीन एण्ड कम्पनी, 1967

14.सिंह, माहेश्वरी; ''भारतीय लोकतंत्र समस्याएँ एवं समाधान'', साहित्यकार, धामाणी मार्केट, चौड़ा रास्ता, जयपुर, 1999

15.सिंह, यशपाल, ''न्याय का संघर्ष (प्रथम) विप्लव'', कार्यालय लखनऊ, 1654

16.सिंह, यशपाल, : ''न्याय का संघर्ष (द्वितीय) विप्लव'', कार्यालय लखनऊ, 1656

17.सिंह, यशपाल; ''लोहे की दीवारों के दोनों और विप्लव कार्यालय'', 21, शिवाजी मार्ग, लखनऊ, 1953

18.त्रिवेदी, आर.एन.; ''भारतीय सरकार एवं राजनीति'', कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 2001

अंग्रेजी ग्रन्थ –

1. Andhyarujina, T.R.; "Judicial Activism and Constitutional Democracy in India", Rahman & Company, Bombay, 1992
2. Bhatiya, K.L.; "Judicial Activism and Social Change" (Conference Publication), Deep & Deep Publication, New Delhi, 1990
3. Banarje Prof. D.; Subrahmanyam, A & Vijayakumar V.; "Judicial Activism : Dimensions and Directions", Vikas Publication House, New Delhi, 2002
4. Baxi, Upendra; "The Indian Supreme Court and Politics", Eastern Book Co., Lucknow, 1980.
5. Baxi, Upendra; "On Judicial Activism Legal Education & Research in a globalising India", Capital Foundation Society, India.
6. Chopra, Pran; "The Supreme Court versus the Constitution: A chalange to Federalism Biography" , Sage Publication, New Delhi, 2006

7. Das, Shubhankar, "Parliamentary Privileges as facade : Political Reforms and the Indian Supreme Court", (Thesis/Dissertation : Manuscript Archival Material) Publisher-2007
8. Dua, B.D.; Singh, M.P.; Saxena, Rekha; "Indian Judiciary and Politics: The changing Landscape", Manohar Publication, New Delhi, 2007
9. Dembowski, Hans; "Taking the state to Court: Public Interest Litigation and the public sphare in metropolitian in India".
10. Ghosh, Indrani; "Political Questions and the Supreme Courts of The U.S.A. and India: A Study of a Dynamic Aspects of Comparative Constitutional Politics", Minerva Associates Publications, Calcutta, 1993
11. Ghosh, Soma; "An Independent and Accountable Judiciary : Pillar of Democracy", Progressive Publishers, Kolkatta, 2005.
12. Godbole, Madhv; "The Judiciary and Governance in India", Rupa & Co. New Delhi, 2009
13. Hegde, Ramakrishna, "Judiciary Today : Distubing trends and Suggestions for Reforms" State or Province Governement Publication, Government of Karnataka, Banglore, 1986
14. Iyar, V.R. Krishna: " Declining Judicial Culture and Other Essays" Society for community Organization Trust, Madurai, India, 1994
15. Khosa, G.D; "Our Judicial System", Punjab, 1988
16. Khosla, Sunil; "Judicial Activism in India : Problems and Prospects" , Arun Publication House, Chandigarh, 2008.
17. Kumari, Krishna A. ; "Judicial Activism : Need For Rrcommerce", I.C.A.F.I. University Press, 2008

18. Krishna Swami, Sudhir; "Democracy and Constitutionalism in India : A Study of the Basic Structural Doctrine", Oxford University Press, New Delhi, 2009
19. Lal, Bhure: "Judicial Activism & Accountability", Siddharth Publications, New Delhi, 2004
20. Mukharji, Prasanta Bihari, "The Indian Constitution and Judicairy", Form of Free Eterprise Publisher, Bombay, 1974
21. Mahesh, K.; Bhattarcharya, Biswajit ; "Judging The Judges", Gyan Pub. House, New Delhi, 1990
22. Nanda, S.P. ; "Detail of Landmark of Indian History -Part-2", Dominent Publishers & Distributors, 2004
23. Nath, Dr. Virendra; "Judicial Administration in India", Janki Prakashan, Patna, 1979
24. Pal, Jagar; "Judiciary-Legislature Interface", Serials Publications, New Delhi, 2008
25. Reddy; G.B. ; "Judicial Activism in India", Gogia Law Agency, Hyderabad, 2001
26. Ratnaparkhi, M.S. ; "The Grey areas in the Indian Political System", Atlantic Publishers & Distributors, New Delhi, 2009
27. Sharma, B.R.; "Constitutional Law and Judicial Activism", Ashish Pub. House, New Delhi, 1990
28. Sathe, S.P. "Judicial Activison in India", Oxford University Press, 2003
29. Sathe, S.P.; "Secularism : Law and the constitution in India with Special Reference to Judicial Activism", Faculty of Law, University of Toronto, 1999
30. Saxena, Smt. Usha; "Indian Legal History", New Buildings, Aminabad, Lakhnou, 1969

31. Strong, S.F., "Modern Political Constitution", National Printers works, 10-Dariaganj, Delhi, Published by Ganga Prasad & Sons, Banke Vilas, Agra, 1959
32. Sathe, S.P. ; "Secularism : Law and the Constitution in India With Special reference to judicial Activism", University to Toronto, 1999
33. Sorabjee, Soli J.; "Judicial Activism: The Indian Experience"
34. Siwach, J.R.; "Sinking Indian Judicial Pyramid", Chinta Prakashan, Pilani, 1986
35. Tank, B.M.I "Principal of Political Science", Shriram & Co., Agra, 1974
36. Tripathi, Shrish Mani;, The Human Face of the Supreme Court of India : Public Interest Litigation in The Apex Court", Ganga Kaveri Publication House, Varanasi, 1993
37. Verma, S.P., "Detail of Indian Judicial System need and Direction of Recommerce", Kanishka Publication and Distribution, 2004
38. Vizyanan, P.P.; "Detail of Reservation policy and judicial Activism", Gyan Books, 2005.

शोध लेख –

1. ''लिमिट ज्यूडिशियल एक्टिविज्म'', ए.के. माथुर, द इकॉनोमिक टाइम्स, 2008
2. ''ज्यूडिशियल एक्टिविज्म एण्ड टू इमरजेन्सी'', मुशर्रफ एक्सप्रेस इण्डिया, 04 नवम्बर 2008
3. ''9वीं अनुसूची प्रकरण'', ए.जी., नुरानी, दैनिक भास्कार, 09 मार्च 2007
4. ''हमे रोजगार चाहिए, सीलिंग नहीं'' रोनोजा ए सैन, दी टाईम्स ऑफ इण्डिया, 16 दिसम्बर 2006
5. ''राइट्स रिजण्ड'', पी.एस. कृष्ण, दी टाईम्स ऑफ इण्डिया, 12 दिसम्बर 2006
6. ''न्याय की अवमानना के प्रयास'', किरन बेदी, दी सण्डे इण्डियंस, 98 दिसम्बर 2006 |

7. ''न्यायपालिका को आंतकित करने की गीदड़ भभकियाँ'', अच्युतानन्द मिश्र, राष्ट्रीय सहारा, 12 अक्टूबर, 1996
8. ''न्याय सक्रियता का मतलब विधायका व कार्यपालिका के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं माना जाना चाहिए'', किरन बेदी, हिन्दुस्तान टाईम्स, 9 दिसम्बर, 2006

जर्नल्स :

- मूलप्रश्न; (सम्पादक) वेददान सुधीर/सुबोध गुप्ता, हंस प्रकाशन, नई दिल्ली,
- दि इण्डियन जर्नल ऑफ पॉल्टिकल साइन्स (सम्पादक) संजीव कुमार शर्मा, (आई.पी.एस.ए.) स्वास्तिक एन्टरप्राईजेज, मेरठ
- ज्ञान विमर्श (अर्द्धवार्षिक) (सम्पादक) डॉ. लीलाराम गुर्जर, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, द डायमण्ड प्रिन्टिग प्रेस, जयपुर
- राज्यशास्त्र समीक्षा–राजनीतिक विज्ञान विभाग, जयपुर
- समयान्तर, सम्पादक–पंकज विष्ट, 79ए, दिलशाह गार्डन, दिल्ली–95
- इण्डिया टूडे, इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ओपिनियन प्रा. लि., नई दिल्ली
- आउटलुक (वीकली मैग्जीन), हाघवे इन्वेस्टमेंट प्रा. लि., नई दिल्ली
- क्रानिकल, क्रानिकल पब्लिकेशन प्रा. लि., न्यू देहली